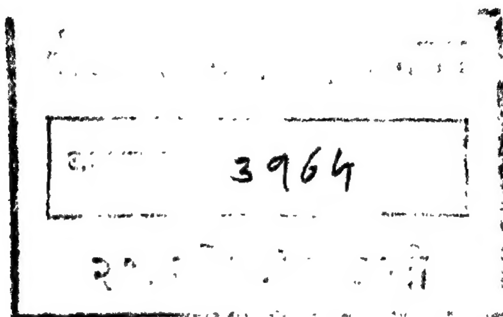
वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली



क्रम संख्या ३८६५४

काल नं० २२१ अग्रवा

खण्ड



महाकवि विद्यापतिकृत

कीर्तिलता

[अवहट्ट भाषाका काव्य]

(मूल तथा संजीवनी व्याख्या सहित)

व्याख्याकार

वासुदेव शरण अग्रवाल

काशी विश्वविद्यालय

साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी

प्रकाशक

साहित्य सदन

चिरगाँव, झाँसी



मूल्य १० रुपये

प्रथम संस्करण

१९६२



मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय

दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

अभिनव जयदेव

महाकवि पण्डित ठक्कुर

श्री विद्यापति

को

उनकी ही कृति अवहट्ट भाषा-काव्य 'कीर्तिलता'

की यह 'सञ्जीवनी' टीका

सादर समर्पित है।

आशा है इस प्रयत्नके द्वारा

'कीर्तिलता' के मूल पाठ और अर्थों तक

पहुँचने में पाठकों को सहायता मिलेगी।

विनीत

व्याख्याकार

PREFACE

The Kirtilata is a poem by Vidyapati, written in the early 15th century, in the Avahatta and Old-Maithili language.

It relates the story of Prince Kirti Simha, son of Raja Ganesa Rai of Mithila, who was killed by a Muslim invader named Aslan in 1372. Kirti Simha was then quite young but when he grew up he appealed for help to Ibrahim Shah of Jaunpur, an emperor of Sharqi dynasty. Ibrahim granted his request and marched with his army against Aslan who was defeated and killed and Kirti Simha was reinstated. Kirti Simha took a leading part in the campaign.

This is the plot of the poem which Vidyapati has described in a vigorous style with many motifs of a standard Kavya. His description of the city of Jaunpur, Turkman soldiers, royal palace, army on the march and actual battle are quite vivid and full of cultural information which throws light on the history of several institutions of that period.

The unique value of the Kirtilata lies in its presenting a substantial morsel of Avahatta language which had left behind the real Prakrit and Apabhramsa idioms and was shaking hands with Old-Maithili. But the poet has drawn extensively on Prakrit and Apabhramsa words, which

were also current in Avahatta. In the prose portion there is a strong element of Sanskrit words. The poet has also freely used Arabaic and Persian words relating to administration and army, and culture as they had been influenced by the Muslims.

The text of the Kirtilata has been edited thrice previosly but in a very corrupt form and with meanings which may be called atrocious.

It is being critically edited here with new manuscript material and with a new Hindi commentary named Sanjivani, together with annotations on all words giving their historical meanings and etymology also. It is hoped that this will rehabilitate the Kirtilata in the world of Hindi scholarship.

Banaras Hindu University
29. 6. 1963.

V. S. Agrawala

प्राक्कथन

विद्यापतिकृत कीर्तिलता हिन्दी साहित्यका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी रचना १५वीं शतीके आरंभमें हुई। श्री हरप्रसाद शास्त्री इसकी एक प्रतिलिपि नेपाल दरबारकी ताड़पत्रीय प्रतिसे उतारकर लाए थे। उसके आधारपर उन्होंने बंगला लिपिमें इसका सानुवाद संस्करण छापा था। पर वह अनुवाद बहुत ही त्रुटिपूर्ण था। उसके बाद श्री बाबूराम सक्सेनाने इसका एक देवनागरी संस्करण अनुवादके साथ प्रकाशित किया। यह अनुवाद भी सैकड़ों जगह भूलोंसे भरा हुआ है। इसका तीसरा मुद्रण श्री शिवप्रसादसिंहने टीका-टिप्पणी सहित प्रकाशित किया। इसमें मूल ग्रंथका पाठ कुछ अंशमें सुधारा गया है, किन्तु अनुवादकी दिशामें कोई नई प्रगति नहीं हो सकी और बाबूरामजीके संस्करणकी अनेक भूलें इसमें भी चली आई हैं। मल्लिनाथके शब्दोंमें कहा जाय तो कीर्तिलता अभीतक दुर्व्याख्याओंके विषसे मूच्छित पड़ी रही है। इसीके उद्धारका प्रयत्न इस 'संजीवनी' टीका द्वारा किया गया है।

इस प्रसंगमें जायसीकृत 'पदमावत' का उदाहरण देना समीचीन होगा। अनेक स्थलोंमें उसके पाठ भ्रष्ट थे और अर्थकी भूलें तो बहुत ही अधिक थी, जिनका परिमार्जन हमने अपनी संजीवनी टीकामें पहली बार किया। सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अर्थोंके विषयमें अनेक टिप्पणियाँ भी उस टीकामें प्रथम बार लिखी गई। साहित्यिक जगत्‌में उसका स्वागत हुआ और अब उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ है। उसी शैलीपर मूल पाठ और अर्थके संशोधन मुख्य लक्ष्य रखकर 'कीर्तिलता'का भी यह संस्करण तैयार किया गया है। इसकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. इसमें पहली बार यह बात दिखाई गई है कि 'कीर्तिलता' की भाषा अवहट्ट थी और अवहट्टकी शब्दावलीके अनुसंधानसे ही उसके शुद्ध अर्थ

तक पहुँचा जा सकता है। अतएव प्राकृत, अपभ्रंश और अवहट्ट भाषाओंके स्तरोंकी छान-बीन करके विद्यापतिके मूल अर्थोंका उद्घाटन इस टीकामें आदिसे अन्त तक किया गया है। पहले अनुवादकोंकी वास्तविक भूल यही थी कि उन्होंने 'कीर्तिलता'की अवहट्ट भाषापर अपनी टीकाओंमें उचित ध्यान नहीं दिया।

२. 'कीर्तिलता'के पाठ संशोधनके विषयमें नई प्रतियोंकी सामग्रीके आधार पर जैसा प्रयत्न इस संस्करणमें किया गया है वैसा पहले नहीं हुआ। कविके मूल अर्थ तक पहुँचनेके लिए उसके मूल पाठका उद्धार करना अनिवार्यतः आवश्यक है। इस दृष्टिसे इस संस्करणमें प्रायः प्रत्येक शब्दके विषयमें छान-बीनकी गई है।

३. विद्यापति बहुश्रुत एवं चित्रग्राही कवि थे। उनकी भाषामें और उनके काव्यमें अत्यधिक सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। उसके उद्घाटनका पर्याप्त प्रयत्न पहलेकी टीकाओंमें नहीं किया गया। इस संस्करणमें शब्दोंके सम्बन्धमें जो टिप्पणियाँ दी गई हैं उनका अत्यधिक महत्त्व है। न केवल भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे बल्कि सांस्कृतिक व्याख्याकी दृष्टिसे भी विद्यापतिका यह ग्रन्थ प्रथम बार ही अपना वह उदात्त स्वरूप प्राप्त कर सका है, जो हिन्दीके एक समर्थ कविकी रचना होनेके नाते इसे स्वभावतः प्राप्त था, पर जो अब तक तिरोहित था। इस टीका द्वारा विद्यापतिकी सांस्कृतिक शब्दावली का द्वार उन्मुक्त हो जानेसे आदिकालीन हिन्दीके अन्य ग्रन्थोंका भी अध्ययन करनेमें पाठकोंको नया प्रकाश प्राप्त होगा। इस दृष्टिसे टीकाके अन्तमें समस्त सांस्कृतिक और भाषा शास्त्रीय शब्दोंकी पूरी अनुक्रमणी व्युत्पत्ति और अर्थके साथ जोड़ दी गई है।

४. विद्यापतिके युगमे दो सांस्कृतिक धाराएँ चली आती थीं। एक राजपूत मध्यकालकी हिन्दू परम्परा और दूसरी तुर्क–अफगानकालकी इस्लामी परम्परा। विद्यापतिने अपने युगकी वास्तविक स्थितिको मान्यता देते हुए

दोनोंको स्वीकार किया था। 'कीर्तिलता' यद्यपि छोटा ही काव्य है, किन्तु कविने भाषाके असामान्य अधिकार द्वारा दोनों धाराओंकी शब्दावलीको अपने ग्रंथमें भर दिया है। इन दोनोंका पृथक्-पृथक् सांस्कृतिक विवेचन इस संस्करणकी विशेषता है। इस्लामी शासन और रहन-सहनके अनेक शब्द पहली ही बार यहाँ स्पष्ट पहचाने गए हैं।

५. शब्दोंपर टिप्पणी लिखते हुए यथासम्भव प्राचीन हिन्दी, अपभ्रंश, प्राचीन गुजराती आदि भाषाके काव्योंसे भी बहुमूल्य तुलनात्मक सामग्रीका संग्रह किया गया है। इसी शैलीका अवलम्बन हमने पदमावतकी 'संजीवनी' टीकामें भी किया था और उसीको यहाँ आगे बढ़ाया गया है।

६. कीर्तिलताकी एक संस्कृत टीका १६१५ ई० से पूर्व सुदूर स्तंभतीर्थ या खंभातमें लिखी गई थी। सौभाग्यसे बीकानेर नरेशकी कृपासे इसकी मूल प्रति एक वर्षके लिए हमें प्राप्त हो सकी। यहाँ परिशिष्टमें वह भी मुद्रितकी जा रही है। इसी टीकाकी एक प्रतिलिपि श्री अगरचन्दजी नाहटाने भी अपने लिए तैयार कराई थी जो उन्होंने कृपाकर हमारे लिए सुलभ कर दी। उसके लिए हम उनके आभारी हैं। श्री नाहटाजीने 'कीर्तिलता'की हिन्दी टीका भी भेजी थी, किन्तु वह भी पहली टीकाओं जैसी ही थी और उससे अर्थोंके स्पष्टीकरणमें कोई सहायता नहीं मिल सकी।

आशा है इस संस्करणके द्वारा 'कीर्तिलता' हिन्दी साहित्यमें अपना उचित स्थान प्राप्तकर सकेगी। यह एक महाकविकी विशिष्ट रचना है। हिन्दीके आदिकालीन साहित्यका सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन 'कीर्तिलता'की सामग्रीके विना संभव नहीं। इस उत्तम ग्रंथसे विद्यापतिके काव्यकौशलके विषयमें नवीन आस्था और दृष्टि प्राप्त होनेके साथ ही हिन्दीके काव्य रसिक पाठकोंके आनन्दकी भी वृद्धि होगी।

—*वासुदेवशरण*
काशी विश्वविद्यालय

दिसम्बर १९६२

विषय-सूची

कृतज्ञता-ज्ञापन

पुनश्च, कीर्तिलताकी यह संजीवनी व्याख्या पूरी करनेमें मुझे पाँच वर्ष लग गये। सन् १९५८ की शीत ऋतुमें मैंने अपनी ज्येष्ठ पुत्रवधू सौभाग्यवती विद्या एम्० ए० (धर्मपत्नी श्री स्कन्दकुमार) को इसका प्रारूप लिखाया था। उसने हिन्दी और अंगरेजीमें एम्० ए० किया है। बड़े चावसे कई-कई घण्टे बैठकर, मैं जैसा बोलता गया, उसने सब लिख लिया। मैं उसके परिश्रमसे प्रसन्न होकर उसे हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ। उसके पिता श्री कन्हैयालाल सांघी, स्व० महाराज गङ्गा सिंहके यहाँ लगभग चालीस वर्षों तक कई ऊंचे पदोंपर सेवा करते रहे। जब मुझे अनूप सिंह लाइब्रेरीमें सुरक्षित कीर्तिलताकी सटीक प्रतिका पता लगा, तो श्री सांघीजीने ही वर्तमान महाराजा साहबसे कहकर उसे एक वर्षके लिए मुझे प्राप्त करा दिया। आज श्री सांघीजी नहीं रहे, पर इसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ। अपने पुस्तकालयसे मूल पुस्तक भेज देनेके कारण मैं महाराजा साहबका भी हृदयसे ऋणी हूँ। उसी प्रतिसे उतारी हुई प्रतिलिपि और अपनी टीका एवं एक फोटो प्रति भी श्री अगरचन्द नाहटाने अपनी स्वाभाविक उदारताके अनुसार मेरे लिए सुलभ कर दी, इसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ। उनकी हिन्दी टीका तो मेरे लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हुई, पर जब मूल प्रति लौटा दी गयी तब फोटो प्रतिने संजीवनी टीकाके संशोधन और मुद्रणके समय बहुत काम दिया। श्री नाहटाजी हिन्दी जगत्में शोधकर्त्ताओंके सहज मित्र हैं। वे धन्यवाद नहीं चाहते, काम चाहते हैं। अतएव मुझे आशा है कि कीर्तिलताके संस्करणको इस रूपमें पूरा हुआ देखकर वे हृदयसे प्रसन्न होंगे। मेरा यह भी सौभाग्य हुआ कि 'पदमावत'की 'संजीवनी' के समान 'कीर्तिलता'की 'संजीवनी' को भी 'साहित्य सदन' जैसा प्रकाशक मिल गया, जिसकी मूलस्थापना श्री मैथिलीशरण गुप्त जैसे

महान् व्यक्तिकी प्रेरणा है। अतएव अपने प्रकाशकोंके प्रति भी मेरा सौमनस्य भाव है। मुद्रणका निश्चय हो जानेके बाद, मेरे पुत्र आयुष्मान् पृथिवीकुमारने बहुत परिश्रमसे सम्पूर्ण ग्रन्थको 'प्रेस कापी' तैयार की और टीकाकी उपयोगिता बढ़ानेके लिए कई सुझाव भी दिए। उसी अवस्थामें मुझे नेत्र कष्ट होगया जिसके कारण पृथिवीने ही प्रूफ भी देखे और भूमिका की सामग्री भी तैयार की। ईश्वर पृथिवीको चिरायु करें। मुझे उससे और भी आशाएँ हैं। मैं चाहता हूँ कि मेरा विद्यादाय उसे मिले। भूमिकामें व्याकरण और छंद सम्बन्धी सामग्रीसंग्रहका कार्य मेरे सहायक रामजी पाण्डेय ने मेरे निर्देशनके अनुसार किया है, उसके लिए भी मैं आभार मानता हूँ। श्री बी० के० सिंह (प्राध्यापक, रणमतसिंह कालेज, रीवाँ) ने शरकी वंशके विषयमें कुछ ऐतिहासिक सूचनाएँ भेजकर मुझे उपकृत किया। वे जौनपुरके इतिहासपर शोध कार्य कर रहे हैं और कीर्तिलता की सामग्रीके सम्बन्धमें मुझसे मिलने आये थे। श्री रमानाथ झा (दरभंगा राज पुस्तकालय) ने भी मेरी जिज्ञासाके उत्तरमें कई पाठान्तर लिख भेजे थे, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मुझे हर्ष है कि मूलग्रंथ छप जाने पर मुझे बम्बईकी 'रायल एशियाटिक सुसाइटी' में सुरक्षित कीर्तिलताकी दो हस्त लिखित प्रतियोंका पता लगा। उनके समस्त पाठान्तर मेरे मित्र और शिष्य श्री परमेश्वरीलाल गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी० ने अविलम्ब लिख भेजे। मैं उनके उस निर्व्याज परिश्रमसे हार्दिक सुप्रसन्नताका अनुभव करता हूँ। मेरे मित्र और बन्धु श्रीमोतीचन्द्रजीने भी कीर्तिलता के कई क्लिष्ट शब्दोंके अर्थ बताकर मेरी सहायता की। जैसे, चडुआ = प्रा० चुडुक्क = खाल उन्हींकी कृपासे मैं शुद्ध लिख सका। मुझे पता चला कि बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् और राजपुस्तकालय दरभंगामें एवं श्री डॉ० उमेश मिश्रके पास 'कीर्तिलता'की हस्तलिखित सामग्री विद्यमान है। मेरा यह सौभाग्य नहीं हो सका कि उनसे लाभ उठा सकूँ। अतएव मुझे आशा करनी चाहिए कि मूल पाठके सम्बन्धमें आगेके संस्करण कुछ

और अच्छे बन सकेंगे। कीर्तिलताके कुछ छन्दोंके विषयमें मैंने अपने मित्र श्री एच० डी० वेलणकरसे पत्र व्यवहारकर उनके सुझावोंसे लाभ उठाया। अतएव मैं उनका आभारी हूँ। व्याकरण और छन्दोंके सम्बन्धमें श्रीशिवप्रसाद सिंहका संस्करण भी उपयोगी सिद्ध हुआ जिसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ। रड्डा छन्दके विवेचनके लिए श्री एच० डी० भायाणी लिखित 'सन्देश रासक'की भूमिकासे मैं लाभान्वित हुआ। अन्त में मैं सन्मति मुद्रणालयके कार्य संचालक श्रीबाबूलाल फागुल्ल और श्रीगोकुलचन्द जैनका अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने उत्साहके साथ पुस्तकका मुद्रण मेरी इच्छाके अनुकूल समाप्त किया। मेरी धारणा है कि महाकवि विद्यापतिकी यह श्रेष्ठ कृति प्राचीन हिन्दी साहित्यके रसलोभी पाठकोंको मनोयोगपूर्वक पढ़नी चाहिए। इसमें साहित्य और संस्कृतिके रूप समान रूपसे उभरे हैं। विद्यापतिने स्वयं अपनी भारतीको प्रसिद्धिके लिए ईश्वरसे प्रार्थना की थी। मेरी भी प्रार्थना है कि इस संजीवनी टीकाके द्वारा उस वाणीका समुद्धार हो—

विद्यापतिकवेर्वाणी दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।
सैषा संजीवनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति॥

काशी विश्वविद्यालय
१८–६–१९६२

वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री अनूपसिंह पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित की तलता (संवत् १६७२) की हस्तलिखित प्रति का पहला पृष्ठ

श्री अनूपसिंह पुस्तकालय बीकानेर में सुरक्षित कीर्तिलता (संवत् १६७२) की हस्तलिखित प्रति का अन्तिम पृष्ठ

भूमिका

१. विद्यापति का जीवन-चरित

विद्यापति हिन्दी साहित्यके प्रसिद्ध महाकवि हैं। वे १५ वीं शतीके आरम्भमें मिथिलाके राजा कीर्तिसिंहके राजकवि थे। उन्होंने गोस्वामीजी से लगभग १५० वर्ष पूर्व काव्य रचना की। वे संस्कृत, अवहट्ट और प्राचीन मैथिलीके महान् पण्डित थे। इन तीनों भाषाओंमें उन्होंने ग्रन्थ रचे।

वे दरभंगा जिलेके बिसपी ग्रामके निवासी थे। एक ताम्रपत्रके अनुसार राजा शिवसिंहने उन्हें 'अभिनव जयदेव'की पदवीके साथ यह ग्राम दानमें दे दिया था। विद्यापति गणपति ठक्कुरके[2] पुत्र थे जो 'कीर्तिलता' के नायक कीर्तिसिंहके पिता ओइनीवंशके राजा गणेशरायके सभापण्डित थे। विद्यापतिके गुरुका नाम हरिमिश्र था। मिथिलाके प्रसिद्ध विद्वान् पक्षधर मिश्र जो हरिमिश्रके भतीजे थे, विद्यापतिके सहपाठी थे।

१-२. स्वस्तिश्रीगजरथेत्यादि समस्त प्रक्रिया विराजमान श्रीमद्रामेश्वरीश्वरलब्ध प्रसादभवानी भव भक्ति भावना परायण—रूपनारायण महाराजाधिराज—श्रीमच्छिवसिंह देव पादाः समरविजयिनो जरैलतप्पायां बिसपी ग्रामवास्तव्य सकल लोकान् भूकर्षकांश्च समादिशन्ति ज्ञातमस्तु भवताम्। ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रक्रियाभिनव जयदेव—महाराज पण्डित ठक्कुर – श्री विद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽत ग्रामकस्था यूयमेतेषां वचनकरी भूकर्षं कादिकर्म्म करिष्यथेति लक्ष्मणसेन सम्वत् २९३ श्रावण सुदी ७ गुरौ।

विद्यापतिके जीवनका परिचय अधिक प्राप्त नहीं है, किन्तु उनके ग्रन्थों और पदोंसे ज्ञात होता है कि ओइनीवंशके कई राजाओंके साथ उनका सम्बन्ध था। अनुश्रुति है कि ये अपने पिताके साथ राजा गणेश्वर की राजसभामें भी जाया करते थे। राजा गणेशराय की मृत्यु २५२ लक्ष्मण संवत्में हुई, ऐसा कीर्तिलतामें ही उल्लेख आया है।

लक्खणसेन नरेस लिहिअ जे पक्ख पंच वे।
तम्महु मासहि पढम पक्ख पंचमी कहिअ जे।

(कीर्ति०, २। ४–५)

लक्ष्मण सेन संवत्का आरम्भ कब हुआ इस विषयमें मतभेद है। कोलहार्नने १११९ ई० में उसका आरम्भ माना था। यहाँ उसीको स्वीकार किया गया है। तदनुसार २५२ लक्ष्मणसेन संवत् १३७१ ई० के बराबर होता है। उस समय जब गणेश रायकी मृत्यु हुई, तब विद्यापतिकी उम्र थोड़ी ही थी। अनुमान किया जाता है कि वे १०-१२ वर्षके रहे होंगे। इस आधारपर विद्यापतिका जन्म १३६० ई० के लगभग माना जा सकता है। उस समय कीर्तिसिंहकी अवस्था भी छोटी थी। उन्होंने जौनपुरके सम्राट् इबराहीम शाहकी सहायतासे १४०३ ई० में मिथिलाका राज्य पुनः प्राप्त किया। उस समय विद्यापतिका वय ४२ वर्षके लगभग रहा होगा। यह विद्यापतिके व्यक्तित्वके विकासकी पूर्वावस्था कही जा सकती है। वे जन्मजात प्रतिभाशाली कवि थे, किन्तु यह निश्चित ज्ञात नहीं होता कि उस अवस्था तक उन्होंने क्या ग्रन्थ-रचना की ? कीर्तिसिंहसे उनका सम्बन्ध तो गणेश्वरके समयसे ही चला आता था और वह सम्बन्ध कीर्तिसिंहकी राज्यापहृत अवस्थामें भी बना रहा। किन्तु जब कीर्तिसिंह राजगद्दीपर बैठे तब विद्यापतिको अपनी प्रतिभाके अनुसार काव्य रचनाका अवसर प्राप्त हुआ। उसके पहले मिथिला में भी राजविप्लव या अराजकताकी दशा थी, जिसका उन्होंने स्वयं द्रावक वर्णन किया है (कीर्ति०,

२ । १०–१६) । समाजकी व्यवस्था अस्तव्यस्त और जनता भयसे आक्रान्त हो गयी थी । साहित्यकार कवि और पण्डित उस युगमें प्रायः राज्याश्रय पर निर्भर रहते थे । उसके टूट जानेसे मिथिलामें विद्वानोंकी जो दशा हुई, उसका स्वयं विद्यापतिने ही मार्मिक उल्लेख किया है—

अक्खर बुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारिभउँ ।
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ ।
(कीर्ति०, २ । १४–१५)

१३७१ ई० से १४०२ ई० तक लगभग ३० वर्षोंमें, जो विद्यापतिके यौवन और उठानका समय था, यदि उन्होंने कुछ लिखा भी हो तो निश्चित ज्ञात नहीं । उनकी 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' जो अवहट्ट भाषामें लिखी गयीं, वे कीर्तिसिंहके समयकी हैं । पहलीमें उसके युद्धका और दूसरीमें उसके अन्तःपुर-जीवनका वर्णन है । पदावलीकी उपलब्ध भणिताओंसे सूचित होता है कि उनमें से अधिकांश राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवीके कालमें लिखी गयीं । इनके अतिरिक्त देवसिंह, रुद्रसिंह, अर्जुनसिंह और अमरसिंहकी भणिताओंके भी पद हैं । विद्यापति बहुश्रुत और प्रतिभाशाली कवि थे । राजदरबारोंके वृत्त और लोक-जीवनके विविध क्षेत्रोंका उन्हें बहुत अच्छा परिचय था । यह उनकी रचनाओंसे सुविदित है । उन्होंने उत्तम लेखकके रूपमें सम्भवतः राधाकृष्णकी भक्तिसे प्रेरित होकर आत्मतुष्टिके लिए भागवतकी एक प्रति अपने हाथसे लिखी थी । उसकी पुष्पिकामें ३०९ लक्ष्मणसेन संवत् (१४२८ ई०) दिया हुआ है । यह पोथी इस समय दरभंगा राजपुस्तकालयमें सुरक्षित है । कविकी भक्ति शिव-पार्वती और राधाकृष्ण दोनोंके लिए थी, जैसा कि उनके पदोंसे सूचित होता है । शिव-भक्तिसे प्रेरित होकर उन्होंने 'शैवसर्वस्वसार' एवं 'शैवसर्वस्वसारप्रमाणभूतपुराणसंग्रह' आदि ग्रन्थ लिखे । दुर्गाभक्तितरंगिणी नामक ग्रन्थमें शरद् ऋतुकी दुर्गापूजाके पूरे विधानका

वर्णन है, जो उन्होंने राजा भैरवसिंहकी प्रेरणासे संकलित किया था। कहते हैं कि विद्यापतिको मृत्युके बाद उस स्थान (नारायणीक्षेत्र, बाजितपुर) पर विद्यापतिनाथ शिवके मन्दिरको स्थापना की गयी। किन्तु कविके हृदयकी भावधाराका सर्वश्रेष्ठ रूप उनके राधाकृष्ण विषयक पदोंमें है। वे ही विद्यापतिके कवित्व-यशके मुख्य आधार हैं। ऐसे उल्लास और प्रवाहसे भरे हुए पद अन्यत्र दुर्लभ ही हैं। सत्य ही इन गीतोंकी कोमलकान्तपदावली जयदेवके 'गीतगोविन्दके' समकक्ष है। यह बात इनके युगमें ही जनताके मनमें घर कर चुकी थी जिससे प्रेरित होकर राजा शिवसिंहने विद्यापतिको 'अभिनव जयदेव' की उपाधिसे विभूषित किया था, जैसा बिसपीके ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है।

महाराज शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी विद्यापतिके बहुत स्नेही आश्रयदाता थे। शिवसिंहके ही समयमें कविको पद-रचना शक्तिका चरम विकास हुआ। शिवसिंहके राज्यारोहणके विषयमें विद्यापतिका यह पद है—

अनल रन्ध्र कर लक्खन नरवइ सक समुद्द कर अगिनि ससी।
चैत कारि छठि जेठा मिलिअओ वारवेहप्पह जाउलसी॥
विज्जावइ कविवर एहु गावइ मानव मन आनन्द भएओ।
सिंहासन सिवसिंह वइट्ठो उच्छवे वैरस विसरि गएओ॥

अनुश्रुति है कि जब शिवसिंह २९६ लक्ष्मणसेन संवत् (१४१५ ई०) में यवनोंके आक्रमणसे राज्यच्युत हो गये तो विद्यापति कुछ समयके लिए शिवसिंहके मित्र द्रोणवारवंशीय राजा पुरादित्यके आश्रयमें जनकपुरके समीप राजबनौलीमें आकर रहे। वहीं उन्होंने २९९ लक्ष्मणसेन संवत (१४१८ ई०) में 'लिखनावली' पुस्तककी रचना की जिसमें शासनिक और निजी पत्रलेखनके नमूने हैं। यहीं रहते हुए लक्ष्मणसेन संवत् ३०९ में विद्यापतिने अपने हाथसे भागवतकी एक प्रतिलिपि समाप्त की। वह इस

समय दरभंगा राजकीय पुस्तकालयमें सुरक्षित है।

१४१८ ई० के पश्चात्का समय विद्यापतिके लिए बहुत कष्टका था। मिथिलाके राज्यवंशकी स्थिति डाँवाडोल थी। शिवसिंहके छोटे भाई पद्म सिंह, उनकी रानी विश्वासदेवी, भवसिंहकी तृतीय स्त्रीके पुत्र हरिसिंह, नरसिंहदेव दर्पनारायण आदिने बहुत कम समयतक राज्य किया। इन लोगोंके समय तक विद्यापतिने शैवसर्वस्वसार, शैवसर्वस्वसारप्रमाणभूतसंग्रह, गंगावाक्यावली, विभागसार, दानवाक्यावली आदि ग्रन्थ लिखे।

नरसिंहदेवके ज्येष्ठपुत्र धीरसिंहके साथ विद्यापतिका सम्बन्ध बना रहा। इतना निश्चित है कि लक्ष्मण सं० ३२१, अर्थात् १४४० ईसवीमें धीरसिंह राज्य करते थे। इस वर्षकी लिखी 'सेतुदर्पणी' टीकाकी एक हस्तलिपि मिलती है। 'कर्णपर्व' की एक पाण्डुलिपिकी साक्षीपर लक्ष्मण सं० ३२७ तक धीरसिंह ही सिंहासनारूढ़ थे, यह सप्रमाण है। धीरसिंहके छोटे भाई भैरवसिंह उनके पश्चात् राजा हुए। विद्यापतिने इनका 'दुर्गा-भक्तितरंगिणी' में उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' लक्ष्मण संवत् ३२७ अर्थात् १४४६ ईसवीके बाद ही पूरी हुई होगी। भैरवसिंहके पश्चात् विद्यापतिके वर्तमान होनेकी निश्चित पुष्टि नहीं होती। विद्यापतिने एक पदमें लिखा है कि मैंने ३२ वर्षके बाद सपनेमें शिवसिंहको देखा—

सपने देखल हम सिव सिंघ भूप। बत्तीस बरसपर सामर रूप॥

राजा शिवसिंहका तिरोधान लक्ष्मणसेन संवत् २९६, अर्थात् १४१५ ई० में हुआ था, ऐसा विदित है। अतः यहाँ यह माना जा सकता है कि विद्यापति उसके बत्तीस वर्ष बाद, अर्थात् १४४७ ई० में यह पद लिख रहे थे। इसी पदमें आगे विद्यापतिने अपनी वृद्धावस्थाका करुण चित्र खींचा है।

बहुत देखल गुरुजन प्राचीन। अब भेलहुँ हम आयुविहीन ॥
सिमटु सिमटु निअ लोचन नीर। ककरहु काल न राखथि थीर ॥
विद्यापति सुगतिक प्रस्ताव। त्यागके करुना रसक सुभाव ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति इसके बाद अधिक दिनोंतक जीवित नहीं रहे होंगे। शिवनन्दन ठाकुरके स्वप्नफल-विवेचनके अनुसार स्वप्नके आठ महीनेके बाद विद्यापति मृत्युको प्राप्त हुए।[1]

श्री शिवप्रसाद सिंहने एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रमाणकी ओर ध्यान दिलाया है। इसके अनुसार लक्खनसेनि कविने इबराहीम शाहके जौनपुरमें संवत् १४८१, अर्थात् १४२४ ई० में शासन करनेका वर्णन किया है –

बादशाह जे वीराहिमसाही। राज करइ महि मंडल माही ॥
आपुन महाबली पहुमी धावै। जउनपुर मँह छत्र चलावै ॥
संवत चौदह सइ एक्कासी। लक्खनसेनि कवि कथा पुगासी[2] ॥

स्पष्टरूपसे यह इबराहीमशाह कीर्तिलताका इबराहीमशाह है, जिसका १४२४ ई० तक जौनपुरमें राज्य करना युक्ति संगत है। यही कवि लक्खन सेनि अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियोंका उल्लेख यों देता है—

जैदेव चले स्वर्ग की बाटा। और गए घाघ सुरपति भाटा ॥
नगर नरिन्द्र जे गए उनारी। विद्यापति कइ गए लाचारी[2] ॥

यहाँ जयदेव और घाघके स्वर्गारूढ़ हो जानेका स्पष्ट उल्लेख है। यह भी सूचित होता है कि ओइनीवार वंशके जो राजा थे उनका भी राज्य मिथिलासे कुछ समयके लिए लक्खनसेन कविके पूर्व समाप्त हो

१. महाकवि विद्यापति, पृ० ३६-३९।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, द्वि० ख० पृ० १७, शिवप्रसाद सिंह।

चुका था (उनारो = ओइनोबार) एवं उनके साथ ही नचारी काव्यके रचयिता विद्यापति भी नगरको छोड़कर अन्यत्र चले गये थे, जिसकी अन्य प्रमाणोंसे भी पुष्टि होती है। शिवसिंहके राज्यच्युत होनेपर विद्यापतिके जीवनकी स्थिर-स्थिति समाप्त हो चुकी थी। यह उनकी शोचनीय दशा थी जब कि उन्हें अपने राज्याश्रयसे वंचित होकर राजा पुरादित्यके यहाँ जाना पड़ा।

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि विद्यापति दीर्घजीवी थे और हम उनके समयकी अवधि लगभग १३६० ई० से १४५० ई० तक मान सकते हैं। इस ९० वर्षकी आयुमें विद्यापतिको राजवंशकी कई पीढ़ियोंका उत्थान-पतन देखना पड़ा।

कीर्तिलताके ऐतिहासिक कथानकमें इबराहीम शाहका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हींकी सहायतासे कीर्तिसिंहने अपना खोया हुआ मिथिलाका राज्य फिरसे प्राप्त किया। विद्यापतिने इबराहीम शाहको बादशाह लिखा है और उनका वैसा ही गौरवपूर्ण वर्णन भी किया है। श्री डॉ० सुभद्र झाने बहुत तूल देकर यह प्रश्न उठाया है कि इबराहीम शाह जौनपुरके बादशाह नहीं दिल्लीके 'कोई' अधिकारी थे। ढूढने पर भी उन्हें १३७० के आस-पास दिल्लीमें इबराहीम शाह नामक बादशाह नहीं मिला। इसलिए मजबूर होकर बादशाह फीरोजशाह तुगलक (१३५१-१३८८) के किसी इबराहीम नामक सेनापतिकी कल्पना की। श्री सुभद्र झाके द्वारा ऐसी खींचातान करनेका मुख्य कारण यह था कि उन्हें कीर्तिलतामें जौनपुरका उल्लेख नहीं दिखाई पड़ा। दूसरी आपत्ति उन्होंने यह समझी कि गणेशरायकी मृत्युके सन् १३७१ ई० और जौनपुरके प्रसिद्ध इबराहीम शाहके तिरहुतकी कूचके सन् १४०२ में बत्तीस वर्षोंका लम्बा व्यवधान पड़ जाता है। श्री सुभद्र झाके इस मतमें कोई सार नहीं है। पहले तो कीर्तिलताकी सब प्रतियोंमें नगरका नाम 'जोणापुर' या 'जोनपुर' दिया हुआ है (२।७७)। उसे बदलकर 'जोइनीपुर' करना निराधार है।

दूसरे 'जञोन नीर पखारिया' का अर्थ सुभद्र झाने जमुनाके जलसे प्रक्षालित किया है। किन्तु यह अनावश्यक है क्योंकि 'जञोन' का सीधा अर्थ 'जो' है, जैसे 'कओण' का अर्थ 'कौन', 'क्या'। तीसरे कीर्तिलतामें ही अन्यत्र इबराहीम बादशाहकी राजधानीको 'दिग आखण्डल पट्टन' (कीर्ति०, ४।१२१) है जिसका सुनिश्चित अर्थ इन्द्रकी पूर्वी दिशाका नगर है। जौनपुरको उस युगमें 'मशरिक़' कहते थे और वहाँका राजवंश शरकी कहलाता था। मशरिक अरबी शब्द है जिसका अर्थ 'पूर्व' है। आश्चर्य है श्री बाबूराम सक्सेना, सुभद्र झा, शिवप्रसाद सिंह किसीका भी ध्यान विद्यापतिके इस प्रमाणके ठीक अर्थकी ओर नहीं गया। सन् १४४२ में इबराहीम शाहके जौनपुरमें राज्य करनेका उल्लेख लख्खनसेनि कविने भी किया है। अतएव यह निश्चित है कि इबराहीम बादशाह शरकी वंशके सम्राट् जौनपुरके ही थे।

३२ वर्षके व्यवधानकी बात उलझन पैदा करनेके बजाय ऐतिहासिक घटनाओंके साथ संगत बैठती है। जैसा ऊपर लिखा है, अपने पिताकी मृत्युके समय कीर्तिसिंहकी उम्र छोटी थी। अतएव इतने वर्षोंके बाद ही वे असलानसे बदला लेनेमें समर्थ हो सके। जौनपुरके शरकी वंशीय इबराहीम शाहने बिहार पर आक्रमण किया था, इसका भी इतिहास ग्रन्थोंमें प्रमाण है। मुसलमानी बादशाहोंने बिहार और बंगालको जीतनेके जो प्रयास किये उनका वर्णन कुछ समय पूर्व प्रकाशित बिहारके इतिहासमें इस प्रकार आया है—

१३९४ ई० के लगभग मुहम्मद तुगलक़ बादशाहने मलिक सखरख्वाजा जहाँ नामक सरदारको कन्नौजसे बिहार तकके प्रदेश पर अधिकार करनेके लिए भेजा। उसने तिरहुत, अर्थात् उत्तरी बिहार और दक्षिणी बिहारपर कब्जा कर लिया। बीकानेरके बोधराज नामक लेखकने भी ख्वाजा सखरके इस आक्रमणका उल्लेख किया है। ख्वाजाजहाँकी मृत्यु १३९९ ई० में हुई और तब दक्षिणी बिहारके महाराज गजराजके छोटे भाई

जगदेवने फिर अपना अधिकार प्रतिष्ठित किया। उसके अवाबमें जौनपुरके शरकी वंशके सबसे बड़े शासक इबराहीम शाहने बिहारपर आक्रमण करके १४१६ ई० में उसे अपने अधिकारमें कर लिया और वहांके राजाओंको पदच्युत कर दिया (Bihar through the Ages, पृ० ३९२)। इसी विषयमें हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ़ दी इण्डियन पीपुल, भाग ६, सुलतानी युग में इस प्रकार लिखा है —

इबराहीमने १४ वर्ष (१४०७-१४२१) जौनपुरपर शासन करते हुए कला और साहित्यके संरक्षणमें व्यतीत किए। इसी बीच उसने बंगाल पर हमला करनेका निश्चय किया, क्योंकि वहांसे शिकायतें आयी थीं कि हिन्दू राजा गणेशने मुसलमानोंको सताया था। कुछ लोगोंका कहना है इस कशमकशमें गणेशने नीचा देखा और दूसरोंका कहना है कि इबराहीम शाहने (पृ० १८८)।

जौनपुरके शरकी बादशाहोंका तिथिक्रम इस प्रकार है—

ख्वाजा जहाँ—१३९४–१३९९

मबारक शाह—१३९९–१४०२

इबराहीम शाह—१४०२–१४३६

महमूद शाह—१४३६–१४५७

इबराहीम शाहकी तिथियोंके बारेमें कई मत हैं।

२. विद्यापति की रचनाएँ

भाषाकी दृष्टिसे विद्यापतिकी रचनाएँ तीन प्रकारकी है – (१) अवहट्टमें, (२) मैथिलीमें, (३) संस्कृतमें। वास्तवमें ये तीन प्रकारकी शैलियोंकी द्योतक हैं, अपने युगकी तीन साहित्य-धाराओंकी प्रतिनिधि हैं, जिनको स्वीकार करते हुए विद्यापतिने काव्य रचना की।

(१.)भूपरिक्रमा—यह राजा देवसिंहकी आज्ञासे लिखी गयी—

देवसिंहनिदेशाच्च नैमिषारण्यवासिनः
शिवसिंहस्य पितुः सुतपीडनिवासिनः ।
पञ्चषष्टिदेशयुतां पञ्चषष्टिकथान्वितां
चतुःखण्डसमायुक्तामाह विद्यापतिः कविः ॥

यह भूगोलका ग्रन्थ है और कविने इसमें बलरामकी शाप पानेपर प्रायश्चित्तस्वरूप की गयी तीर्थयात्राको आधार बनाकर मिथिलासे नैमिषारण्य तकके सभी प्रधान तीर्थोंका वर्णन करते हुए रोचक कहानियाँ दी हैं।

(२)पुरुषपरीक्षा—इसे राजा शिवसिंहके समय उन्हींकी प्रेरणासे कविने लिखा[1]। यह नीतिका ग्रन्थ है जिसमें वीर, सुधी, विद्यानिपुण, पुरुषार्थी इन चार प्रकारके पुरुषोंके सम्बन्धमें चार परिच्छेदोंके अन्तर्गत उदाहरण-प्रत्युदाहरण स्वरूप अनेक कथाएँ हैं।

३. लिखनावली—इसकी रचना कविने राजबनौलीमें रहते हुए राजा पुरादित्यकी आज्ञासेकी—

सर्वादित्यतनूजस्य द्रोणवारमहीपतेः ।
गिरिनारायणस्याज्ञां पुरादित्यस्य पालयन् ॥
अल्पश्रुतोपदेशाय कौतुकाय बहुश्रुताम् ।
विद्यापतिस्सतां प्रीत्यै करोति लिखनावलीम् ॥

अल्पज्ञ लोगोंको पत्रलेखन सिखाने के लिए और पण्डितोंके मनोविनोद के

---

१. गौडे गज्जनभूमिपाल विजायारक्षोणीषु लब्ध्वा यशो
येनाकारि दिगङ्गनाकचमरं सत्कीर्तिपुंजास्पदम् ।
तस्य श्रीशिवसिंहदेवनृपतेर्विज्ञप्रियस्याज्ञया
ग्रन्थं ग्रन्थिलदंडनीतिविषये विद्यापतिर्व्यातनोत् ॥

लिए इसकी रचना हुई। इसके पत्रोंमें तत्कालीन लेखन शैलियोंके विस्तृत ज्ञानके साथ-साथ महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री भी कम नहीं है। पत्रोंमें प्रायः २९९ लक्ष्मणसेन सं०, अर्थात् १४१८ ई० का प्रयोग है। इससे पता चलता है कि यह इसी वर्षमें लिखी गयी होगी।

४. शैवसर्वस्वसार—राजा पद्मसिंह की प्रिय और यशस्विनी रानी विश्वासदेवीकी आज्ञासे विद्यापतिने इसे लिखा—

नित्यं देवद्विजार्थं द्रविणवितरणारम्भसम्भावितश्रीः
धर्मज्ञा चन्द्रचूडप्रतिदिवससमाराधनैकाग्रचित्ता।
विज्ञानुज्ञाप्य विद्यापतिकृतिनमसौ विश्वविख्यातकीर्तिः
श्रीमद्विश्वासदेवी विरचयति शिवं शैवसर्वस्वसारम्॥

इसमें शिव-पूजनकी विधिके साथ-साथ भवसिंहसे लेकर विश्वासदेवी तकके राजवंशकी प्रशस्ति है। इस दृष्टिसे यह अत्यन्त महत्त्वका ग्रन्थ है।

५. शैवसर्वस्वसारप्रमाणभूतसंग्रह—यह ग्रन्थ शैवसर्वसारके साथ ही बना और इसमें उन प्रमाणोंका संग्रह है, जिनका उपयोग कविने शैवसर्वस्वसारमें किया।

६. गंगावाक्यावली—यह भी विश्वासदेवीकी प्रेरणासे लिखा गया। यह विद्यापतिकी गंगाजीकी भक्तिका परिचायक है। इसमें गंगा-पूजनकी सविस्तर विधिके साथ संकल्प एवं प्रशंसा-वाक्य संग्रहीत हैं।

७. विभागसार—इसकी रचना राजा नरसिंहदेव उपनाम दर्पनारायणके समय विद्यापतिने उन्हींकी आज्ञासेकी—

राज्ञो भवेशाद्धरिसिंह आसीत् तत्सूनुना दर्पनारायणेन।
राज्ञा-नियुक्तोऽत्र विभागसारं विचार्य विद्यापतिरातनोति॥

इसमें सम्पत्तिके बटवारेके सम्बन्धमें विचार किया गया है। यह तत्कालीन तत्सम्बन्धी दायभागके नियमोंके लिए बहुत महत्त्वका है।

८. दानवाक्यावली—नरसिंहदेवकी पत्नी रानी धीरमतिदेवी इसकी प्रेरक थीं। इसमें सभी प्रधान दानोंके सम्बन्धमें विधिवत् जानकारी तथा संकल्पवाक्यों का संग्रह किया गया है।

९. गयापत्तलक—यह संस्कृत ग्रन्थ कविने किसकी प्रेरणासे कब लिखा ठीक पता नहीं चलता। इसमें गयाश्राद्ध सम्बन्धी विवरणोंका कथन है।

१०. वर्षकृत्य—इसके अन्य नाम वर्षक्रिया या सवत्सराकृत्य भी हैं। इसमें वर्षभरके बारहों महीनोंमें होनेवाले पर्वों तथा शुभविधानोंके नियम और कृत्य बताये गये हैं।

३. अवहट्ट भाषाकी रचना 'कीर्तिलता'

विद्यापतिके ऊपर लिखे हुए ग्रन्थोंमें अवहट्ट भाषामें लिखी हुई 'कीर्तिलता' का हिन्दी साहित्यमें विशेष स्थान है। इसका पहला संस्करण बंगाक्षरोंमें मूल और टीकाके साथ श्री हरप्रसाद शास्त्रीने नेपाल दरबारकी प्रतिसे उतारी गयी प्रतिलिपिके आधारपर बंगाब्द १३३१ में प्रकाशित किया था। उसमें मूल पाठको अच्छा माना जा सकता है, किन्तु अर्थोंमें बहुत गड़बड़ी है। प्रायः क्लिष्ट स्थानोंमे मूल ग्रन्थ उन्हें नहीं लगा।

इस ग्रन्थका दूसरा संस्करण जो हमारे देखनेमें आया है वह श्रीबाबूराम सक्सेनाका है। उसमें शास्त्रीजीकी प्रति एवं असनीसे प्राप्त एक अन्य प्रति एवं नेपाल दरबारकी प्रतिसे उतारी हुई प्रतिलिपिके, जो पं० गंगानाथ झाने मँगवायी थी, आधारपर मूल पाठ प्रस्तुत किया गया है। और उसके सामने हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। यह संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभासे सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ था और हिन्दी संसारको इसी संस्करणके द्वारा कीर्तिलताका परिचय विशेषतः प्राप्त हुआ। पाठकी दृष्टिसे इसके मुद्रणमें कितनी ही भ्रान्तियाँ हैं। प्रायः रड्डा छन्दोंको गद्य मानकर

छापा गया है और शब्दोंको अशुद्ध स्थानपर तोड़कर आगे-पीछे मिला देनेके उदाहरण तो अनेक हैं। फिर भी टिप्पणियोंमें दिए हुए पाठान्तरोंकी सामग्रीके लिए हमें इस संस्करणका अनुगृहीत होना चाहिए। मूल ग्रन्थके अनुवादके विषयमें श्री बाबूरामजीका परिश्रम क्लिष्ट स्थलोंमें कुछ भी सहायक नहीं होता, वरन् अत्यन्त उपहासास्पद हो गया है।

इधर हालमें श्री शिवप्रसाद सिंहने कीर्तिलताका एक नया संस्करण मूल, अनुवाद, शब्दसूचीके साथ १९५५ में प्रकाशित किया।[1] इसमें मूलके छन्दोंका ठीक मुद्रण हुआ है, किन्तु अर्थकी दृष्टिसे कीर्तिलताकी समस्या अनबूझ ही बनी रही। फिर भी श्री शिवप्रसादने अपनी विस्तृत भूमिकामें अवहट्ट भाषाके व्याकरणपर पहली बार ही विस्तृत विचार किया है।

४. पूर्व टीकाओंसे संजीवनीकी विशेषता

इन पूर्व टीकाओंमें कीर्तिलताके अर्थोंकी जो स्थिति थी उसकी तुलना वर्तमान 'संजीवनी' टीकाके अर्थोंसे करनेपर यह स्पष्ट समझा जा सकेगा कि कीर्तिलताके अर्थोंकी समस्या कितनी महत्त्वपूर्ण थी और उसे किस प्रकार उलझा हुआ छोड़ दिया गया था। इसके लिए निम्नलिखित कुछ चुने उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं—

(१) भेअ करन्ता मम उवइ दुज्जन वैरि ण होइ। १।२२

बाबूरामजीने 'भेअक हन्ता मुज्झु जइ' पाठ रक्खा है जो 'क' का है। अक्षरोंको गलत जोड़ देनेसे यहाँ उन्होंने अर्थ किया है—यदि दुर्जन मुझे काट डाले अथवा मार डाले तो भी वैरी नहीं। उन्होंने टिप्पणीमें 'भेअ कहन्ता' देते हुए अर्थ दिया है—यदि दुर्जन मेरा भेद कह दे।

1. साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।

शिवप्रसादसिंहने इसे ही अपनाया है। वास्तवमें 'ब' प्रतिसे इसके मूल पाठका उद्धार होता है। मूलका अर्थ है—मर्मका भेद करता हुआ दुर्जन पास आवे तो भी शत्रु नहीं होगा। 'उवइ' प्राकृत-अवहट्टकी सशक्त धातु है, जिसका अर्थ पास आना है।

(२) सक्कअ वाणी बहुअ ण भावइ।
पाउअ रस को मम्म न पावइ। १।३३–३४

बाबू०—संस्कृत भाषा बहुत लोगोंको दुर्गम होनेके कारण भली नहीं लगती, प्राकृत भाषा रसका मर्म नहीं पाती।

शिव०—संस्कृत भाषा केवल विद्वान् लोगोंकोअ च्छी लगती है। प्राकृत भाषामें रसका मर्म नहीं होता।

यद्यपि प्रथम पंक्तिके किए गये दोनों अर्थ सम्भव हैं, किन्तु यही अर्थ उचित है कि संस्कृत बहुतोंको नहीं भाती, अन्यथा उसका दूसरी पंक्तिसे मेल नहीं बैठता। दूसरी पंक्तिका अर्थ है—प्राकृत काव्यरसका मर्म भी सुगमतासे नहीं मिलता। पूर्व टीकाकारोंने 'प्राकृत' को कर्त्ता मानकर अर्थ किया है वह ठीक नहीं। वस्तुतः 'पाउअ-रस' षष्ठी-तत्पुरुष समास है।

(३) जाचक सिद्धि केदार दाने पंचम-बलि जानल। १।७२

बाबू०—याचक जनके मनोरथ सिद्ध करनेके कारण तथा क्षेत्रदानके कारण याचक उन्हें पाँचवाँ बलि मानते थे।

शिव०—वे याचकोंके मनोवांछित देनेवाले क्षेत्रदान (भूमिदान) में बलिकी तरह पाँच श्रेष्ठ दानियोंमें-से एक थे।

संजीवनी—याचकोंके लिए कल्पवृक्ष (सिद्धि केदार) के समान मनोवांछित फल देनेवाले थे और पाचवें दानमें बलिके समान दानी थे।

दानपंचम–हिरण्यदान, अन्नदान, भूमिदान, विद्यादान और आत्मदान–इन पाँच दानोंमें-से अन्तिम पाँचवें दान अर्थात् आत्मदानमें बलिके समान थे।

(४) पर पुर मारि सओ गहओ बोलए न जा किन्तु धाए।
मेरहुँ जेट्ठ गरिट्ठ अछ मन्ति विअक्खन भाए॥

२।४१-४२

बाबू०—मैं कुछ ज्यादा नहीं कहता, स्वयं शत्रुकी पुरीपर आक्रमण कर स्वयं ग्रहण करूँगा। मेरे ज्येष्ठ और गरिष्ठ और सलाह देनेवालोंमें चतुर भाई हैं।

शिव०—शत्रुके पुरपर आक्रमण करके स्वयं दौड़कर पकड़ूँगा, ज्यादा बोलनेसे क्या होता है। मेरे भी श्रेष्ठ और गरिष्ठ मन्त्रणा-चतुर भाई हैं।

संजीवनी—शत्रुको उसके नगरमें मारकर मैं अकेला ही उसे पकड़ूँगा। जो कुछ प्रतिज्ञा करूँगा उसका व्यतिक्रम न होगा। बड़े और सम्मानित व्यक्ति मर्यादामें रहते हैं। मन्त्री नीति कुशल ही अच्छा लगता है।

सओ = स्वयम्। बोलए = सं० व्यतिक्रमका धात्वादेश, उल्लंघन करना। धाए = धारण करना। मेरहुँ = मर्यादामें। इन शब्दोंका अवहट्ट रूप न जाननेसे पूर्व अर्थ ठीक नहीं हुए। दे० टिप्पणी, पृष्ठ ४८।

(५) वेवहार मुल्लहिं वणिक विक्कणए कीनि आनहि वब्बरा।

२।९०

बाबू०—कपूर, केसर, गन्ध, चामर, काजल और कपड़े वणिक लोग व्यवहार मूल्यसे बेचते थे और बर्बर (यवन? देहाती ?) लोग खरीद ले जाते थे।

शिव०—कर्पूर, कुंकुम, गन्ध (धूप इत्यादि), चामर, काजल, कपड़े आदि वणिक व्यवहार मूल्यपर बेचते थे जिन्हें बर्बर यवन खरीद ले आते थे ।

संजीवनी—कपूर, केसर, धूप (गन्ध) चँवर, नेत्रोंका काजल और कपड़े वणिक लोग व्यापारके लिए मूल्य लेकर बेचते थे और कुटुम्बी किसान खरीदकर लाते थे ।

यहाँ बब्बरा देशी बाबड़ (=कुटुम्बी) शब्दका परिचय न होनेसे पहले अर्थ ठीक नहीं हुए ।

(६) जं सवे मंदिर देहली धनि पेक्खिअ सानन्द ।
तसु केरा मुख मंडलहि घरे घरे उग्गिअ चन्द ॥

२।१२४-२५

बाबू०—जैसे घरकी देहलीपर धनीको देखकर सभी आनन्द होते हैं उसी प्रकार उसके (नगरके राजाके) मुखमण्डलको देखकर घर-घर ऐसा मालूम होता है जैसे चन्द्रमा उदित हुआ हो ।

शिव०—उस नगरका राजा नगर-भरमें श्रेष्ठ था, जो सब घरोंकी देहली-पर आनन्दित नारियाँ दिखाई देती हैं मानो उस राजाके मुख-मण्डल-को देखकर घर-घर चन्द्रमा उदित हुआ हो ।

संजीवनी—सब घरोंकी देहलियोंपर जो स्त्रियाँ सानन्द दिखाई पड़ती थीं उनके मुखमण्डल रूपमें मानो घर-घर चन्द्रमा उदित हुआ था । यहाँ सीधे अर्थको भी व्यर्थमें उलझा दिया गया ।

(७) एक हाट करेओ ओल, ओंका हाट करेओ कोल ।

२।१२६

बाबू०—एक बाजार समाप्त हुई नहीं कि दूसरी प्रारम्भ हो गयी (?) ।

शिव०—एक हाटके आरम्भसे दूसरी हाटके अन्ततक ।

संजीवनी—उन हाटोंमें एक हाट सबसे सुन्दर बना हुआ था। उसके भीतर पण्य स्त्रियोंका शृंगार हाट बनाया गया था।

ओल (=अतुल) और औकी (=अवकीता) का अर्थ न जाननेसे अर्थका एकदम घोटाला हो गया।

(८) सँसर वाज, राअन्हि छाज।　　२।१४९

बाबू०—राजोंका साज (?) अच्छी तरह बजता था।

शिव०—सस्वर बाजे बजते हैं, यह सब राजाओंको शोभा देने योग्य है।

संजीवनी—उनके यहाँ सस्वर वाद्योंसे राग सुशोभित होता था। राअन्हिका अर्थ राग है राजा नहीं।

(९) तान्हि करी कुटिल कटाच्छ छटा।　　२।१५१

बाबू०—उनकी कुटिल कटाक्ष छटा हो कामदेवके बाणोंकी श्रेणी थी जो दोहाई बोलनेपर गँवारोंको छोड़कर सब नागरिकोंके मनमें गड़ जाती थी।

शिव०—उनकी तिर्यक कटाक्ष छटा कामदेवकी बाण पंक्तिकी तरह सभी नागरोंके मनमें गड़ जाती। बैल कहकर गँवारोंको छोड़ देती।

संजीवनी—उनकी कुटिल कटाक्ष छटा हो कामदेवके बाणोंकी पंक्ति थी जो गँवार ग्वालोंको छोड़कर नागरिकोंके मनमें गड़ जाती थी।

(१०) कहीं कोटि गन्दा कहीं वादि वन्दा।
कहीं दूर रिक्काविए हिन्दु गन्दा॥　　२।१६०-६१

बाबू०—कहीं करोड़ों गुण्डे (?) कहीं बाँदी बंदे, कहीं गन्दे हिन्दू बाहर किये जाते थे।

शिव०—कहीं बहुत-से गन्दे लोग, कहीं बाँदी-बन्दे। कहीं किसी हिन्दूको दूरसे ही निकाल देते थे।

संजीवनी—कहींपर तरह-तरहके गुप्तचर (गन्दा, फ़ा०, गोयन्दः) थे, कहीं फरियादी (बादी) और गुलाम (बन्दा) थे। कहीं तुर्क लोग हिन्दुओंको गेंदकी तरह मारकर दूर भगा रहे थे।

(११) सराफे सराहे भरे बे वि बाजू।
तौलन्ति हेरा लसूला पेआजू॥ २।१६४–६५

बाबू०—दोनों ओर सराफ़ेकी दुकानें थीं। लशुन प्याज तौला जा रहा था।

शिव०—सड़कोंके दोनों बाजू सराफोंसे भरे हुए थे। कहीं हल्दी लशुन और प्याज तौल रहे थे।

सराफा बाजारमें प्याज, लहसुन, हल्दीको तोलना कविके अर्थकी भारी दुर्गति है।

संजीवनी—दोनों तरफ श्लाघनीय (सराहे) सराफेके बाजार भरे थे। वहाँ हीरा (हेरा), लहसुनिया (लसूला), फिरोजा (पेआजू) तौला जा रहा था।

(१२) कसीदा कढन्ता मसीदा भरन्ता।
कितेवा पढ़न्ता तुरुक्का अनन्ता॥ २।१७२–७३

बाबू०—कोई कसीदा काढ़ते थे, कोई मसीद भरते थे; कोई-कोई किताबें पढ़ते थे। वहाँ अनगिनती मुसलमान थे।

शिव०—कोई कसीदे काढ़ते, कोई मसीद भरते, कोई किताब (धार्मिक) पढ़ते, इस तरह अनन्त तुर्क दिखाई पड़ते थे।

बाजारमें तुर्कोंका कसीदा काढना उपहासास्पद है। ठीक अर्थ यह है।

संजीवनी—कुछ कविता (कसीदा) पढ़ रहे थे, कुछ मसजिदोंमें भरे हुए थे और कुछ कुरानशरीफ पढ़ रहे थे, इस प्रकार वहाँ अनेक तुर्क दिखाई पड़ रहे थे।

(१३) तुरुक तोषारहि चलल हाट भमि हेडा मंगइ।
आडी डीठि निहारि दवलि दाढी थुक वाहइ॥

२।१७६–७७

बाबू०—तुरुक तोखार (?) को चला जो बाजारमें घूम-घूमकर देख-देख कर (?) माँगता है। आड़ी नजरसे देखकर दौड़कर दाढ़ीमें थुकवाता है (?)

शिव०—तुर्क घोड़ेपर चढ़कर चला, वह बाजारमें घूम-घूमकर गोश्त (हेडा) माँगता है। क्रुद्ध होनेपर तिरछी दृष्टिसे देखकर दौड़ता है। तब उसकी दाढ़ीसे थूक बहने लगता है।

दाढ़ीपर थुकवाना या बाजारमें गोश्त माँगना एक दम असंगत है।

संजीवनी—तुर्क घोड़ेपर सवार हो बाजारमें घूमकर अपना हेडा नामक कर वसूल करता है। जब वह तिरछी दृष्टिसे देखता है तो उसकी सफेद दाढ़ीपर थूक बहता है।

(१४) सव्वस्स सराब पराब कइ ततत कबाबा खा दिरम।
अविवेक क रीती कहओ का पाआ पुएस ले ले भम॥

२।१७८–७९

बाबू०—सर्वस्व शराबमें बरबाद करके गरमागरम कबाब खाता है (?); उसके अविवेककी बात क्या कहूँ प्यादा लेकर पीछे-पीछे घूमता है।

शिव०—सर्वस्व शराबमें बर्बाद करके गरम कबाब-दरम खाता है। पीछे-पीछे प्यादा लेकर घूमता रहता है। उसकी बेवकूफीके तरीकेपर और क्या कहूँ ?

दिरम (= दिरहम) का अर्थ दोनोंको नहीं लगा।

संजीवनी—अपना सर्वस्व (सम्पति, जायदाद) शराबमें गवाँ देता है और धन (दिरम) गरमागरम (ततत) कबाब खानेमें नष्ट कर देता है। उसके अविवेकके विषयमें क्या कहूँ ? पीछे प्यादा लिए हुए घूमता है।

(१५) जमण खाइ ले भाँग भाग रिसिआइ खाण है।
दौरि चीरि जिउ धरित समिण सालण अणै भणै ॥

२।१८०–८१

बाबू०—खान जब माँगकर भाँग खा लेता है, तभी गुस्सा होता है। दौड़कर 'कलेजा चीर लूँगा जल्दी सालन लाओ' ऐसा कहता है।

शिव०—यवन भाँग खाकर और माँगता है। खान क्रुद्ध होता है। समिण सालण चिल्लाता रहता है जैसे दौड़कर प्राण चीरकर रख देगा।

यहाँ दूसरे भाग शब्दका अर्थ 'पीछे' और समिणका 'ले आना' है।

संजीवनी—यवन जब भाँग खा लेता है तो पीछे क्रोधित होकर खाँ साहब बन जाता है। दौड़ो, मारो-काटो, जीवित पकड़ो, सालन ले आओ, इस प्रकार ऊटपटाँग प्रलाप करता है।

(१६) ताकि रहै तसु तीर लै बैठाव मुकदम वाहि धै। २।१८४

बाबू०—उसको तीर लेकर ताकता है। मखदूम बाँह पकड़कर बैठाता है।

शिव०—तीर उठाकर उस ओर देखता है। मुकद्दम (मुखिया) बाँहें पकड़कर उसे बिठाता है।

तीरका अर्थ बाण नहीं, किनारा है।

संजीवनी—मुकद्दम उसे देखकर जल्दीसे भुजा पकड़कर एक किनारे ले जाकर बैठाता है।

(१७) सअद सेरणी विलह सव्व को जूठ सव्वे खा। २।१८..

बाबू०—सय्यद, स्वैरिणी (बदचलन स्त्री) और फकीर (?) सभी हरएकका जूठा खाते हैं।

शिव०—सय्यद, स्वैरिणी (कुचरित्र), वक्ती (फकीर) सब एक दूसरे-का जूठ खाते हैं।

सेरणी (= शीरनी, मिठाई) और विलह (= बाँटना) का अर्थ ठीक न लगानेसे कविका अभिप्राय ही लुप्त हो गया।

संजीवनी—सैयद सबको शीरनी बाँटता है, सब कोई उसका उच्छिष्ट खाते हैं।

(१८) मषदूम नरावइ दोम जओ हाथ ददस दस गारओ।
२।१९०

बाबू०—मखदूम डोमकी तरह दसों दिशाओंसे हाथमें भोजन ले आता है (?)।

शिव०—मखदूम (मालिक ?) दशों तरफ डोमकी तरह हाथ फैलाता है।

इस एक पंक्तिमें सात शब्द पारिभाषिक प्राकृत और फारसीके हैं। उनके अर्थोंकी दोनों टीकाओंमें शोचनीय दुर्दशा हुई है। शब्दोंपर टिप्पणीके लिये संजीवनी टीका पृ० १०८–११० देखें। यह कीर्तिलताकी सर्वाधिक क्लिष्ट पंक्ति है।

संजीवनी—मखदूम नरकपतिके समान माना आता है। जब वह प्रेता-त्माओंको बुलाकर हदस (अंगूठीके नगमें प्रेतात्माओंका दर्शन

कराना) द्वारा उन्हें जल्दी-जल्दी दिखाता है तो देखनेवालोंको डर लगता है और उन्हें पीड़ा पहुँचती है ।

(१९) कतहु मिसिमिल कतहु छेद । २।१९५

बाबू०—कहीं बिस्मिल्ला, कही (कर्ण ?) छेद;

शिव०—कही विस्मिल्ला (श्री गणेश) होता है कहीं छेद (कर्णभेद) ।

संजीवनी—कहीं (मुसलमानोंमें) बिसमिल्ला कहकर पशुओंको मारा जाता है, कहीं (हिन्दुओंमें) उनकी बलि दी जाती है ।

(२०) धारि आनए बाँभना बरुआ ।
मथाँ चड़ावए गाइक चुडुआ ॥ २।२०२।२०३

बाबू०—ब्राह्मणके लड़केको पकड़ लाता है और उसके मत्थे पर गायका बच्चा चढ़ाता है ।

शिव०—ब्राह्मण वटुकको पकड़कर लाता है और उसके माथे पर गायका शुरुआ रख देता है ।

चुडुआका अर्थ बच्चा या शोरबा नहीं, खाल है ।

संजीवनी—उसका अन्याय यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि ब्राह्मणके लड़केको घरसे पकड़ ले आता है और उसके सिर पर गायका चमड़ा लदवाकर ले चलता है ।

(२१) गोरि गोमठ पुरिल मही । २।२०८

बाबू०—क़बरों और गोमठ (? गोशाला) से पृथिवी भर गई ।

शिव०—गोर (कब्र) और गोमर (कसाइयों) से पृथ्वी भर गयी है ।

गोमठका अर्थ गोशाला और कसाई नहीं, मकबरे हैं।

संजीवनी—कब्र और मकबरोंसे पृथिवी भर गयी है।

(२२) लोअह सम्मद्दे वहु विहरद्दे, अम्बर मण्डल पूरीआ।
२।२१६

बाबू०—(वहाँ) आकाशमण्डल भाँति-भाँतिके घूमते हुए लोगोंके झुण्डोंसे भरा हुआ था।

शिव०—लोगोंकी भीड़से, बहुतसे लोगोंके घूमनेसे आकाशमण्डल भर गया। अम्बर मंडलका ठीक अर्थ एक प्रकारका गोल तम्बू था।

संजीवनी—लोगोंकी भीड़-भाड़में बहुत आने-जानेवालोंसे वस्त्रोंके बने हुए मण्डल नामक गोल तम्बू भर रहे थे।

(२३) दुरुहुन्ते आआ वड वड राआ दवलि दोआरहीं चारीआ।
२।२१८

बाबू०—दूर-दूरसे आए हुए बड़े-बड़े राजा लोग दौड़कर द्वार घेर लेते थे।

शिव०—दूर-दूरसे आये हुए राजा लोग दौड़कर द्वार पर चलते थे। दवलि दोआरका ठीक अर्थ धवलगृहका द्वार या राज द्वार है।

संजीवनी—दूर-दूरसे बड़े-बड़े राजा आये थे और धवल गृह या महलके द्वार पर ही चक्कर लगा रहे थे, अर्थात् भीतर प्रवेश न पाते थे।

(२४) उत्तम परिवारा षाए उमारा महल मजेदे जानन्ता।
सुरतान सलामे लहिअइ लामे आपें रहि रहि आवन्ता॥
२।२२२-२२३

बाबू०—उत्तम परिवारके खान और अमीर लोग महलके मजे जानते थे, सुलतानको सलाम करनेसे इनाम पाकर आप-ही-आप ठहर-ठहरकर आते थे।

शिव०—उत्तम परिवारके उत्तम दर्बारको मजेसे (अच्छी तरह) जानते-
हैं (या दर्बारके मज़े जानते हैं) सुलतानको सलाम करते समय
इनाम पाते, अपनेसे आते जाते।

इन पंक्तियों का अर्थ भी टीकाओंमें खूब बिगड़ा है। महल मजीद =
शाही महल। लहिअइ लामे = लहमा या क्षणभर पाते हैं।

संजीवनी—ऊँचे खानदानके खान और उमरा लोग शाही महल (महल-
मजीद) में कुछ जान-पहचान रखते थे। सुलतानको सलाम करनेके
लिए उन्हें एक लहमा भर मिलता था। वे एकान्तमें भेंट करने के
लिए उत्कण्ठासे आते रहते थे।

(२५) अहो अहो आश्चर्य। ताहि दारषोलंहि करो दवाल दरवाल औं।
२।२३८

बाबू०—अहो-अहो आश्चर्य ! उन दोनोंने उस दरबार (की दीवार पर ?)
में पदार्पण किया,

शिव०—अहो अहो आश्चर्य। उस घेरे (Corridor) के अन्दर दीवाल
और दरवानकी जगह है।

दारखोल = द्वार प्रकोष्ठ। दवाल = तलवार। दरवाल = द्वारपाल।

संजीवन—अहो, अहो, आश्चर्य। वहाँ द्वार प्रकोष्ठमें (दारखोलहि)
चमचमाती तलवारें लिए हुए द्वारपाल नियुक्त थे।

(२६) चतुस्सम पल्वल करो परमार्थ पुच्छहि सिआन। २।२४६

बाबू०—चौकोन तालाबका सच्चा हाल सयानोंने पूछकर जान लिया (?)

शिव०—चौकोर तालाबका हाल सयानोंसे पूछते।

चतुस्समका अर्थ चौकोर नहीं; यह एक प्रकारकी सुगन्धि होती थी।
देखिए टिप्पणी, पृ० १४५-४६।

संजीवनी—और चतुस्सम सुगंधिसे भरी हुई वापियोंका सच्चा हाल
जाननेके विषयमें चतुर लोग प्रश्न पूछते थे ।

(२७) फ़रमान भेल—'कओण चाहि', 'तिरहुति लेलि जन्हि साहि'।
३।१८

बाबू०—फरमान हुआ—'किस बादशाहने तिरहुत लिया ?'
शिव०—बादशाहने पूछा किसने तिरहुत लिया ।
यहाँ चाहिका शुद्ध अर्थ 'खबर' है ।
संजीवनी—बादशाहका हुक्म हुआ—'क्या खबर है ।' कीर्ति—
सिंहने कहा—हे ओन्हा शाह तिरहुतपर कब्जा कर लिया गया ।

(२८) गएन राए तौ वधिय, तौन सेर विहार चापिअ । ३।२०

बाबू०—फिर गणेश्वर रायका वध किया । उस शेरने बिहारपर कब्जा
कर लिया ।
शिव०—फिर गणेश्वर राजाका वध किया । उसी शेरने बिहारपर कब्जा
किया है ।
सेर = स्वच्छन्दता (सं० स्वैर)
संजीवनी—फिर गणेश्वर रायका वध किया । फिर उसने स्वच्छन्दतासे
बिहारपर कब्जा कर लिया ।

(२९) बान कसए सोनाक टका । ३।९७

बाबू०—पानके लिए सोनेका टका दीजिए ।
शिव०—पानके लिए सोनेका टंक दीजिए ।
बान = सोनेको कसौटीपर कसकर परखना ।

संजीवनी—बान कसवाकर देखनेमें सोनेका टका ही चला जाता था।

(३०) बहुल कौंडि कनिक थोड़।
घीवक बेचौं दीअ घोड़॥ ३।९९-१००

बाबू०—बहुत कौड़ी देनेपर थोड़ा कनिक मिलता था, और घोड़ा बेंचकर घी।

शिव०—बहुत कौड़ी (पैसा) देनेपर थोड़ा कनिक (अन्न) मिलता। घीके लिए घोड़ा बेचना पड़ता।

संजीवनी—(अनाज मंडीमें यह दशा थी कि) कौड़ियाँ अधिक और गेहूँके दाने थोड़े थे। (किरानेकी मण्डीका यह हाल था कि) घीके कुप्पे या हुंडे बेचनेवालेको साथमें अपना घोड़ा भी दे देना पड़ता था।

(३१) कुरुआ क तेल आङ्ग लाइअ।
बाँदी वडदा सओघ पाइअ॥ ३।१०१-१०२

बाबू०—बाँदी और बड़े-बड़े दासोंको गँवाकर कड़ुआ (?) तेल अंगमें लगाते थे।

शिव०—कड़वाका तेल शरीरमें लगाइए, बाँदी तो दूर, दासों तकको छिपाकर रखिए।

कुरुआ = कुरबक। सओघ = समर्घ, समान मूल्य।

संजीवनी—शरीरमें लगानेके लिए (चंपा, जूही, मोंगरेका तेल तो मिलता न था) कटसरैयाके तेलसे काम चलाना पड़ता था। बाँदी और बैल समान मूल्यमें मिलते थे।

(३२) अहह महत्तर किक्करउँ गण्डजे गणिज उँपास।
३।११२

बाबू०—अहा ! महापुरुष क्या करें, गिन-गिनकर उपवास करने लगे।

शिव०—अहह, महान् पुरुष क्या करें गंडोंमें या गिन-गिनकर उपवास करने लगे।

गंडले = गंडा, चार

संजीवनी—अहह, प्रधान या नायक व्यक्ति क्या करे, सिवाय इसके कि चार-चार बेला बीचमें गिनकर उपवास की साधना करे।

(३३) अरु सोमेसर सन्नगहि सहि रहिअउ दुरवथ्थ।

३।११७

बाबू०—और सोमेश्वरने नही छोड़ा। चुप होकर दुरवस्था सहते रहे।

शिव०—और सोमेश्वरके साथ नहीं छोड़ा। दुरवस्था सहकर बने रहे।

सन्नगहि = संज्ञाग्रह, मुद्राध्यक्ष

संजीवनी—और मुद्राध्यक्ष सोमेश्वर भी दुरवस्था सहते रहे।

(३४) सुरुतान के फरमाने।
सगरे हसम रोल पलु, (कादी षोजा मषदूम लरु)
खोदवरद खत उपलु ॥ ४।७–८

बाबू०—सुल्तानके हुक्मसे सारी राहमें (शा० सागरके समान) बराबर शोर मच गया। क़ाजी ख्वाजा और मख़दूम लड़ने लगे।

शिव०—सुल्तानके फरमानसे सारी राहमें शोर मच गया। लक्षावधि पैदल सेनाके शब्द बज उठे।

इस क्लिष्ट पंक्तिमें हसम (= पैदल सेना) और खोदवरद (= कहाँ चलना है) पारिभाषिक शब्द थे—

संजीवनी—सुलतानके हुक्म होते ही सारी पैदल सेनामें शोर मच गया। सबलोग पूछने लगे—'कहाँ जानेके लिए हुक्म निकला है'।

(३५) पाइग्गह पत्र भरें भउँ पल्लानिअउँ तुरंग ।

४।२६

बाबू०—पैदलोंके पैरोंके भारसे घोड़े भाग उठे ।

शिव०—पैदल सेनाके पद भारसे (ध्वनि) हुई । घोड़ोंपर जीन कसी गयी ।

पाइग्ग = पायगाह, घुड़सवार सेना, फारसीका प्रसिद्ध शब्द था—

संजीवनी—पायगाह (शाही घुड़साल) के स्थानमें भरे हुए श्रेष्ठ घोड़ोंपर साज रक्खा गया ।

(३६) समत्थ सूर उर पूर चारि पाअ चक्करे । ४।३२.

बाबू०—वे बलवान थे, वीर थे, भरपूर थे, चारों पैरोंसे चक्कर काटते थे ।

शिव०—सामर्थ्यवाले, वीर, शक्तिसे भरे हुए, वे चारों पैरोंसे चक्कर काटते थे ।

संजीवनी—वे घोड़े शक्तिशाली और पराक्रमी थे । उनके हृदय देशपर भौंरियोंकी शृंखला थी और चारों पैरोंमें भी श्वेत चक्राकार भौंरियाँ थीं ।

(३७) विचित्त चित्त नाच नित्त राग वाग परिडआ । ४।३९

बाबू०—चित्र-विचित्र नाच नाचते थे और रागादिको समझनेवाले थे ।

शिव०—चित्र-विचित्र नाच करते थे और राग वागके पण्डित (जानकार) थे ।

घोड़े राग समझते थे, यह टीका अनर्गल है । यहाँ रागका सीधा अर्थ लाल है ।

संजीवनी—लाल रंगकी बागसे संयत वे अनेक प्रकारके विलक्षण नाच, अपनी चालसे बराबर दिखा रहे थे ।

(३८) *विछि वाछि तेजि ताजि पख्खरेहि साजि साजि ।*

४।४०

बाबू०—इस प्रकार तेज करके ताजे घोड़े जीन (?) से सज-सज कर,
शिव०—और भी चुने हुए तेजी ताजी घोड़े जीनसे सजाकर—
संजीवनी—तेजी और ताजी घोड़ोंको दोनों पार्श्वभागोंमें और सामने छातीपर पाखर या लोहेकी झूलसे सजा-सजाकर,

(३६) *कटक चांगुरे चांगुरे ।*
वाँकुले वाँकुले वअने, काचले काचले नअने ।

४।४२–४३.

बाबू० —(अश्व) सेना बड़ी सुन्दर थी । बाँके-बाँके मुँह, काचल (? चाकल) नेत्र,
शिव०—बाँके-बाँके मुँह, चंचल (काँचकी तरह चमकदार) आँखें,

यहाँ शब्द एकसे होते हुए भी उनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं । यह विद्यापतिकी प्रिय शैली थी । टिप्पणी देखिए ।

संजीवनी—अश्व सेना सुन्दर और विस्तीर्ण थी । घोड़ोंके बाँके मुँह आगेकी ओर उठे हुए थे । उनके नेत्र ऐसे चमकीले थे मानो बिल्लौरी शीशेका काम करके बनाये गये हों ।

(४०) *अटलें अटलें वाँधे, तीखें तरले काँधे ।* ४।४४.

बाबू०—ओटले (?) में बाँधे थे, उनके कन्धे पतले और चंचल थे ।
शिव०—पुष्ट गठन, तीक्ष्ण कंधा ।
संजीवनी—उनका बन्धदेश अट्टालकके समान ध्रुव था और स्कन्ध या ग्रीवा प्रदेश पतला और चंचल था ।

(४१) सुरुली मुरुली मुंडली कुंडली प्रभृति ।

४।४८

बाबू०—मुरली, मनोरी, कुण्डली, मण्डली आदि नाना प्रकारकी अश्वोंकी विशेष गतियोंसे,

शिव०—मुरली, मनोरी, कुण्डली, मण्डली प्रभृति नाना गतियोंको दिखाते हुए,

संजीवनी—सुरुली, मुरुली, कुण्डली, मण्डली आदि अनेक गतियाँ करते हुए शोभित होते थे ।

सुरुली = मेढ़ककी चाल = पोइया, जो दो-दो पैर फेंककर सरपट दौड़ते हुए घोड़ेकी चालके लिए प्रयुक्त होता है ।

मुरुली = मोरकी चाल

कुण्डली = साँपकी कुण्डलीकी तरह लहराती हुई टेढ़ी चाल ।

मण्डली = घोड़ेकी मण्डलाकार चाल ।

(४२) मोजाजे मोजे जोलि तीर भरि तरकस चापे । ४।६४.

बाबू—छील-छीलकर इकट्ठा करके तीर तरकशमें भरते थे ।

शिव०—मोजेसे मोजा जोड़कर तीर भरकर तर्कश बाँधलेते ।

संजीवनी—मोजेके ऊपर सरमोजा जोड़कर और तरकशमें तीर भरकर वे आक्रमण करते थे ।

(४३) सीगिनि देइ कसीस गव्व कए गरुवे दापे । ४।६५

बाबू०—बड़े अभिमानसे और चावसे सीगनि (बारूद भरनेके लिए खोखली सींग) कसीस देते थे ।

शिव०—सींगनीमें बारूद भरते, गुरुदर्प और गर्वके साथ ।

सींगिनका अर्थ बारूददानी नहीं, सींगका बना हुआ धनुष है—

संजीवनी—सींगके बने हुए धनुषको खींचकर और गर्वोक्तियों द्वारा अपने दर्पको और अधिक बढ़ा रहे थे।

(४४) वैलक काटि कमानहि जोले　　४।७८.

बाबू०—बेलको काटकर कमानमें जोड़ता था।

शिव०—बलकसे काटकर कमानको ठीक कर लेते।

बेलक एक प्रकारका तीर होता था।

संजीवनी—धनुष चढ़ाकर बेलक नामके दुफंकी तीरसे निशाना काटते थे।

(४५) तरुणे तुरुक वाचा सए सह सहि।　　४।८३.

बाबू०—जवान तुर्क सैकड़ों बातोंमें सहसा ही जैसे रुण्ड हँसे वैसे हँसता था।

शिव०—वैसे ही तरुण तुर्क सहसा बातचीतमें हँस देता।

संजीवनी—जवान तुर्क हँसता हुआ आता है किन्तु बहुत जल्दी क्रोधमें भर जाता है और एक साथ ही सैकड़ों हुकुम सुना देता है।

(४६) धाँगड कटकहि लटक वड जे दिस धाडें जाथि।　　४।८६

बाबू०—इस प्रकार बड़े-बड़े धग्गड़ फौजमें शामिल थे।

शिव०—उस बड़ी सेनामें न जाने कितने धाँगड़ (जंगली) थे।

संजीवनी—सेनाके साथ बहुतसे धाँगड़ अनियमित रूपसे जुड़े रहते थे।

(४७) सावर एकहा कतन्हिक हाथ।
वेत्थल कोत्थल वेढल माथ॥　　४।८८–८९.

बाबू०—एक ही शाबर (?) कई (धम्गड़ों) के हाथमें था। चिथड़ोंसे सर बँधा था।

शिव०—एक ही शवर कितनोंके ऊपर होता। सिर उसका चिथड़े-कुथड़ेसे ढका रहता।

वेत्थल = विस्तीर्ण, बड़ा। कोत्थल = थैला।

संजीवनी—कितनोंके हाथमें एक-एक बरछा था। बड़े थैलोंमें तरकश लपेटा हुआ था।

(४८) लूलि अज्जन पेटे वए।
असाए वृद्धि कन्दल खए॥ ४।९२–९३.

बाबू०—उनकी आमदनी लूट थी, उसीसे पेट भरता था। अन्यायसे उनकी वृद्धि थी और संग्रामसे उनका क्षय।

शिव०—लूटसे उनका अर्जन होता, पेटमें व्यय। अन्यायसे वृद्धि होती युद्धसे क्षय।

संजीवनी—लूटकी ही कमाईसे पेटका काम चलता था। दुःख, कलह और क्षयकी वृद्धि करते थे।

(४९) न पिउवा उपसम न जुझवा भंग। ४।१०१.

बाबू०—न प्रिय जनोंसे प्रीति और न युद्धसे भाग खड़े होना।

शिव०—किसी प्रियसे प्रेम नहीं, युद्धसे भागते भी नहीं।

पिउवा = यमराज। उपसम और मौत का ठीक अर्थ नहीं लगा।

संजीवनी—न यमराजकी दी हुई मौत आती थी और न युद्धमें ही विनाश होता था (तो फिर उनका अन्त कैसे हो ?)।

(५०) गोहन नहि पावहिं वथ्थु नचावहिं भूलल भुलहि गुलामा ।
४।११७

बाबू०—गोधन और कोई वस्तु नहीं पाते थे, उनको गुलाम भी भूल जाते थे ।

शिव०—गोधन और कोई खानेवाली वस्तु नहीं मिलती, गुलाम भूखे हुए दौड़ रहे थे ।

गोहन = साथ । नचावहि = जानना प्राकृत धातु, वत्थु = वास्तु, घर।

संजीवनी—फिर वे साथ नहीं पकड़ पाते । अपने घर या डेरोंके पहचाननें- में भूले हुए गुलाम या सेवक इधर-उधर घूमते रह जाते थे ।

(५१) अस पष एकचोई गणिअ न होइ सरइचा सरमाणा ।
वारिग्गह मंडल दिग आखंडल पट्टन परिठम भाणा ।।
४।१२०-१२१

बाबू०—मेघ मण्डल जैसे इन्द्रकी दिशाको घेर लेता है इसी प्रकार सारे नगरको (सेनाने) घेर लिया था ।

शिव०—इनको इसका अर्थ नहीं लगा ।

इस क्लिष्ट पंक्तिका कुछ भी अर्थ पहली टकाओंको नहीं लगा । इसमें चार शामियानोंके नाम आए हैं, जिनकी व्याख्याके लिये टिप्पणी (पृ० २५९-६०) देखिए—

संजीवनी—आस पासमें लगे हुए एकचोई, सरइचा और सरमान नामक तम्बुओंकी गिनती नहीं हो सकती थी । बारगाह और मण्डल नामक बड़े और सुन्दर शामियानोंसे पूर्वी दिशाकी राजधानी जौनपुरका यश प्रसिद्ध हो रहा था ।

(५२) महिस उंतए मनुसाए धाए असवारहिं मारिश्र ।
४।१२८

बाबू०—भैंसा गुस्सा हो उठा दौड़कर उसने सवारको हो मार दिया ।

शिव०—भैंसा क्रोध करके उठा और उसने दौड़कर असवारको मार दिया ।

उतए = अलफ हो गए, पिछले पैरों पर खड़े हो गए—

संजीवनी—भैंसे तरंगमें आकर अलफ़ हो गये और झपटकर घुड़सवारोंपर हमला करने लगे ।

(५३) तब फरमाणहि वाचिश्रइ सएल हसम को सार ।
४।१५४

बाबू०—तब सब (फरमानों) का सार यह हुक्म सादिर हुआ ।

शिव०—तब सबका सार (अन्तिम रूपसे) यह फरमान हुआ कि''''

हशम = पैदल सेना । सार = बुलाकर—

संजीवनी—तब समस्त सेनाको बुलाकर शाही फरमान पढ़ा गया—

(५४) पैरि तुरंगम पार भइल गंडक के पानी ।
पर बल भंजन गरुश्र मलिक महमंद मगानी ॥
४।१५६–१५७

बाबू०—वैरीके बलका दलन करनेवाले, गुरु, मुहम्मद मदगामी ? ने घोड़े• पर गंडकका पानी पार किया ।

शिव०—घोड़ोंकी सेनाने गण्डकके पानीको तैरकर पार किया ।

मगानी = प्रतिष्ठित—

संजीवनी—पराई सेनाका भंग करनेवाले प्रतिष्ठित मलिक मुहम्मद इबराहीम सुलतानने घोड़ेपर तैरकर गंडक नदी पार की।

(५५) तामसे वढ्ढइ वीर दप्प विक्कम गुण चारी।
सरमी केरा सरम गेल सरमेरा मारी॥

४।१७०–१७१

बाबू०—विक्रम गुणशील वीरका दर्प क्रोधसे बढ़ने लगा। लज्जाकी भी सारी लज्जा चली गई।

शिव०—विक्रम-गुणसे भरे वीरोंका दर्प क्रोधसे बढ़ने लगा। सरमेरा मारी = सिर कटानेवाले युद्धमें—

संजीवनी—क्रोधके बढ़नेसे वीर लोग अभिमानके साथ शौर्यकी प्रशंसा करते हुए चक्कर मारने लगे। उस सरकटानेवाले युद्धमें शराब पीकर धुत्त बने गाली-गलौच करते हुए हयादार सैनिकोंकी भी हया चली गई।

(५६) सरासार भिन्नी करे देइ सानी। ४।२०४

बाबू०—सरोष, हाथमें शस्त्र लिए,

शिव०—रोषके साथ संकेत करते हुए तोड़ देता है।

संजीवनी—बाण वृष्टिसे घायल हुए योद्धा हाथसे इशारा करते हैं।

(५७) हाथे न उट्ठए हाथि छाडि वेआल पाछु जा। ४।२०९

बाबू०—हाथीके हाथसे उठाए न उठनेपर उसे छोड़कर उसके पीछे चला जाता था।

शिव०—हाथसे जब हाथी नहीं उठता तो वेताल उसको छोड़कर पीछे चल देता।

हाथे = जल्दी—

संजीवनी—जल्दबाजी करनेवाला बेताल जब हाथीका रक्तपान शुरू करके उसे उठाकर ले जाना चाहता है और वह नहीं उठता तो छोड़कर उलटे पाँव भागता है ।

(५८) हअ लंगिम चंगिम चारु कला । २।२२९

बाबू०—घोड़ा चारु कला सुशोभित था ।

शिव०—घोड़े सुन्दर गतियाँ दिखाने लगे ।

हअ का अर्थ यहाँ घोड़ा नहीं, 'हत' है । लंगिम = यौवन—

संजीवनी—युद्ध करते हुए उनका सारा यौवन, सौन्दर्य और श्रेष्ठ कलायें नष्ट हो गयीं ।

५. कीर्तिलता की संस्कृत टीका

कीर्तिलता—हस्तलिखित प्रति, अनूपसिंह लाइब्रेरी, बीकानेरमें सुरक्षित है । यह श्री बीकानेर महाराजकी कृपासे मेरे सम्बन्धी स्वर्गीय श्री बाबू कन्हैयालाल जी सांवी-द्वारा, जो बहुत वर्षोंतक महाराजके यहाँ लेजिस्लेटिव सिक्रेटरी थे, मुझे एक वर्षके लिए प्राप्त हुई । मैं इन दोनों सज्जनोंका अनुगृहीत हूँ । इसी प्रतिका सम्पूर्ण फोटो श्री अगरचन्दजी नाहटा, (बीकानेर) ने तैयार कराया था । वह भी उनके सौजन्यसे मुझे देखनेको मिला और अन्तमें बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्ने उसे क्रय कर लिया, तब श्री नाहटाजीने उसकी दूसरी प्रति काशी विश्वविद्यालयके लिए सुलभ कर दी, जो यहाँके संस्कृत महाविद्यालयके लिए खरीद ली गयी । संस्कृत महाविद्यालयके आचार्य श्री पं० विश्वनाथ शास्त्रीने उसे मेरे लिए सुलभ किया । इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ । श्री नाहटाजीने निजी फोटोके आधारपर कीर्तिलताके पाठका, संस्कृत टीका और हिन्दी टीकाके साथ एक रूप तैयार किया था, वह उन्होंने कृपा करके पर्याप्त समयके लिए मेरे

पास भेज दिया उसके लिए मैं उसका विशेष आभारी हूँ। किन्तु कीर्तिलता-के मूलपाठ संशोधन और उससे भी अधिक उसकी व्याख्या या अर्थोंकी समस्या वैसी ही क्लिष्ट बनी रही। जहाँ भी कोई अर्थ दुर्बोध था, संस्कृत टीकाके रचयिताको वह नहीं लगा और उसने 'जिज्ञास्यम्' कहकर अपना पीछा छुड़ाया या ईमानदारीसे अपने अज्ञानका परिचय दिया।

संस्कृत टीका (पत्रोंका परिमाण ८'१५" × ३'४") की पुष्पिकासे ज्ञात होता है कि वि० सं० १६७२, अर्थात् १६१५ ई० में सुदूर सौराष्ट्र-के स्तम्भ तीर्थ या खम्भातमें वह लिखायी गयी थी। टीकाकी रचना उससे भी पूर्व हुई होगी। इससे ज्ञात होता है कि विद्यापति-द्वारा मूल ग्रन्थकी रचनाके लगभग सौ वर्ष बाद ही कीर्तिलताकी अवहट्ट भाषाके शब्दोंका अर्थ पण्डितोंके लिए भी दुरूह हो गया था। इसका मूल कारण यह ज्ञात होता है कि प्राचीन मैथिलीके विकाससे प्राचीनतर अवहट्ट भाषाका परि-चय उठ चुका था। संस्कृत भाषाके टीकाकारने इसे प्राचीन हिन्दी एवं प्राचीन मैथिलीका ग्रन्थ मानकर व्याख्याका जो प्रयत्न किया उसका किसी प्रकार सफल होना सम्भव ही न था। किन्तु संस्कृत टीकाकारको एक लाभ विशेष था, अर्थात् उसके सामने कीर्तिलताका जो मूल पाठ था वह अपेक्षाकृत मूलके अधिक निकट था और उसमें शब्दरूपोंकी स्थिति अच्छी थी।

आगे चलकर मूल ग्रन्थका पाठ भी बिगड़ता गया। अर्वाचीन युगमें जबसे श्री हरप्रसाद शास्त्रीने नेपाल दरबार लाइब्रेरीकी प्रतिके आधारपर, जो सन् १६२५ में लिखी गयी थी, इसका पुनः मुद्रण किया, तबसे तो पाठ भ्रष्टता और भी बढ़ गई। इसका मुख्य कारण शब्दोंको अशुद्ध रीतिसे तोड़कर उनका अंग-भंग कर देना था। हरप्रसाद शास्त्रीने पहले मूल छापकर अन्तमें बंगला अनुवाद भी दिया था। उन्होंने भूमिकामें लिखा है कि जहाँ उन्हें अर्थ नहीं लगा वहाँ किसी बिहारी दरबानकी सहायतासे अर्थ पूरा किया गया। इससे ग्रन्थकी बहुत दुर्दशा हुई। किन्तु

इस दुर्दशाकी पराकाष्ठा श्री बाबूरामजी सक्सेनाके संस्करणमें देखनेमें आती है, जिसे नागरी प्रचारणी सभाने सं० १९८६ में, अर्थात् ३४ वर्ष पूर्व प्रकाशित किया था। उसमें तो मूल पाठ और अर्थ दोनों ही अत्यन्त भ्रष्ट हो गये हैं। इसके बाद श्री शिवप्रसाद सिंहने कीर्तिलताके मूल पाठको कुछ संशोधित रूपमें हिन्दी टीकाके साथ सन् १९५५ में प्रकाशित किया। उस संस्करणमें विद्यापतिके रड्डा छन्दोंका ठीक प्रकारसे उद्धार हुआ किन्तु अर्थके विषयमें प्रगति बहुत कम हो सकी और कीर्तिलताके मूल अर्थतक पहुँचनेकी समस्या हिन्दी संसारके लिए वैसी ही कठिन बनी रही।

इस स्थितिमें कीर्तिलताकी वर्तमान संजीवनी टीकामें, पदमावतकी संजीवनी टीकाके समान मूल ग्रन्थके शब्दां और अर्थोंको छान-बीनका नया प्रयत्न किया गया है। जिस समय कीर्तिलताकी भाषाका कुछ गम्भीरतासे हमने अध्ययन किया तो मनमें यह प्रतीति दृढ़ हुई कि विद्यापति अवहट्ट और प्राचीन मैथिली दोनों भाषाओंके अत्यन्त समर्थ कवि थे। प्राचीन शब्दावलीके द्वारा अर्थोंकी अभिव्यक्तिकी उनमें विलक्षण सामर्थ्य थी। उनकी साहित्यिक शैली संक्षिप्त और सारगर्भित है। वस्तुवर्णनाके द्वारा वर्ण्यविषयोंका रूप खड़ा करनेमें वे सिद्धहस्त थे। नगरवर्णन, राजप्रासाद वर्णन, राजसभा वर्णन, अश्व वर्णन, गजवर्णन, सामन्त वर्णन, सैनिक वर्णन, युद्धवर्णन आदिके माध्यमसे उन्होंने तथ्यात्मक शैलीमें अपनी शब्दशक्ति और कल्पनाशक्ति दोनोंका परिचय दिया है। इस प्रकारकी सजीव वर्णन शैली जायसीसे पूर्वकी अन्य रचनामें नहीं प्राप्त होती।

६. विद्यापति की शब्दावली

विद्यापतिकी शब्दावली और व्याकरण रूपोंकी यह विशेषता स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि वह अपभ्रंश भाषासे आगे विकसित होनेवाली अवहट्ट भाषाका रूप है। ठक्कुर फेरूने भारतीय मुद्राओंके सम्बन्धमें लिखे गये अपने ग्रन्थ 'द्रव्य परीक्षा'में लगभग इसी शैलीको अपनाया है,

जिस ग्रन्थकी रचना उन्होंने दिल्लीमें अलाउद्दीन खिलजीके राज्यकालमें सन् १३१८ में की थी। इसका फल यह हुआ कि कीर्तिलतामें अनेक शब्द ऐसे आगये जो प्राकृत एवं अपभ्रंशकी परम्पराके थे। वे शब्द वर्तमान हिन्दी कोशोंमें नहीं हैं और उनके अर्थोंपर भी अभीतक कहीं समीक्षात्मक या सुनियोजित विचार नहीं किया गया। इस संजीवनी टीकामें पहली ही बार ऐसे अनेक शब्दोंका उद्धार किया गया है। ऐसा करते हुए हमने प्राकृत भाषा और अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोंसे अत्यधिक सहायता ली है। इस कार्यमें श्री हरगोविन्द सेठ द्वारा विरचित 'पाइअ सद्द महण्णवो' कोशसे हमें बहुत सहायता मिली है, जिसके लिए हम उसके अनुगृहीत हैं। इस प्रकारकी प्राचीन शब्दावलीका जो प्रवाह था, वह पन्द्रहवीं शतीमें कुछ ठहरने लगा और संख्याकी दृष्टिसे प्राचीन अवधी, ब्रज या मैथिलीकी रचनाओंमें अवहट्टके शब्दोंकी संख्या क्रमशः घटने लगी। फिर भी सर्वथा वह प्रवाह नहीं रुक सकता था जैसा कि 'छिताईवार्ता' एवं 'पदमावतकी' शब्दावलीका अध्ययन करनेसे ज्ञाता होता है।

७. प्राकृत धात्वादेश

प्राकृत अपभ्रंशकी जो शब्दावली प्राचीन हिन्दीकी काव्य-भाषामें अपना विशेष स्थान रखती है, वह वे धातुएँ हैं जिन्हें मध्यकालीन वैयाकरणोंने प्राकृत धात्वादेश कहा है। हेमचन्द्र, मार्कण्डेय आदि सावधान लेखकोंने उन धातुओंकी सूचियाँ अपने व्याकरणोंमें दी हैं। श्री ग्रियर्सनने 'प्राकृत धात्वादेश' के नामसे ऐसी लगभग पन्द्रह सौ धातुओंका एक बहुत अच्छा संग्रह या तुलनात्मक अध्ययन 'एशियाटिक सोसाइटी बंगाल'से प्रकाशित किया था। वह सब सामग्री श्री हरगोविन्ददास सेठके प्राकृत कोशमे आ गयी है। और पदमावतकी संजीवनी तथा कीर्तिलताकी इस संजीवनी टीकामे अनेक स्थानोंपर उसका प्रयोग किया गया है। उनमें-से विशेषतः विद्यापतिकी निम्नलिखित धातुओंपर ध्यान देना उचित है —

पृ० ९७ कढंता = पढ़ते हुए। प्रा० कड्ढ = पढ़ना, उच्चारण करना, सं० कृष्‌का धात्वादेश कड्ढ = पढ़ना, उच्चारण करना (हे० ४।१८७; पासद्द)। भोजपुरीमें 'कढ़ाव, कढ़ावा, कढ़ाओ', अर्थात् गीत उच्चारण करो, अभीतक कहा जाता है।

,, २९१ खले—सं० स्खलका धात्वादेश खल = पड़ना, गिरना, लटकना, झूलना (पासद्द)।

,, २९१ घल—प्रा० घल्ल (सं० क्षिप्‌का धात्वादेश) फेंकना, डालना, घालना (पासद्द)।

,, ११५ चढ़ावए—सं० आरुहका प्राकृत धात्वादेश चढ़ (हे० ४।२०६) चढइ = चढ़ना, आरुढ़ होना। प्रेरणार्थक—चढावइ = चढ़ाता है (पासद्द)।

,, ४० चप्परि—सं० आ + क्रम् (= आक्रमण करना, दबाना) का धात्वादेश चप्प, चप्परि = आक्रमण करके (पासद्द)।

,, २३६ चप्परि—सं० आक्रम्‌का धात्वादेश चप्प = आक्रमण करना, दबाना (पासद्द)।

,, १६० चामर—सं० पत > प्रा० अप० पड; अथवा सं० भ्रमका धात्वादेश प्रा० अप० पर = घूमना, डोलना (हे० ४।१६१)।

,, ४९ चुक्कओ—सं० भ्रंशका धात्वादेश चुक्क = भ्रष्ट होना (हे० ४।२०)।

,, ९० छाज—सं० राजका धात्वादेश छज्ज = शोभना, शोभित करना (हे० ४।१००)।

,, २९८ छाडि = छोड़कर। सं० मुच्‌का धात्वादेश छड्ड (पासद्द)।

,, १७६ झंख—सं० विलप् या सन्तप्‌का धात्वादेश (= विलाप करना, सन्ताप करना)।

,, १७० झंष—सं० विलप्‌का धात्वादेश प्रा० अप० झंष = विलाप।

पृ० ७४ झूल = आन्दोलन, शोर। सं० शब्द 'आन्दोल' का प्रा० धात्वादेश झुल्ल (पासद्द)।

,, १८६ णिवलिअ = निबट गया, चुक गया। सं० मुच् (= मुकना, चुकना) का प्रा० धात्वादेश णिव्वल (पासद्द)।

,, २२३ तलप्प—सं० तप्‌का धात्वादेश तल्लप = तपना, गर्म होना (पासद्द)।

,, २१६ तोरन्ते = ऊँचा उठाते हुए। सं० तोल्—तोलय् धातुका प्राकृत धात्वादेश तुल् = तोलना, उठाना, ठीक-ठीक निश्चय करना (पासद्द)।

,, २८४ थेव्व-दण्ड = सहारेकी थूनी। सं० विगलका धात्वादेश थिप्प, थेप्प > थेव्व = टेक, सहारा (पास ६०)।

,, २६५ दरमलिअ = मर्दित, चूर्णित। सं० मर्दय्‌का धात्वादेश प्रा० अप० दरमल (= चूर्ण करना, दलना, मलना, पासद्द)।

,, २५७ नचावहिं—सं० ज्ञा धातुका एक धात्वादेश णच्चा, णच्चाण = पहचानना (पासद्द)।

,, २७१ पअप्पइ = कहने लगा। सं० प्रजल्प्‌का धात्वादेश पयंप = कहना बोलना (पासद्द), पयंपए, पयंपइ।

,, २५२ पलु—सं० प्रकटय्‌का धात्वादेश पल, (पासद्द) सं० पतका भी अप० मे पल धात्वादेश होता है (= पड़ना, गिरना)।

,, १६१ पारइ—सं० शक्‌का प्राकृत धात्वादेश पार = सकना, समर्थ होना (हेम० ४।८६)।

,, २७२ पाखरं = घोड़ेपर सन्नाह कसकर, अश्वको कवचसे सज्जित करके। सं० सन्नाह्यका धात्वादेश पक्खर (पासद्द)।

पृ० ६५ पेल्लिअ—सं० पूरय् (= पूरा करना,) का धात्वादेश पेल्ल, पेल्लइ (पासद्द) प्राकृतमें पेल्ल धातुके चार अर्थ हैं:—
१—सं० क्षिप्‌का धात्वादेश पेल्ल = फेंकना।
२—सं० प्रेरय्‌का ,, ,, = प्रेरित करना।
३—सं० पीडय् ,, ,, = दबाना।
४—सं० पूरय् ,, ,, = पूरा करना, भरना।

,, १६३ पेल्लिअउँ—सं० पूरय्‌का प्रा० धात्वादेश पेल्ल = पूरना, भरना (पासद्द)।

,, १५९ पेल्लिय—सं० क्षिप्‌का धात्वादेश पेल्ल = फेंकना, अथवा सं० पीडयतिका धात्वादेश पेल्ल = दबाना, हटाना, मेटना।

,, ४८ बोलए—सं० व्यतिक्रम् धातुका धात्वादेश प्रा० बोल = उल्लंघन करना, छोड़ना (पासद्द) 7 अव० बोलइ, बोलए।

,, ११८ बोलि—सं० कथय्‌का धात्वादेश बोल्ल (पासद्द)।

,, २५७ भूलल—सं० भ्रंशका धात्वादेश प्रा० अप० भुल्ल = भूलना। सं० भ्रष्ट > प्रा० भुल्ल = भूला हुआ; भोजपुरीमें 'भूलल'।

,, २८२ मेरा—सं० मुच्‌का धात्वादेश प्रा० अप० मिल्ल, मेल्ल = छोड़ना, त्यागना।

,, ९१ वोल—सं० गम्‌का धात्वादेश वोल = चलना, गमन करना (पासद्द)।

,, २४३ सहि—सं० आ-ज्ञाका प्रा० धात्वादेश सहि = हुकुम देना, आदेश करना, फरमाना। सहइ (पासद्द)।

८. प्राकृत अवहट्ट के शब्द

इसके अतिरिक्त अनेक संज्ञा शब्द भी अपने विशिष्ट प्राकृत, अवहट्ट और प्राचीन मैथिली रूपोंमें कीर्तिलतामें प्रयुक्त हुए हैं, उदाहरणके लिए—अइसेओ (२।२१३ = सं अतिश्रेयस्),

८. प्राकृत–अवहट्ट के शब्द

अओका (२।१९३ = इसका)

अल्लउरि (३।११६, = एक नामांत पदवी)

अङ्गेचङ्गे (४।७०, = शरीरसे तगड़े)

अउजणे (१।४८, = उपार्जनमें)

अटलें (४।४४, = अट्टालके समान विशाल)

अणै (२।१८१, = अनीति)

अन्तावलि (४।१९६ = सं. अन्त्रावलि, अन्त्रुणि,)

अवसओ (१।२० = अवश्य)

असाए (४।९३ = दुःख)

आअत (३।५५ सं० आयत्त, = अधीन)

आकण्णन = श्रवण, १।४०

आक्रीडन्ते = आक्रीडन, अखाड़ा, २।१६

आण = आज्ञा, ४।२५

आन (सं० अन्न) = भात, २।१८५

आपे = भेंटके लिए, २।२२३

आपे रहि = एकान्त भेंट, दरबार खासमें मिलना, २।२२३

आव = (सं० आयु), ३।१४८

आवट्ट वट्ट (आवर्त वर्त्म) = दायें घूमनेवाला मार्ग, २।८४

इअरो = दूसरा, इतर, १।४९

इड्डिका = भेड़, ४।११४

इत्थन्तर (सं० अत्रान्तर) = इस बीचमें, ३।६३

उँअआरे (सं० उपकार), २।३९

उँगार (सं० उत्कर) = समूह, २।१०८

उँवार = रक्षा, ३।८८

उअसंझहि (सं० उपसंध्य) = संध्याके निकट, २।२५१
उतए (सं० उत्तान) = पिछले पैरोंपर खड़े होकर मुँह ऊँचा कर लिया, अलफ हो गये, ४।१२८
उपलु = निकला, आया हुआ, ४।८
उव्वेअ (सं० उद्वेग), ३।५४
उरिधाने = एक प्रकारका वाद्य, २।२०६
एथ्यन्तर (सं० अत्रान्तर) = इस बीचमें, ३।४५
ओआरापारा = वारपार, ४।१८०
ओत्थविअ (सं० अवस्तृत > प्रा० ओच्छइय, ओत्थइअ) = आच्छादित, ४।१८८
ओवरी = एकान्त गृह, २।९७
ओल (सं० अतुल = अनुपम), २।१२६
औकीहाट (सं० अवक्रीता हट्ट = पण्य स्त्रियोंका बाजार, शृंगार हाट), २।१२६
कँसेरी = कँसेरोंका बाजार, २।१०१
कइकुल = कविजन, २।१४
कज्ज (सं० कार्य) = अदालती फर्याद या दरबारी अर्दास (पारिभाषिक शब्द), २।२१५, २।२२७, ३।६, ३।४९, ३।५३, ३।१३८, ३।१४४, ४।१८६
कसवट्ट = कसौटी, ३।११९
कसीस (फा० कशिश) = खिचाव, ४।६५
कहुँ = करके, (सं० कृत्वा > काउँ > कउँ, कहुँ), १।५७, ४।१२६
कहु (सं० कुतः) = किसी तरह, ३।४२, ४।१४१, ४।२२३
कांइ = कैसे, क्योंकर, १।१५
काचके = काँचके समान चमकीला, ४।४३
काचके (सं० कृत्य > दे० कच्च) = कामदार या जड़ाऊ, ४।४२

काछ (सं० कक्ष्या) = पार्श्व भाग, ४।१६
किरिस (सं० कृश) = पतला, ३।१०६
कुंडली = घोड़े की लहरिया चाल, ४।४८
कुरुआ (सं० कुरबक) = कटसरैयाका पौधा, ३।१०१
कोल = गोदमें, अभ्यन्तर, २।१२६
कौसीस (सं० कपिशीर्ष) = कंगूरे, २।९८
खअ = क्षय, नाश, १।५५
खट्वाहिंडोल = झूलती हुई शय्या, २।२४५
खण्डिआ = छोटा गुप्त द्वार, २।८५
खाण = (सं० स्थाणु), ३।१२९
खोहण = (सं० क्षोभणक) = क्षुभित करनेवाला, ४।३१
गण्डले (सं० गण्डक) = चार, ३।११२
गन्दा (सं० कंदुक) = गेंद, २।१६१
गरुवि जातरी = राजनर्तकी, २।१८६
गह (सं० ग्रह > प्रा० गह = तल्लीनता), २।१७४
गाडू = गडुआ, लोटा, २।१८३
गुग्गुरावर्त = गड़गड़ाहट, हाथीका हर्षित गर्जन, २।१०४
गेंठि (सं० ग्रन्थि), ३।३३
गोचरिभउँ = भेंटकी, ३।१५२
गोट्ठओ (सं० गोष्ठी) = समूह, २।२१२
गोओलि = गायोंके साथ घूमनेवाला। सं० गम्‌का धात्वा० बोल = गमन करना, चलना, २।१५१
चंगिम = सौन्दर्य (दे० चंगिम), ४।२२९
चक्केर = चक्राकार भौंरी, ४।३२
चक्का = व्यूह रचना, ४।१७४
चतुस्सम = एक प्रकारकी सुगन्धी, २।२४६

चांगुरे (दे० चंग) = सुन्दर, ४।४२
चांगुरे (दे० चक्कल) = विशाल, विस्तीर्ण, ४।४२
चाँकि (दे० चिक्का) = हल्की वृष्टि, फुहार, ४।१८५
चुड्डआ (दे० चुड्डप्प) = खाल, चमड़ा, २।२०३
चौस (सं० चतुरस्र) = चार दिशाएँ, ३।८१
छाँटे (देशी छन्टो) = शीघ्र, ३।१४७
छाहर (अप० छाहड) = सुन्दर, २।२१९
जं = जो, २।१२४
जं जं = जहाँ, जहाँ, ४।१३२
जं = जिस, ३।७३
जद्दो = क्योंकि, १।४६
जम्हिसाहि = जौनाशाह, ३।१८
जरहरि = जलक्रीड़ा, ४।२११
जाइ (सं० जाति) = जन्म, ४।८४
जाइआ = याचक, २।२२४
जाण = (सं० ज्ञानिन्) = जाननेवाला, ३।१०३
जालओख = जाल, गवाक्ष, २।८५
जीवधके = प्राण हरनेवालेको, ४।१५३
जीवमज्जो = जीवनके साथ, प्राण रहते, २।४७
जुअल (सं० युगल), ३।३३
जुझवा = युद्ध सम्बन्धी, ४।१०१
जोअण्णा (सं० यौवनवत्) = जवान, ४।११०
जोणापुर = जौनपुर, २।७७
झला (सं० ज्वाला, प्रा० झला) = चमक, ४।२३०
जंजोन (सं० एवम्), २।२३९
टाङ्गारे (सं० टंकार), २।१०१

टोप्परि (दे० टोप्पर) = शिरस्त्राण, टोपा, ४।२३१
ठाणा सं० स्थाणु = धनुष चलानेकी मुद्रा, ४।१८०
डड्ढिअ (सं० दग्ध), ३।११४
ढलवाइक = ढाल लिए सैनिक, ४।६९
णाअर = नागर, विदग्ध, रसिक, १।२६, २।१२३
णारओ (सं० नारक > णारअ) = नरकके जीव, प्रेतात्मा, २।१९०
ततत = गरम—गरम, २।१६८
तम्बारु = ताँबेका लोटा, २।१९८
तरट्टी = प्रगल्भ, २।१३९
तरवाल (सं० त्वरावन्त) = वेगयुक्त, ४।५१
तही (सं० तापिका) = तई, २।१६१
तातल = तप्त, गरम, २।१७५
तेतुली (सं० तावती प्रा० > अप० तेतुली) = उस, २।२८
तोरि (सं० ततः अपर) = उसके बाद, ४।१२
तोरि = ऊँचा उठाकर, ४।३४
थनवार (सं० स्थानपाल) = घोड़थानका अध्यक्ष, ४।२७
थारे (प्रा० थड्ढ) = गर्वीले, २।२२०
थेघ ४।१८
थेघ्व दण्ड = सहारेकी थूनी, टेकनेका खम्भ, ४।१७३
दवलि (सं० धवल) = सफेद, २।१७७, २।२१८
दवलि दुआरही = धवल गृह या महलका द्वार, २।२१८
दरवाल (सं० द्वारपाल), २।२३८
दारघाल = द्वार-प्रकोष्ठ, अलिन्द, २।२३८
दारघोलहि = द्वार प्रकोष्ठ, अलिन्द, २।२३८
दुन्नअ = दुर्नीति, २।१९
देउर (सं० देवकुल) = मन्दिर, २।२०७

धनहटा = जौहरी—बाजार, २।१०३
धाँगड कटकहि = धाँगड़ोंकी सेना, ४।८६
धाड़ं (सं० भ्राट = विनाश) ३।८५
धाड़ें (सं० धाटी) = सहसा धावा, आक्रमण, ३।८६, ४।८६
नकत (सं० नक्षत्र) = पर्व-उत्सव, २।१९७
नेओं (सं० नेतृ 7 प्र० णेउ) = नायक ३।५२
पइ (सं० प्रति > प्रा० पइ) = केवल, पै, २।१४
पइ = अधिक, अतिशय, ३।१६, ३।१२५
पइ = भी, ३।५७
पइ (सं० पति) = स्वामी, ४।५५
पउआ (सं० प्राकृत = जन, सामान्य मनुष्य), ३।१५९
पच्चूस (सं० प्रत्यूष) = प्रातःकाल, ३।३
पचेडा (सं० प्रचण्ड) = भयंकर, ३।८५
पटवाक = कवच, ४।१७३
पणति (सं० प्रज्ञप्ति) = व्यवस्था, ३।१४२
पतिग्गह (सं० प्रतिग्रह) = सहायता, ३।१२३
पतोहरी = कृशोदरी, २।१३९
पवित्ती (सं० प्रवृत्ति) = हालचाल, ४।२
परिचय (सं० परित्यक्त) = परित्यक्त २।१३३
परिवण्णा (सं० प्रतिपन्न) = अंगीकृत २।४३
पसाओ (०सं प्रसाद) = कृपा, ३।४४
पहुवइओ = महाप्रभु, बादशाह, ३।७
पाँतरे (सं० प्रांतर) = निर्जन प्रदेश, २।६१, २।२३०
पाइआ (सं० पादातिक) = पायक, २।२२५
पाखरे (दे०पक्खड़ा) = प्रफुरित, मनमें तड़पकर, ४।१४७
पाखरे (सं० सन्नाह्यका धात्वा० पक्खर) = सज्जित करके, ४।१४७

पाखर = घुड़सवार सेना, ४।१६९
पाट (सं० पट्ट = पट्टा, लम्बा निशान, तिलक), ४।५०
पाटि (सं० पट्टो) = बसा हुआ प्रदेश, २।६१
पारारी (सं० परकीय) = पराई, ४।१७८
पिउवा (सं० पितृपति) = यमराज, ४।१०१
पूर = घोड़ेकी भौंरी, ४।३२
फरिआइक = फरय नामक अस्त्रधारी सैनिक, ४।७०
फालहीं (प्रा० फाल) = फलान, कुदान, ३।७१
फुलुग (सं० स्फुलिंग) = चिनगारी, ४।१८२
फेक्कार = शृगालकी आवाज, ४।२००
बंध = घोड़ेकी गर्दनके पीछेका भाग, ३।१२८, ४।३०
वकवार = टेढ़ा द्वार, किलेका घूघस, २।८३
वकहटी = बाँकीहट्टी या सराफा, २।९७
वथ्थु (सं० वास्तु) = रहनेका स्थान, ४।११७
वन्हीं = वर्णिनी, यशस्विनी, २।१३९
वब्बरा = कुटुम्बी, किसान, २।९०
वरआँगे (सं० वरांग) = मस्तक, २।२०७
वाँकुले (दे० वक्कलय पुरस्कृत, आगे किया हुआ), ४।४३
वाँकुले (सं० वक्र = बाँका), ४।४३
वानिनि (सं वाणिनी) = स्त्री, २।११६
विच्छि (दे० वच्छ) = पार्श्वभाग, ४।४०
वित्थरिअ (सं० विस्तृत), १।७५
विथ्थरिअ (सं० विस्तृत) = विस्तार किया गया, ४।५८
विवट्ट = घुमावदार, २।८४
विंभालि (सं० विह्वल) = व्याकुल करके, ४।९
बेढल (सं० वेष्टित) = लपेटा हुआ, ४।८९

वेरयल (सं० विस्तृत ∠ प्रा० वित्थल)= विशाल, ४।८
भट भेला = प्राणान्तक मुड़ भेड़, ४।२२४
भाग (दे० मग्गो) = पीछे, पश्चात्, २।१८०, २।२३६, २।१४८
मज्झुपुर = पुरके मध्यमे, २।२५१
मुरुली = मोरकी चाल, ४।४८
यन्तजोवण = यन्त्रधारागृह, २।८५
रहहिं (सं० रभसा) = उत्कण्ठा पूर्वक, २।२२६
रहि (सं० रहस ∠ प्रा० रह) = एकान्त, २।२२३
रिक्काविए (स० रिक्त ∠ प्रा० रिक्क) = रोता कर रहे थे, निकाल रहे थे, २।१६१
लंगिम (दे०) = यौवन, ४।२२९
लटक = अनियमित सेना, ४।८६, ४।१०२
लटक पटक = छोटा लडाई-झगडा, ३।९२
लानुमी = लावण्यमयी, २।१३९
संचल (सं० सम्भार > प्रा० संहर > अव० संचल = समूह) = एकत्र, ४।१०
सइअदगारे = सैयद कहलानेवाले, २।२२०
सक्कअ = संस्कृत, १।३३
सञो = से ४।२३
सञा (सं० स्वयम्), २।४१
सञो (सं० सम) = समान, ४।१६३, ४।२२४
सञो = साथ, ४।१८३, ४।१८४
सन्नगहि (सं० संज्ञाग्रह) = मुद्राध्यक्ष, ३।११७
सरमेरा (सं० मुच्का धात्वा० प्रा० मेल्ल = छोड़ना) = शिर कटाने-वाले, ४।१७१
साणो (सं० संज्ञा) = इशारा, ४।११३

साति (सं सात) = सुख, २।२३५
साति (सं शक्ति), ३।९१
सानो (सं संज्ञा) = इशारा, ४।२०४
सावर (सं० शर्बिला) = बर्छी, ४।८८
साहस (सं० साध्वस) = डरसे, २।२२९, ४।२४४
साहि (सं० सर्व ∠ प्रा० अप० सव्व, साह = सब), १।९४
सिआ (सं० शिवा) = शृगाली, ४।२००
सिआन (सं० सज्ञान) = चतुर, २।२४६
सींगिनि (सं० शृंगिन्) = सींगका बना हुआ धनुष, ४।६५
सुरुली (सं० शालूर = मेंढक, शालूरी = मेंढककी चाल), ४।४८
सेर (सं स्वैर) = स्वच्छन्दतासे, ३।२०
सोअर (सं सहोदर), ३।४३
हाथ (दे० हथ्थ) = जल्दी, २।१९०
हाथे (दे० हथ्थ) = जल्दीमें, ४।२०९
हूतह (दे० हुत्त = अभिमुख, सम्मुख), २।१०९
हेड़ा = पशुओंके झुण्डपर तहबजारी कर, २।१७६

९. कीर्तिलता में अरबी-फारसी शब्दावली

प्राकृत, अपभ्रंश और अवहट्ट शब्दावलीके अतिरिक्त कीर्तिलतामें अरबी, फारसीके शब्दोंकी भी एक धारा आयी है। लेकिन ये शब्द केवल राजदरबार, सेना और तुर्कोंकी रहन-सहनसे सम्बन्धित हैं। यह ठीक भी है क्योंकि पन्द्रहवीं शताब्दीके आरम्भमें लिखनेवाले विद्यापतिके सामने ये रात-दिन वास्तविक प्रयोगमें चालू हो चुके थे। उनको छोड़ देनेसे काव्य-की यथार्थताका स्वरूप बिगड़ जाता और भाषामें वह जान भी नहीं रह जाती, जो अब है। यह अच्छा ही हुआ कि विद्यापतिको इस बोल-चालकी शब्दावलीको अपना लेनेमें कोई झिझक नहीं हुई। एक विशेष बात ध्यान

देने योग्य यह है कि राजमहल या शाहीमहलका, जिसे विद्यापतिने 'महल-मजीद' कहा है, वर्णन करते हुए उन्होंने वर्णकके रूपमें हिन्दू युगकी संस्कृत शब्दावली और तुर्की युगकी नयी फारसी-अरबी शब्दावली दोनोंको एक साथ अपना लिया है। सांस्कृतिक दृष्टिसे ये दोनों सूचियाँ बहुत ही उपादेय हैं। इनके शब्दार्थपर हमने टिप्पणीमें विस्तृत प्रकाश डाला है। संक्षेपमें वे इस प्रकार हैं—

संस्कृत शब्दावली—१ प्रमदवन, २ प्रासाद, ३ कांचनकलश, ४ प्रमदवन, ५ पुष्पवाटिका, ६ कृत्रिमनदी, ७ क्रीड़ा शैल, ८ धारागृह, ९ यन्त्रव्यजन, १० शृंगार संकेत, ११ माधुरीमंडप, १२ विश्रामचत्वर, १३ चित्रशालिका, १४ खट्वाहिण्डोल, १५ कुसुम शैय्या, १६ प्रदीप-माणिक्य, १७ चन्द्रकान्तशिला, १९ चतुस्समपल्वल।

फारसी परम्पराकी महलसम्बन्धी शब्दावली—१ महलमजीद, २ दारखोल, ३ दवाल, ४ दरवाल, ५ दरबार, ६ दरसदर, ७ दारिगाह, ८ बारगाह, ९ निमाज-गाह, १० खारगाह, ११ फुरंगाह। तुर्कोंके जीवनसे सम्बन्धित अधिकांश शब्दावली दूसरे पल्लवमें आयी है (२।१५६–२१३)। कविने स्वयं इस अंशको तुर्कमानोंका लक्षण कहा है। कीर्तिलताकी यह शब्दावली और वर्णनके अंश मध्यकालीन सांस्कृतिक इतिहासके लिए मूल्यवान् हैं। इनसे यह सूचित होता है कि इस प्रकार प्राचीन हिन्दी भाषा अपने पेटेमें फारसी-अरबीके शब्दोंको निधड़क पचाने लगी थी। न केवल हिन्दीमें, वरन् प्राचीन बंगला और गुजरातीमें भी ऐसे शब्द घर करने लगे थे। हिन्दीके विकासका अध्ययन करनेके लिए इन शब्दोंपर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं—

अदप = अदब, ३।४१
अरदगर = महलसराका अधिकारी, ३।४१
ऊँमारा = उमरा, २।२५

उज्जीर = वजीर, ३।६
इकचोई = एक चोबी तम्बू, ४।१२०
कलामे जिअन्ता = हाफिज जिसे कुरान कंठस्थ हो, २।१७१
कलीमा = कलमा, २।७१
कसीदा = कविता, २।१७२
कादी = काजी, ४।७
कुरुवक (तुर्की कूरबेग) = शस्त्रास्त्र और शाही झंडोंका अधिकारी, ३।४१
कूजा (फा० कूज़ः) = सुराही, २।१६२, २।१९८
खत = फ़रमान, शाही हुकुम, परवाना, ४।८
खराब = नष्ट, खराब, २।१७८
खाण = खान, खाँ साहब, २।१८०, ३।३५
खासदरबार = दरबार खास, २।२३२
खीसा = बटुआ, २।१६८
खुन्दकार (फा० खुन्दकार) = काजी, ४।७३
खोआरगह (फा०) = भोजनका स्थान, २।२३९
खोजा = ख्वाजा, २।१६९, २।१९६, ४।७
खोदवरद (फा० खुदाबुर्द) = कहाँ चलना है, ४।८
खोदालम्ब = संसारके अधिपति, अर्थात् बादशाह, ३।११
खोरमगह (फा० खुर्रमगाह) = सुख मन्दिर, २।२३९
गहवर = प्रधान सेनापति, ३।४१
गन्दा (फा० गोयन्दः) = गुप्तचर, २।१६०
गरुअ मलिक = बड़े मलिक, बादशाह, ४।१५७
गालिम (अर० गिलमान) = नौजवान छोकरे, २।२१९
गुन्डा (फा० गुन्दः) = गोला, २।१७४
गोमठ = गूमठ, मकबरा, २।२०८
जन्हिसाहि = जोनाशाह, ३।१८

तकत = तख़्त, ४।१४०
तकतान (**फा० तख़्तेरवां**) = यात्राका सिंहासन, ३।६४, ३।६५
तजान (**फा० ताज़ियाना**) = चाबुक, ४।३८
तथ्थ = तश्तरी, २।१६२
तबेड़ुआ = कूँडा, २।१६२
ताजी = एक अरबी घोड़ा, ४।६२
तुरुकाणओ = तुर्कमानोंके, २।१५७
तेजि = घोड़ोंकी एक जाति, ४।२८, ४।४०
दद्स (**अर० हद्स**) = प्रेतात्माओंका दर्शन कराना, २।१९०
दुवाल (**फा० दुआल**) = चमकती तलवार, २।२३८
दरसदर (**फा०**) = राजकुलका मुख्यद्वार, २।२३९
दहलेज = शाही महलकी ड्योढ़ी, ४।१०
दारिगह (**फा० दरगाह**) = शाही महलके सामनेका मैदान, २।२३९
दिरम = रुपया-पैसा, २।१७८
देमान (**फा० दीवान**) = वज़ीर, ३।४१
द्वोआ (**अर० दुआ**), २।१८९
नीमाज = नमाज़, १।१९९
नेवाला = ग्रास, २।१८२
पइज्जल्ल (**फा० पैज़ार**) = जूते, २।१६८
पएदा = प्यादा, नौजवान लड़का, २।१७९
पाइग्गह (**पायगाह**) = शाही घुड़सवार, ४।२६
पापोस (**फा० पायपोश**) = जूता, ३।१५
पेआज = फ़ीरोज़ा नामक रत्न, २।१६५
फरमाण = शाही हुक्म, ३।१५७, ४।१४१
बजारी = बाज़ार, २।१५८
बल्लीअ = वली, २।१६९

बाँग = नमाजके लिए पुकार, अजान, २।१९४

बाजू = तरफ़, २।१६४

बारिग्गह (फा० बारगाह) = दरबारी शामियाना, ४।१२१

बिसवासि (अर० बसवासी) = शैतान, २।७

बेलक = एक प्रकारका बाण, ४।७८, ४।१८४

बेलके = एक प्रकारका बाण, ४।१७९

मषडूम = मख़दूम, ४।७

मषदूम = मुसलमानी धर्मगुरु, २।१९०

मगार्ना (फा० मकानी) = ऊँचे पदवाला, ४।१५७

मगोल = मुगल, ४।७२

मतरूफ = तारीफ़का गाना, प्रशंसा गान, २।१८६

मुलुका = मलिक, सरदार, २।२१७

लसूला = लहसुनिया, एक रत्न, २।१६५

लामे (अर० लहमा) = क्षणभर, २।२२३

सइअदगारे = सैयद कहलानेवाले, २।२२०

सरइचा (अर० शिराअचः) = एक विशेष प्रकारका राजकीय तम्बू, ४।१२०

सरमाणा (फ० शरवान) = शाही शामियाना, ४।१२०

सरर्मा = शरमदार, ४।१७१

सालरा = मांसकी तरकारी, २।१८१

सुरताण = सुलतान, १।७३, ३।१५८

सेरर्णा (फा० शीरीनी) = मिठाई, प्रसाद, २।१८८

हसम (अर० हश्म) = पद सेना, पैदल फ़ौज, ४।७, ४।१५४

१०—अवहट्ट भाषा

विद्यापतिने संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट और देशी इन चार भाषाओंका स्पष्ट उल्लेख किया है। ये उनके समयमें साहित्यिक माध्यमके रूपमें प्रचलित थीं। जहाँ तक कीर्तिलताका सम्बन्ध है, उसमें मंगलाचरण एवं पुष्पिकाके श्लोक संस्कृतमें हैं। पुस्तकका अधिकांश भाग अवहट्टमें है और कुछ भाग विद्यापतिकी समकालीन प्राचीन मैथिली भाषामें है जिसे विद्यापतिने 'देसिल वयणा' कहा है। गोसाईंजीने उसीकी समकक्ष प्राचीन अवधीके लिए केवल 'भाषा' शब्दका प्रयोग किया है। भाषासे अभिप्राय उस रूपसे होता था जो बोलचालमें प्रयुक्त होती थी और पाणिनिने भी अष्टाध्यायीमें 'भाषायां' का प्रयोग इसी अर्थमें किया है। जिस समय पाणिनि अपने समयकी शिष्ट संस्कृतको भाषा कह रहे थे उस समय भी लोकमें और देहातोंमें बोलचालमें काम आनेवाली अनेक बोलियाँ विद्यमान थी या अस्तित्वमें थीं। बौद्ध त्रिपिटकोंकी पाली भाषा और प्राचीन जैन आगमोंकी अर्धमागधी भाषा वैसी ही दो बोलियाँ थीं। इसके लगभग डेढ़ सौ वर्षोंके भीतर ही अशोकके लेखोंकी भाषाका रूप मिलता है जो संस्कृतसे भिन्न लोककी एक बोलीका ही रूप था, जो पाटलिपुत्रके आस-पास बोली जाती थी। अशोकके रनिवासमें और सम्भवतः उसके राज-काजमें इसीका प्रयोग होने लगा था। लगभग इसी समयका एक दूसरा प्रमाण कात्यायनका एक वार्तिक है जिसमें उसने 'आणपयति' धातुका प्रयोग करते हुए लिखा है 'भूवादिपाठः प्रातिपदिकाणपयत्यादि निवृत्त्यर्थः', (सूत्र, १।३।१, वार्तिक १२)। इसपर पतञ्जलिका जो भाष्य है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि कात्यायन और पतञ्जलिके सामने दो धातु पाठ थे। एक संस्कृतका 'भ्वादि धातु पाठ' और दूसरा प्राकृतका जिसकी पहली धातु संभवतः आणपयति (संस्कृत आज्ञापयति) थी। पतञ्जलिने लिखा है—

'के पुनराणव्यादयः । आणपयति वट्टति वड्डतीति' (महाभाष्य, १।३।१) । इससे ज्ञात होता है कि आणपयति, वट्टति, वड्डति आदि एक पूरा धातु पाठ ही पतञ्जलिके सामने था जो इस समय उपलब्ध नहीं । पतञ्जलिने इतना और लिखा है कि संस्कृतकी भ्वादि धातुएँ तो शिष्ट प्रयुक्त थीं, अर्थात् शिष्टोंकी भाषा संस्कृतमें प्रयुक्त होती थीं और आणपयति आदि धातुएँ शिष्टप्रयोग या संस्कृतसे बहिर्भूत थीं । यद्यपि लोककी बोल-चालमें उनका अस्तित्व दृढ़ था और बहुत लोग उनका प्रयोग भी करते रहे होंगे—

शिष्टप्रयोगाद् आणपयत्यादीनां निवृत्तिर्भविष्यति, स चावश्यं शिष्टप्रयोग उपास्यो येऽपि पश्यन्ते तेषामपि विपर्यासनिवृत्त्यर्थः । लोके हि कृष्यर्थे कर्सि प्रयुज्यते हृश्यर्थे च हसिम् (महाभाष्य, सूत्र १।३।१, वार्तिक १२) ।

यहाँ भाष्यकारने स्पष्ट ही शिष्ट भाषा और लोक भाषाका भेद सामने रखा है । शिष्ट भाषासे उनका तात्पर्य संस्कृतसे था और संस्कृतके अलावे और सब भाषाएँ या बोलियाँ लोक भाषाके अन्तर्गत आती थीं । इन्हींको उस समय प्राकृत या अपभ्रंश इन दोनों नामोंसे पुकारा जाता था । लोकमें प्रयुक्त शब्दावलीको सामने रखते हुए पतञ्जलिने अपभ्रंश शब्दका प्रयोग किया है, जैसे—

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवो अपभ्रंशाः तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्यादयोऽपभ्रंशाः (पस्पशाह्निक) ।

अपभ्रंश शब्दका यह पहला ही प्रयोग है, जो दूसरी शती ईस्वीपूर्वमें प्रयुक्त हुआ । अवश्य ही पतञ्जलिके समयमें, उससे पूर्व कात्यायनके समयमें और उससे भी पूर्व पाणिनिके समयमें शिष्ट भाषा और लोक भाषाके भेद विद्यमान थे और लोक भाषाओंमें ही अपभ्रंशका समावेश था । जैन साहित्यमें तो कुछ बड़ी भाषाओंका और कई सौ क्षुल्लक भाषाओंका उल्लेख आता है । भारत जैसे बहुभाषी देशमें यह स्थिति वेदके समयसे ही

थी और आजतक चली आयी है। अथर्ववेदके पृथिवी सूक्तमें यहाँके बहुधाजनको 'विवाचस्' या बहुत प्रकारकी भाषाएँ बोलनेवाला कहा है। इस पृष्ठभूमिमें भारतीय संस्कृतिका विकास इस प्रकारका रहा है कि समय-समयपर कोई एक भाषा कई कारणोंके फलस्वरूप मुख्य या साहित्यिक भाषाका रूप ले लेती और तब उसका अपना नाम भी प्रसिद्ध हो जाता था। प्राकृत भाषाओंके युगमें पाली, अर्धमागधी दो मुख्य भाषाएँ पहले साहित्यिक भाषा बनीं। पीछे चलकर कुछ और भी स्थानीय प्राकृत भाषाएँ साहित्यके लिए प्रयुक्त होने लगीं। उनमें महाराष्ट्री प्राकृत और शौरसेनी प्राकृत इन दो को ऊँचा स्थान मिला और इनमे भी महाराष्ट्री प्राकृत ही 'प्राकृत' के नामसे प्रसिद्ध हो गयी क्योंकि जैन आगमोंकी अधिकांश टीकाएँ महाराष्ट्री प्राकृतमें ही बनीं और फिर तो लगभग डेढ़ सहस्र वर्षोंके लिए महाराष्ट्री ही प्राकृतके रूपमें चली। कुछ थोड़ा-बहुत प्रयोग विशेषतः नाटकोंमें शौरसेनीका भी हुआ। प्राकृत व्याकरणोंके लेखक देशभेदसे आवन्ती पैशाची (प्राचीन कश्मीरी), चूलिका पैशाची (प्राचीन पंजाबी भाषा) आदिका भी उल्लेख करते हैं पर उन बोलियोंकी रचनाएँ सुरक्षित नहीं रहीं।

इधर जब महाराष्ट्री प्राकृतने साहित्यिक रूप धारण कर लिया तब फिर लोकके बोल-चालके भीतरसे ही एक नयी साहित्यिक भाषा उभरकर ऊपर आने लगी। उसका सबसे पहला रूप कालिदासके 'विक्रमोर्वशीय' नाटकमें चौथे अंकके अपभ्रंश श्लोकोंके रूपमें मिलता है। कुछ लोग इन अपभ्रंश श्लोकोंकी प्रामाणिकतामें सन्देह करते हैं और इन्हे कालिदासका नहीं मानते। किन्तु उनका यह निजी मत हो सकता है। जहाँ तक विक्रमोर्वशीयकी हस्तलिखित प्रतियोंका सम्बन्ध है, वहाँ तक ये श्लोक अवश्य ही कविकी मौलिक रचनाके अन्तर्भूत थे। अभी हालमें डॉ० वेलणकरने विक्रमोर्वशीयका जो संशोधित संस्करण प्रकाशित किया है ये श्लोक संख्यामें इकतीस हैं उनमें-से बारह श्लोक ठेठ अपभ्रंश भाषामें

और उन्नीस महाराष्ट्री प्राकृतमें हैं। श्री वेलणकरका तो यहाँ तक कहना है कि यदि इन श्लोकोंको 'विक्रमोर्वशीय' के चौथे अंकसे निकाल दिया जाये तो उस अंकका नाटकीय महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। इसी अंकमें प्रयुक्त रंगमंच सम्बन्धी निर्देशनों से ज्ञात होता है कि ये श्लोक प्रायः चर्चरी नृत्यके साथ गाये जाते थे। चर्चरी एक लोक नृत्यका नाम था जिसे जायसीने 'चांचरि' कहा है। ज्ञात होता है कि अपभ्रंश और प्राकृतके इन प्रत्युक्ति और अन्योक्ति श्लोकोंकी रचना करते समय कालिदास एकदम ठेठ लोकके धरातलपर उतर आये थे। उस समय दोनों भाषा शैलियाँ प्रचलित थीं, एक महाराष्ट्री प्राकृतकी जिसे साहित्यिक भाषाका सम्मानित पद मिल चुका था और दूसरी अपभ्रंशकी जो अब सामने आने ही लगी थी। कालिदास जैसे लोक प्रतिनिधि कविने अपभ्रंश शैलीकी भी एक चुटकी अपनी झोलीमें डाल ली, यह उन्होंने बहुत अच्छा ही किया। कालिदासके युगसे कुछ पहले ही (लगभग तीसरी शती ई० में) पश्चिमी भारतमें आभीरोंका त्रैकूटक राज्य बन चुका था और उन्होंने उस राज्यका रघुवंशमें उल्लेख भी किया है (रघु०, ४।५९)। आभीरोंका विशेष प्रभाव भाषा शैलीपर हुआ क्योंकि यह एक ऐसी जाति थी जो राजनीतिक सत्तामें चाहे कम दिखाई पड़े किन्तु देशके बहुत बड़े भागमें व्याप्त हो गयी थी। इसका कारण इनके जीवनकी गोपालन पद्धति थी जिसके लिए इन्हें सब जगह सुविधाजनक स्थिति मिल जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अहीरोंकी अपनी बोलीका प्रभाव साहित्यिक रचनापर पड़ा और उसमें उन्होंने लोकवार्ता और लोकगीतोंकी रचना अवश्य की होगी। सम्भवतः नाच और गानके द्वारा प्रतिपालित उनका रासा साहित्य आभीर या अहीरोंकी निजी बोलीमें ही था। इसे ही उस समय अपभ्रंश कहा जाने लगा। इस विषयके कई प्रमाण सामने आते हैं। एक तो दण्डीने स्पष्ट ही कहा है कि आभीरोंकी बोली जब काव्य रूपमें आती थी तो उसका नाम अपभ्रंश हो गया—

आभीरादि गिराकाव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।

(काव्यादर्श, १।३६)

दूसरे बाणने सातवीं शतीके आरम्भिक भागमें गाये जानेवाले रासक पदोंका उल्लेख किया है। ये रास नृत्य दो प्रकारके होते थे, अर्थात् तालक रास (ताली बजाकर) और दण्डक रास (दाण्डया रास)। इनमें बीचमें एक पुरुषको रखकर नाचनेवाले आपसमें हथेली या दण्डा बजाकर मंडलाकार नाचते थे। इसीके लिए पीछे भोजने सरस्वतीकण्ठाभरणमें 'गोपाल गूजरी' रास नाम दिया है।

अपभ्रंशके सम्बन्धमें तीसरा और भी पक्का प्रमाण विष्णुधर्मोत्तर पुराणमें आया है—

संस्कृतं प्राकृतं चैव गीतं द्विविधमुच्यते ।
अपभ्रष्टं तृतीयं तु तदनन्तं नराधिप ॥

(विष्णुधर्मोत्तर पु०, ३।२।१०)

देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते ।

(विष्णुधर्मोत्तर पु०, ३।२।१२)

विष्णुधर्मोत्तर लगभग पाँचवी – छठी शतीका ग्रन्थ है और उसमें गुप्तकालीन संस्कृति का ही पूरा-पूरा वर्णन आया है। विष्णुधर्मोत्तरका यह उल्लेख लगभग या ठीक-ठीक विद्यापतिके जैसा ही है। इसमें भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रष्ट (अवहट्ट) और देशभाषा (देसिलवयना) में रचे हुए गीतोंका वर्णन है। यहाँ यह भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि कालिदासने प्राकृत और अपभ्रंशके जो श्लोक रचे थे, वे इसी परिगणनके अन्दर आ जाते हैं। इससे दो निष्कर्ष और भी निकलते हैं। पहला यह कि देशी भाषाओंके रूपमें पाँचवीं-छठी शतीके लगभग सैकड़ों भाषाएँ अस्तित्वमें आ गयीं थीं और साहित्यकार एवं वैयाकरणोंने उनकी अलग-अलग सत्ता मान ली थी। इस प्रकारकी देशी भाषाएँ उस समय संख्यामें कितनी

थीं ? इस प्रश्नके उत्तरमें विष्णुधर्मोत्तरके लेखकने तो उन्हें अनन्त या अनगिनत ही कह दिया है। मालूम होता है कि जैन लेखकों-द्वारा सात सौ क्षुल्लक भाषाओंका उल्लेख इसी समय किया गया था। यदि हम इन देश्य भाषाओंके नाम जानना चाहें तो उनमें-से बहुतोंके नाम मतंगके 'बृहद्देशी' नामक ग्रन्थसे प्राप्त हो सकते हैं जिनमें उसने संगीतकी स्थानीय ध्वनियोंके नाम गिनाये हैं। अनुमानतः वे ही नाम देशी बोलियोंके भी थे।

दूसरी उल्लेखनीय बात, जो विष्णुधर्मोत्तरके प्रमाणसे सूचित होती है, यह है कि इन देश्य भाषाओंके भीतरसे ही आभीर और गुर्जरोंके प्रभावको लेकर जो बोली साहित्यके लिए ऊपर तैर आयी वही अपभ्रंश थी। विष्णुधर्मोत्तर पुराणके लेखने फिर दूसरा बार अपभ्रष्ट भाषाके सम्बन्धमें अपने समयकी स्थितिका सबसे अच्छा वैज्ञानिक उल्लेख किया है। उसका कहना है कि अपभ्रष्ट बोलियोंके रूप अनन्त हैं क्योंकि जैसी-जैसी देश्य भाषाएँ हैं उसीके अनुसार अपभ्रंशके रूप भी हैं। इसलिए अपभ्रष्ट भाषाओंको कोई गिनती नहीं है—

देशेषु देशेषु पृथग्विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तुवक्तुम्।
लोकेषु यत्स्यादपभ्रष्ट संज्ञं ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥

(विष्णु० पु०, तृतीय खण्ड, ७।१२)

अर्थात् अलग-अलग देशमें अपभ्रष्टके भिन्न-भिन्न रूप हैं अतएव उनका लक्षण सम्भव नहीं। लोकमें इस समय जिसका नाम अपभ्रष्ट है वस्तुतः उसका अधिकार क्षेत्र देश्य भाषा जाननेवालोंके हाथमें है।

इस अपभ्रंश या अपभ्रष्ट भाषामें गुप्त युगके तीन सौ वर्षों (४०० ई०–७०० ई०) में क्या रचनाएँ हुईं इसका पूरा लेखा-जोखा अभी सामने नहीं आया। किन्तु आशा है कि प्राकृत साहित्यके इतिहासके और पिछली उधेड़बुन करनेपर अपभ्रंशके विषयमें अधिक प्रकाश पड़ सकेगा।

पर जब हम आठवीं शतीमें पहुँचते हैं तो अपभ्रंश साहित्यकी वास्त-

विक कृतियोंके युगमें पहुँच जाते हैं। सौभाग्यसे सिद्ध आचार्योंका बनाया हुआ वह अपभ्रंश साहित्य गान और दोहोंके रूपमें आज भी बच गया है। इनमें सरहपाद बहुत अच्छे कवि और सन्त थे। उनके रचे हुए अपभ्रंशपद प्रकाशमें आये हैं। उन्हें हरप्रसाद शास्त्री, वग्ची, शाहिदुल्ला और राहुल-जीने प्रकाशित किया है। सरहपादके पद तो इतने सम्मानित माने गये कि तिब्बतीमें भी उनका अनुवाद हुआ, जो राहुलजीको प्राप्त हुआ था और उन्होंने 'सरहपाद दोहा'के नामसे प्रकाशित किया। आठवींसे दसवीं शतीतक सिद्ध आचार्योंका युग अपभ्रंशका स्वर्णयुग था। सिद्धोंके अलावा पश्चिमके राष्ट्रकूट राजाओंके राज्यमें भी अपभ्रंश भाषा और साहित्यको अच्छा सम्मान मिला। इस समयतक जैन आचार्योंने प्राकृतकी तरह ही अपभ्रंशको भी अपनी साहित्यिक रचनाओंका माध्यम बना लिया था। इन्दु, पुष्पदन्त और धनपाल आदि कवियोंकी प्रौढ़ रचना इसी युगकी है। उनका भी भाषा और शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे अभीतक कोई अच्छा अध्ययन नहीं हुआ।

ग्यारहवीं शतीमें साहित्यिक भाषाओंकी जो स्थिति थी उसपर भोज-देवने 'सरस्वती कण्ठाभरण-'में अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि कोई संस्कृतमें और कोई प्राकृतमें रचना करते हैं। कोई जनताकी साधारण भाषामें और कोई म्लेच्छ भाषाका प्रयोग करते हैं।

> संस्कृतेनैव केऽप्याहुः प्राकृतेनैव केचन।
> साधारण्यादिभिः केचित् केचन म्लेच्छ भाषया॥
>
> (सरस्वतीकण्ठाभरण; २।७)

> संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव वापरः।
> शक्यो रचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन जायते॥
>
> (सरस्वती०, २।१०)

यहाँ भोजदेवका यह लिखना मार्मिक है कि कुछ विषय उस समय ऐसे माने जाते थे कि उनकी रचना केवल अपभ्रंश भाषामें ही सम्भव थी।

अवश्य ही इनमें रासक-काव्योंकी और कथा-काव्यों या चरित-काव्योंकी गिनती प्रायः होती होगी। इन्हीमें वे वेलि-काव्य भी आते है जिनका एक बहुत अच्छा अपभ्रंश भाषाका उदाहरण भोजके ही समयका 'राउल बेलि' नामक काव्य है, जो धाराकी सरस्वती पाठशालामें शिलालेखके रूपमें उत्कीर्ण करके लगाया गया था और इस समय बम्बई संग्रहालयमे सुरक्षित है। भोजका यह भी कहना है कि कुछ लोग पैशाची, कुछ लोग शौरसेनी और कुछ लोग मागधी भाषाको पसन्द करते थे किन्तु गुर्जर लोग केवल अपभ्रंश भाषासे ही सन्तुष्ट होते थे—

अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः।

(सरस्वती०, २।१३)

दशवीं शतीके लेखक राजशेखरने लिखा था कि राज सभा या कवि-समाजमे उत्तरकी ओर संस्कृतके कवि, पूरबमे प्राकृतके कवि और पश्चिममे अपभ्रंश के (**पश्चिमेन अपभ्रंशिनः कवयः**) कवि और दक्षिणमें भूत-भाषा या पैशाचीके कवियोंको स्थान देना चाहिए, (काव्य मीमांसा, अध्याय १०)। राजशेखरका यह भी कहना है कि मारवाड़, टक्क देश (पंजाब), भादानक (सम्भवतः बयाना-भरतपुर) के लोग अपभ्रंश भाषाको पसन्द करते हैं।

(**सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च**, काव्य-मीमांसा, अध्याय १०)। इस प्रकार भाषा और साहित्यके इतिहासकी दृष्टिसे यह प्रमाणित होता है कि ग्यारहवी शतीके आरम्भ होते-होते अपभ्रंश भाषा-संस्कृत और प्राकृतके सदृश ही अपने लिए सम्मानित स्थान बना चुकी थी। उस समय तक उसमे साहित्यिक रचनाकी भी एक राशि संचित हो चुकी थी। उसी समय भोजदेवका यह लिखना कि प्राकृतमे भी यद्यपि स्वाभाविक मिठास है पर अपभ्रंश सुभव्य है (**प्रकृतमधुराः प्राकृतधुराः सुभव्योऽपभ्रंशः**, सरस्वती०, २।१६)। उस युगकी एक विशेष पद्धतिकी

और भी भोजने ध्यान दिलाया है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, शौरसेनी आदि भाषाओंकी कई तरहकी मिली-जुली खिचड़ी कविता भी रची जाती है। उसके छह भेद थे। उनमें-से एकको उन्होंने 'अपभ्रष्टा' जाति कहा है। इसीपर उनकी जो टीका है उससे ज्ञात होता है कि अपभ्रंशको ही उस समय अपभ्रष्टा कहने लगे थे। वैसे तो अपभ्रष्ट, यह नाम विष्णुधर्मोत्तरकी साक्षीके अनुसार गुप्त युगसे ही शुरू हो गया था। कभी शुद्ध अपभ्रंशमें कविताकी जाती थी जैसे—

लइ वप्पुल पिय दुद्धं कत्तो अम्माणहुं छाल्लि।
पुत्तहुमत्थे हत्थो जइ दहि जम्मंवि जअ आसु॥

अर्थात् हे प्यारे! ले दूध पीले। हमारे यहाँ मट्ठा कहाँसे आया? पूतके सिरपर हाथ धरकर कहती हूँ कि जन्म-भरमें हमारे यहाँ दही नहीं हुई।

कभी-कभी संस्कृत, महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं-को मिलाकर भी कविता की जाती थी। उसे तिल-तण्डुलकी मिलावटी जैसी खिचड़ी भाषा कहते थे। **सोऽयं संस्कृतमहाराष्ट्रापभ्रंशयोगस्तिलतण्डुलवत्संकीर्णा जातिः (सरस्वती०, २।७, पृष्ठ १४७)** अथवा केवल प्राकृत या अपभ्रंश भाषाओंकी एक ही श्लोकमें मिलावटसे भी कविता होती थी (एवं प्राकृतापभ्रंशसंकरोऽपि द्रष्टव्यः)। जान पड़ता है कि ग्यारहवीं शतीके लगभग जो पहलेकी अपभ्रंश थी वह विभक्ति आदि चिन्होंकी दृष्टिसे और भी अधिक घिस गयी और उसे ही कभी अपभ्रंश और कभी अपभ्रष्टा कहने लगे। भोजने इस अपभ्रष्टाका एक उदाहरण दिया है—

मुद्धे गहणअं गेण्हउ तं धरि मुद्दं णिए हत्थे।
णिच्छउ सुन्दरि तुह उवरि मम सुरअप्पहा अत्थि॥

हे मुग्धे, तू इस गहनेको ले और निज हाथमें यह अंगूठी पहन ले। हे सुन्दरि, तेरे ऊपर मेरी सुरतिस्पृहा है। इस श्लोकमें तुह, घरि, णिच्छउ, गेण्हउ आदि प्रयोग ध्यान देने योग्य है क्योंकि वे देश्य भाषाओंकी प्राचीनतम व्याकरणकी ओर झुके हुए हैं। भोजका कहना है कि अप-शब्दोंके अधिकाधिक प्रयोगसे अपभ्रष्टा भाषाका यह रूप बनने लगा था (सेऽयं अपशब्दप्रयोगतोऽपभ्रष्टा)। और न केवल मूर्ख बल्कि पढ़े लिखे श्रोत्रिय भी इस तरहकी अपभ्रष्ट भाषामें रुचि लेने लगे थे (अविद्वभिः श्रोत्रियाद्यैः प्रयुज्यत) और इसे अपभ्रष्ट मानते हुए भी इसके साधुत्वमें किसीको सन्देह नहीं रह गया था (अस्यापि चानुकरणे साधुत्वं इष्यते), अर्थात् इस अपभ्रष्ट भाषामें अपशब्दोंकी भरमार होते हुए भी श्रोत्रिय या संस्कृतज्ञ पण्डितोंकी दृष्टिमें भी इसमें कोई दोष नहीं रह गया था।

बारहवीं शतीके मध्यभागमें आचार्य हेमचन्द्र हुए जिन्होंने अपभ्रंश भाषाके परिनिष्ठितरूपका विस्तृत व्याकरण लिखा, जो साहित्यक अपभ्रंशके परिचयके लिए प्रमाण भूत है।

किन्तु बारहवीं शतीमें ही गाहडवाल नरेशोंके राजपण्डित दामोदरने अपने 'उक्तिव्यक्ति' प्रकरणमें जिस भाषाको संस्कृतके माध्यमसे सिखाया है, वह इसी प्रकारकी अवहट्ट है, जो व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध अपभ्रंशसे कुछ आगे निकल चुकी है। और जो देश्य भाषाओंकी ओर अधिक झुकती हुई जान पड़ती है। यद्यपि उसमें प्राचीन परम्परासे आए हुए प्राकृत और अपभ्रंश शब्दोंकी भरमार थी। इसी शतीके मध्यभागमें दो प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। एक तो भाषाके अवहट्ट रूपमें भाषाकी अधिकाधिक प्रवृत्ति और दूसरे प्राचीन प्रादेशिक भाषाओंके अलग विकासकी प्रवृत्ति। इस समयका प्रामाणिक साहित्य अभी प्रकाशमें नहीं आया। किन्तु जान पड़ता है कि इन दोनों शैलियोंका विकास अलग-अलग और मिलकर भी होता गया, जैसे बारहवीं शतीके अन्तमें चन्द कविने जो 'पृथिवीराजरासो' लिखा वह अपभ्रंश या अवहट्ट प्रधान शैलीको अपनाकर ही लिखा गया था।

यद्यपि बहुत सम्भव है कि उसमें प्राचीन राजस्थानी व्याकरणरूपोंको भी पर्याप्त स्थान मिला हो। चौदहवीं शतीके आरम्भमें चित्तोडके राणा हम्मीरके चरित्रको लेकर एक रासो ग्रन्थ बना था। हिन्दीके इतिहासमें उसके लेखकका नाम शार्ङ्गधर बताया जाता है। हम्मीर और अलाउद्दीनका युद्ध १३०२ ई० के लगभग हुआ जिसमें शकबन्धी हम्मीर वीर गतिको प्राप्त हुए। उसीके कुछ समय बाद शार्ङ्गधरने यह रचना की होगी। मूल हम्मीर रासो अब प्राप्त नहीं है। किन्तु उसके कुछ छन्द चौदहवीं शतीके मध्यभागमें लिखे हुए ग्रन्थ 'प्राकृत पैङ्गलम्' में सुरक्षित रह गये हैं। प्राकृत पैङ्गलम्के जो हम्मीर सम्बन्धी छन्द हैं उनका मूलस्रोत शार्ङ्गधर-प्रणीत हम्मीररासोके अतिरिक्त और कुछ सम्भव प्रतीत नहीं होता। प्राकृत पैङ्गलम्की भाषाको उत्तर कालीन अपभ्रंश या अवहट्ट कहना अधिक संगत है। उसमें भाषाका जो रूप है वही मानो विद्यापतिने हूबहू कीर्तिलतामें उतार लिया है जैसे—

कुञ्जरा चलन्त आ।
अव्व आ पलन्त आ॥
कुम्मपिट्ठि कम्पए।
धूरि सूलि झम्पए॥

हाथी चलने लगे, पर्वत गिरने लगे, कछुएकी पीठ काँपने लगी, सूर्य धूलसे छिप गया (प्राकृ०, २।१९)।

किन्तु प्राकृत पैङ्गलम्के लेखकने एक बात नहीं की जो विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मिलती है। प्राकृत पैङ्गलम्के लेखकने अपने आपको अवहट्ट तक ही सीमित रखा है। भाषाकी जो दूसरी धारा देश्य शैलीकी ओर विकसित हो रही थी उससे प्राकृत पैङ्गलम् ग्रन्थ बिलकुल बचा हुआ है। किन्तु भाषाका प्रवाह तो आगे बढ़ता ही है, किसीके रोके रुकता नहीं। अतएव यह निश्चित है कि जैसे ही अपभ्रंश शब्दरूप और व्याकरणमें अधिक

स्वच्छन्द होकर अवहट्टकी ओर बढ़ी वैसे ही भोजदेवकी और उक्तिव्यक्ति रत्नाकरकी देश्य भाषा भी बहुत वेगसे अपना विकास करने लगी। यहाँ तक कि चौदहवीं शतीके प्रारम्भमें ही उसका प्राचीनतम स्वतन्त्र भाषारूप और काव्यरूप भी भली-भाँति विकसित हो गया था। इसका प्रमाण है १३७० ई० में मुल्लादाऊदका लिखा हुआ प्राचीन अवधी काव्य 'चन्दायन'। वह अब लगभग पूरा मिल गया है और जायसीकी अवधी भाषासे डेढ़ सौ वर्ष पूर्वकी व्याकरण-परिशुद्ध और रूप-परिनिष्ठित अवधीका पूरा उदाहरण उससे प्राप्त हो जाता है।

जैसे प्राचीन अवधीमें वैसे ही प्राचीन मैथिलीमें भी भाषाके और काव्यके रूपोंका विकास चौदहवीं शतीमें परिपूर्ण हो चुका था। उसके दो प्रमाण हैं। एक तो ज्योतिरीश्वर ठक्कुर फेरू कृत 'वर्णरत्नाकर' नामक प्राचीन मैथिलीका सुन्दर गद्य ग्रन्थ जो चौदहवीं शतीके अन्तमें लिखा गया। उसी तरहकी गद्यशैलीमें 'लोरिक' नामक लोककाव्य निर्मित हुआ जिसका उल्लेख वर्णरत्नाकरमें आया है। दूसरा प्रमाण उमापति कविका 'पारिजात हरण' नामक कीरतनिया नाटक है, जिसमें प्राचीन मैथिलीके बीस पद नाटकके बीच-बीचमें कथाका सारांश देते हुए दिये गये हैं।

इस प्रकार ज्योतिरीश्वर ठक्कुरके दो पीढ़ी बाद पन्द्रहवीं शतीके आरम्भमें जब १४२०ई० के लगभग विद्यापति लिखने बैठे तो उनके सामने भाषाओंकी दृष्टिसे वे ही पुरानी चार धाराएँ थीं जिनका उल्लेख पाँचवीं शतीके विष्णुधर्मोत्तरने और ग्यारहवीं शतीके भोजदेवने किया है, अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट और देशी। किन्तु संस्कृत और प्राकृतके प्रति जनताका उतना अनुराग अब वैसा नहीं रह गया था, जैसा विद्यापतिने स्पष्ट लिखा है—जैसा देशी भाषा और अवहट्टके प्रति—

देसिल वयणा सब जन मिट्ठा।
तें तइसन जम्पउ अवहट्ठा॥ (१।३५–३६)

ये दोनों पंक्तियाँ अर्थगर्भित है। इनका स्पष्ट अर्थ यह ही हो सकता है—

देशी भाषा सबको मीठी लगती है। इसी कारण इसीके जैसी मीठी अवहट्ट भाषामें भी मैं कविता कर रहा हूँ। इसका यही अभिप्राय ज्ञात होता है कि विद्यापतिके सामने जो कविताकी दो धाराएँ आयी थीं, अर्थात् एक ज्योतिरीश्वर ठक्कुरवाली और दूसरी प्राकृतपैङ्गलम्वाली, एक प्राचीन मैथिलीकी और दूसरी प्राचीन उत्तर कालीन अवहट्टकी, उन दोनोंको एक साथ अपनाकर विद्यापतिने एक नयी प्रकारकी संकीर्ण या मिश्र शैलीमें काव्य रचना की, उदाहरणके लिए—

कह कह कन्ता सच्चु भणन्ता।
किमि परिसेना संचरिआ॥
किमि तिरहुत्ती होअउँ पवित्ता।
अरु असलान किक्करिआ॥ (कीर्ति०, ४।१)

इन्हीं दोनों शैलियोंके एक साथ मिलनेसे विद्यापतिकी भाषामें एक नया प्रभाव और एक नया ओज आ गया है। इस तरहकी मिश्र शैलीका सफल प्रयोग विद्यापतिकी भाषा और साहित्यकी भारी देन है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, देशी भाषा या प्राचीन मैथिली यहाँतक कि अरबी-फारसीके शब्दोंको भी उन्होंने खुलकर आने दिया है किन्तु व्याकरण-के साँचेको किसी प्रकार शिथिल नहीं होने दिया। व्याकरणका जो सबल ठाट इस प्रकारकी चौमुखी शब्दावलीके बोझको उठा सकता था उसे पूरी मात्रामें कहीं देखना हो तो हम कीर्तिलताको सामने रख सकते है जैसे—

जं सवे मंदिर देहली धनि पेक्खअ सानन्द।
तसु केरा मुख मण्डलहिं घरं घरं उग्गिअ चन्द॥
(२।१२४-१२५)

और भी—

पल्लविअ कुसमिअ फलिअ उपवन चूअ चम्पक सोहिया।
मअरंद पाण विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ॥
(२।८१-८२)

कीर्तिलतामें विद्यापतिने भाषाका जैसा विकास दिखलाया है, वह उनकी हिन्दी साहित्यको महत्त्वपूर्ण देन है। विद्यापतिकी भाषाके स्वरूपको समझनेके लिए एक ओर उसके प्राचीन अवहट्ट रूपपर ध्यान देना आवश्यक है तो दूसरी ओर प्राचीन मैथिली रूपका भी अध्ययन उतना ही महत्त्वपूर्ण है और तीसरी ओर पन्द्रहवीं शतीकी अरबी-फ़ारसीकी शब्दावलीका, जो कीर्तिलतामें आयी है, अध्ययन भी उतना ही रोचक है। यह सामग्री ऊपर दी हुई दोनों सूचियोंमें संगृहीत है।

११. कीर्तिलताके शब्दरूपोंका व्याकरण

अवहट्ट भाषाकी दृष्टिसे 'कीर्तिलता' का अध्ययन करनेके बाद पाठकका ध्यान उसके व्याकरणकी ओर भी जाता है। ज्ञात होता है कि अवहट्ट और प्राचीन मैथिली एक दूसरेके अतिनिकट आ गयी थीं और व्याकरणकी दृष्टिसे दोनोंने एक दूसरेको बहुत प्रभावित किया था। चौदहवीं शतीमें ही मैथिली या प्राचीन अवधीमें कहीं विभक्तियोंके चिह्न बिलकुल घिस गये थे और कहीं बच गये थे। दोनों विकल्प एक साथ चल रहे थे। चंदायन (१३७० ई०), पदमावत (१५४० ई०) और रामचरित मानस (१५७४ ई०) इन तीन बड़े प्राचीन अवधी काव्योंके भाषा-व्याकरणकी भी यही स्थिति है। इस विषयमें प्राकृत और अवहट्ट भाषा दोनों ही जैसे बोल-चालकी नयी शैलीके हाथों आत्म-समर्पण कर रही थीं। दोनोंके बीच एक प्रकारका समझौता हुआ, अर्थात् अवहट्टके शब्द रूप भी रक्खे जाएं और नये बोलचालके शब्दोंको भी खुल कर अपनाया जाय, यहाँ तक कि

अरबी-फारसीके शब्दोंको भी यदि वे संदर्भमें सटीक बैठते हों तो ले लिये जाएं। ऐसे ही अवहट्टके विभक्ति चिह्न जहाँ छन्दके अवरोधसे आवश्यक हों वहाँ रख लिए जाएँ और जहाँ छोड़ना इष्ट हो वहाँ छोड़ भी दिये जाएं। इस मध्यमार्गके अवलम्बनसे बोल-चालकी भाषामें नया लोच आ गया था, जो कीर्तिलतामें पूरी मात्रामें पाया जाता है।

जहाँ एक ओर विभक्ति चिह्न घिस गए, वहीं दूसरी ओर विभक्ति चिह्नोंका स्थान परसर्गोंने ले लिया। ने (प्रथमा), सउँ = से (करण), के, लागि, कारण, काज (संप्रदान), हुते, हुंते (अपादान), केर, कइ, के, का, की, को, करो (संबन्ध), मांझ, भीतर, पै, और उप्पर (अधिकरण) इन परसर्गोंका विकास पन्द्रहवीं शतीके आरम्भमें हो चुका था। विभक्ति चिह्न घिस जानेके बाद भी परसर्गोंके कारण अर्थोंकी व्यवस्थामें कोई गड़बड़ी नहीं हो पाती थी। जो उद्देश्य कई सहस्र वर्षोंमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशमें विभक्ति चिह्नोंका था, वही अब अवहट्टकी नई शैलीमें परसर्गोंसे पूरा किया जाने लगा। परसर्गोंके विकासकी प्रक्रियापर विस्तृत विवेचन तो व्याकरणके इतिहास ग्रन्थोंमें पाया जाता है, संक्षेपमें यहाँ इतना ही संकेत पर्याप्त होगा।

कर्ता—ने इसकी उत्पत्तिके विषयमें बहुत मत भेद है। ब्लाख और ग्रियर्सनके अनुसार तृतीयान्त 'ऐन' या 'तन' से होना संभव है।

कर्म—को की उत्पत्ति सं० कृतं > प्रा० कितो > किओ से हुई।

करण—सउ, सहु ∠ ,सों इनका विकास संस्कृत समं, प्रा० सवं मउं, मै० सञो, व्र० सों, सं, अप० से, स से ही सम्भव है। सञोंका प्रयोग करण एवं अपादान दोनोंमें समान रूपसे होता था।

संप्रदान—के, कृते, के लिए, सं० लग्ने ∠ प्रा० लग्गे, लग्गि, हि० लागि लगे। अथवा संस्कृत लात (ला + त), (लाय ∠ लइ ∠ लये > लिए) से भी इसकी उत्पत्ति सम्भव है।

अपादान—हुन्ति या हुन्ते या अपभ्रंश हुन्तउ, होन्त से विकसित हुआ है, जिसका मूल संस्कृत भवति, भवन्त रूप था।

सम्बन्धमे केर, करो, का,की आदि रूप सम्भवतः कृतसे विकसित हैं।

अधिकरण के कारक चिह्न मांझ, मज्झ का सम्बन्ध मध्य, मध्येसे है, एवं पर का सम्बन्ध स्पष्ट ही उपरिसे है।

कीर्तिलता में सभी प्रकारके सर्वनामोंका भरपूर प्रयोग हुआ है। उत्तम पुरुषमें हउँका प्रयोग है, उसीसे अकार प्रश्लेषके द्वारा प्राचीन मैथिली हओ प्रयोगका विकास हुआ। इसी प्रकार प्रथम पुरुषमें सो, तौन आदिके सब विभक्तियोंमें रूप मिलते हैं। सम्बन्ध वाचक जं, जओन, जेन्ने, एवं प्रश्न वाचक कओण, काइ, केण आदि प्रयोग भी पाये जाते हैं। दूरवर्ती और निकटवर्ती निश्चय वाचक ओ, ए सर्वनाम, निजवाचक अप्पण, एवं अनिश्चय वाचक केउ, केवि, कोइ आदि रूप पाये जाते है, जिनका प्रमाण सहित उल्लेख नीचे किया गया है।

कीर्तिलतामें व्याकरणकी दृष्टिसे क्रिया रूपोंकी बहुल सामग्री विद्यमान है। जब हम इनपर विचार करते हैं तो कई तथ्य सामने आते हैं। एक तो जिन्हे विशेषतः प्राकृत और अपभ्रंशकी क्रिया माना जाता था और जिन्हे हेमचन्द्र आदि प्राकृत वैयाकरणोंने प्राकृत धात्वादेशकी संज्ञा दी है, वे धातुएँ अवहट्ट भाषा और प्राचीन अवधी, मैथिली आदिके क्षेत्रमें एक प्रकारसे छा गयीं थीं। कीर्तिलतामें यह प्रभाव स्पष्ट है। ऐसी बत्तास क्रियाओंकी एक सूची हमने अलग दी है, उनमेंसे कुछ तो जायसी और तुलसीकी भाषामें भी चली आयीं और आजकी बोलचालमें भी आ गयी हैं, किन्तु कुछ धातुएँ तो कालान्तरमें लुप्त ही हो गयीं, जैसे ज्ञाका धा० णच्चा, नचावहि, नचाना = पहचानना (४।११७), पलु (प्रकटय् का धात्वादेश पल = प्रकट करना, ४।१०४), पेल्ल (संस्कृत पूरयका धात्वादेश = पूरा करना ५२।९२), बोलए (सं व्यतिक्रमका धात्वादेश बोल = उल्लंघन

करना २।४१), बोल (गम्‌का धात्वादेश बोल्ल = चलना २।१५१), कड्ढ (संस्कृत कृष = पढ़ना, उच्चारण करना, २।१७२) ।

क्रिया रूपोंकी दूसरी विशेषता यह है, कि संस्कृतके दस गण जैसा कोई नियामक वर्गीकरण मध्यकालमें नहीं पाया जाता । धातु रूपोंकी प्रवृत्ति समान रूपताकी ओर विकसित हो रही थी । तीसरे वर्तमानकाल, भूत काल और भविष्यकालके अन्तर्गत अवान्तर भेद प्रायः नहीं मिलते । भूतकालका वाचक एक विशेष प्रत्यय 'ल' है, जिसका अत्यधिक प्रयोग मैथिली और भोजपुरीमें पाया जाता है । कीर्तिलता और वर्णरत्नाकरमें भी इसके अनेक प्रयोग हैं, जैसे देल, गेल, भेल, वयसल, चलल, हारल आदि । भविष्यमें कहीं 'स' और कहीं, 'ह' का प्रयोग है, जैसे होसइ, बुज्झिहि । भविष्य उत्तम पुरुष, एकवचनमें मैथिलीके प्रभावसे गइओ, करओं आदि प्रयोगोंमें 'व' अक्षरके साथ शब्दरूप आया है । कृदन्त संज्ञा रूप भी कई प्रत्ययोंके साथ प्रयुक्त हुए हैं, जैसे जीअना, भोअण, हेरब, बुज्झणहार । 'अछ' क्रिया अपभ्रंश कालकी विशेष क्रिया थी, जिसका पदमावतमें बहुत प्रयोग हुआ है, और कतिलतामें भी, जैसे अच्छै मन्ति विअक्खणा (३।१२७) । यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कीर्तिलताकी भाषामें क्रियाओंमें लिंग भेदका अभाव था ।

कालवाचक, स्थानवाचक, प्रकार वाचक आदि क्रियाविशेषण या अव्यय शब्दोंके विविध रूपोंकी संख्या कीर्तिलतामें बहुत है, जो आगे उदाहरणोंमें दिखाया गया है ।

संज्ञा

कीर्तिलतामें प्रायः सभी स्वरोंसे अन्त होनेवाले प्रातिपदिक या संज्ञा-शब्द मिलते हैं, जैसे—

अ—

चूअ, (२।८१) एकवचन, कर्ता कारक, पुंलिंग ।

काअ—(४।१८४) एकवचन, कर्ताकारक, पुंलिंग ।

कुञ्जर—(४।१८५), बहुवचन, सम्बन्धकारक, पुलिंग ।
आखण्डल—(१।८०), एकवचन, सम्बन्धकारक, पुलिंग ।
आ—धअ-(२।८६), एकवचन- करणकारण, पुलिंग ।
काश्रा-(४।१९४), बहुवचन, कर्ताकारक, पुलिंग ।
वन्दा (२।१६०) बहुवचन, कर्ताकारक, पुलिंग
गन्दा (२।१६१), बहुवचन, ,, ,,
घोरा (२।१५९), बहुवचन ,, ,,
मअंगा (२।१५९), ,, ,, ,,
इ—गिरि-(२।२२४), एकवचन, पुलिंग, कर्ताकारक,
गोरि (२।२०८), एकवचन, ,, ,,
गोसाउनि (२।११), बहुवचन, ,, कर्मकारक,
अगिग (३।१५०), एकवचन, ,, अधिकरण,
बैश्याह्नि (२।१३६), बहुवचन, स्त्रीलिंग, कर्ताकारक,
ई—सुरुताना (१।६४) एकवचन, पुलिंग, सम्बन्धकारक,
भिंगी (१।३७), एकवचन, स्त्रीलिंग. कर्ताकारक,
कट्टकाजी (४।१२), एक वचन, स्त्रीलिंग, करणकारक
देहली (२।१२४), बहुवचन, स्त्रीलिंग, अधिकरण
जापरी (२।१८६), एकवचन, स्त्रीलिंग, कर्ताकारक
मेरणी (= मिठाई २।१८८), एकवचन, स्त्रीलिंग, कर्मकारक
उ—सत्तु (२।२३४), एकवचन, पुलिंग, कर्ताकारक
सवतहु (२।३९), बहुवचन, पुलिंग, संबन्धकारक
सुरुतानहु (३।४५), एकवचन; पुलिंग, संबन्धकारक
पिआजु (२।१८५), एकवचन, ,, ,,
वथ्थु (४।११७), बहुवचन ,, कर्मकारक
विज्जु (४।२३०), एकवचन, स्त्रीलिंग, संबंधकारक
गोरु (४।८५), एकवचन, स्त्रीलिंग, कर्मकारक

ऊ—हिन्दू (२।१६२), बहुवचन, पुलिग, कर्ताकारक
माहू (४।२४६), एकवचन, स्त्रीलिंग, कर्ताकारक
पसू (१।४९), बहुवचन, पुंलिग, कर्ताकारक
पेआजू (२।१६५), एकवचन, पुलिग, ,,
ए—असाए (=दुःख ४।९३), एकवचन, ,, संबंधकारक
पुहविए (२।२२०), एकवचन, स्त्रीलिंग, संबंधकारक
पाए (२।५६), बहुवचन, पुंलिग, अधिकरणकारक
पलए (=प्रलय, ४।१६३), एकवचन; पुंलिग, संबंधकारक
राए (४।१६०), एकवचन ,, संबंधकारक
नाए (२।१३), एकवचन, स्त्रीलिंग, कर्ताकारक
ओ—दिसओ (१।७७), बहुवचन, स्त्रीलिंग अधिकरण कारक
गुलामो (२।१६६), बहुवचन, पुंलिग, कर्ताकारक
गामो (२।६३), एकवचन, पुंलिग, अधिकरणकारक
कुमारओ (४।५) बहुवचन, पुंलिग, कर्ताकारक
कबन्धो (४।२०३), बहुवचन, पुंलिग, कर्मकारक

कारक

हिन्दीमें कारक विभक्तियोंके लोपकी प्रक्रिया अपभ्रंशकालसे दिखाई देती है। अवहट्ट भाषा तक आते-आते तो विभक्ति-चिह्न बहुत कुछ घिस गये, एवं प्रायः विभक्तियोंका स्थान परसर्गोंने ले लिया। कीर्तिलतामें कारक विभक्तियोंसे कहीं अधिक प्रयोग परसर्गोंका हुआ है। कीर्तिलतामें विभक्तियोंको तीन वर्गोंमें बाँट सकते है, जो इस प्रकार हैं—

१—प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधन
२—तृतीया और सप्तमी
३—चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी

१—प्रायः प्रथमा, द्वितीया और सम्बोधनमें निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं, पर कहीं-कहीं इनके सविभक्तिक रूप भी प्राप्त होते हैं। कर्ता में आ, ए, ओ विभक्तियाँ मिलती हैं—

राआ पुत्ते मण्डीआ (२।२२८)
सुरतान के फरमाने (४।७)
कमण वंस को राअ (१।५९)
दुरुहुन्ते आआ वड-वड राआ (२।२१८)
सव्वउ जन पेक्खइ गुज्झ कहा (४।२३५)
पेक्खि पव्वतओ वादल (४।२४)
हिं विभक्ति कर्ममें प्रयुक्त होती है—
तुम्हे सत्तुहि मित्त (२।२७)
छड्डि संसारहीं (३।७८)
पातिसाहि आराधि (१।९३)
तब फरमाणहि वाचिअइ (४।१५४)
संबोधन में कहीं-कहीं 'हु' विभक्तिका प्रयोग हुआ है।
अरे-अरे लोगहु, विस्मृत स्वामी शोकहु, कुटिल राजनीति
चतुरहु (२।३१-३२)

(२) कीर्तिलतामें तृतीया एवं सप्तमीके लिए दो विभक्तियोंका प्रयोग हुआ है—ए, हिं। तृतीयामें, एन और एहि विभक्तियाँ भी लगती हैं।

तृतीया—'ए'—जसु पत्थावे पुत्र (१।५०)
जइ उच्छाहे फुर कहसि (१।४०)
दाने दलइ दारिद्द (१।६१)
तुम्हे दाने महि भरिअउँ (३।२९)
'एन'—पुरिसत्तणेन पुरिसो वहु (१।४६)

जलदाणेन हु जलदो (१।४७)
पुरिसो जम्ममरणेण (१।४६)
रण गमनेन (४।१०४)
जीति चामरेहि मण्डिआ (४।३८)

'हि'—पक्खरेहि साजि-साजि (४।४०)
कनअ कलसहि मण्डिआ (२।८६)

सप्तमी— 'ए'—जो अपमाणे दुक्ख ण माणइ (२।३७)
पर उँअआरे धम्म न जोअइ (२।३९)
घरे घरे उग्गिअ चन्द (२।१२५)

'हि'—तिहुअण खेत्तहिं कांइ (१।१५)

'एहि'—रुट्ठ भए रहसहि (४।८२)

(३) चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी समूहकी प्रधान विभक्तियाँ ह, हं, हुँ आदि हैं।

राअह नन्दन पाएँ (२।५२)
मेरहुँ जेट्ठ गरिट्ठ (२।४२)
[=ज्येष्ठ व्यक्ति मर्यादासे ही सम्मानित बनते हैं]
लोअह सम्नहे (२।२१६)

विभक्ति रूपमें चन्द्रबिन्दुका प्रयोग

कीर्तिलतामें विभक्तियोंके स्थान पर चन्द्रबिन्दुओंका प्रयोग देखा जाता है—

मथाँ चढ़ावए गाइक चुड्डुआ (२।२०३)
सब दिसँ पसरु पसार रूप (२।११५)
राअह नन्दन पाएँ चलु (२।५२)

तुम्हें खग्गो रिउँ दलिअ (३।२८)
तुलुक लष हरखँ हस (३।७१)
सत्तु घरँ उपज्जु डर (३।७४)

विभक्ति लोप—अवहट्ट भाषामें लुप्तविभक्तिक प्रयोग अधिकतासे मिलते हैं। कीर्तिलतामें इसके उदाहरण इस रूपमें मिलते हैं—

कर्ता कारक—दुज्जन बोलइ मंद (१।१९)
टाकुर ठक भए गेल (२।१०)
बांल घास नहु लहइ (३।११५)

कर्म कारक—महुअर बुज्झइ कुसुम रस (१।३१)
पुरुष पसंसउं वीर (१।४५)
सोखि जल किअउ थल (३।७७)
जानि धुअ संक हुअ (३।७८)

करण कारक—गोरि गोमठ पुरल महो (२।२०८)
सब्वउँ केरा रिज नयन तरुणी हेरहिं वंक (२।११९)
धअ धवलहर वर सहस पेखिअ (२।८६)

सम्प्रदान कारक—भन्धार कूट, दिगविजय छूट (४।१९)
कटकाओ तिरहुत्ति (४।१२)

अपादान कारक—साअर गिरि अन्तर दीप दिगन्तर
जासु निमित्ते जाइया (२।२२४)

सम्बन्ध कारक—वप्प वैर उद्धरिअ धुअ (१।५७)
राअ चरित्त रसाल (१।५८)
विहि चरित्त को जान (३।४७)

अधिकरण — जे सत्तु समर सम्मदि (१।५७)
जे पट्ठाइअ दस दिसओ (१।७७)

सज्जन पर उअआर मण (१।३२)

सम्बोधन—मानिनि जीवन मान सउं (१।३८)

परसर्गः—

ब्रज भाषा और खड़ी बोलीमें कर्ताकारकमें 'ने' का प्रयोग होता है। इसका प्रयोग विकृत रूपमें कीर्तिलतामें मिलता है।

कर्ताकारक—'ने' <एन्ने<एण.

पुरिस हुअउ रघुराय जेन्नें रण रावण मारिअ।
पुरिस भगीरथ हुअउ जेन्नें निअ कुल उद्धरिअउ॥
परसुराम पुनि पुरिस जेन्नें खत्तिअ खअ करिअउ॥
(१।५३–५५)

जेन्नें खंडिअ पुव्व पतिक्ख।
जेन्नें सरण न परिहरिअ, जेन्नें अत्थिज विमन न कत्तिअ।
जेन्नें असत्थ नहु भणिअ जेन्नें पाअ उस्मग्गे न दिज्जिअ॥
(१।६५–६७)

दाने गरुअ गएणेस जेन्ने जाचक अनुरंजिअ।
माने गरुअ गएणेस जेन्ने रिउ बड्डिम भंजिअ॥
सत्ते गरुअ गएनेस जेन्ने तुलिअउ आखंडल।
कित्ति गरुअ गएनेस जेन्ने धवलिअ महिमंडल॥
(१।७८–८१)

जेन्नें राएं अतुलतर विक्रम विक्रमादित्य करेओ तुलनाए।
(१।९२)

करणकारक—सहुं, सउँ,

मानिनि जीवन मान सउं (१।३८)
त्रिंध्य सओ विधिताओ (४।२३)

से,

हँसि-हँसि दाम से, (४।३६)
खोणि खुन्द ताम से (४।३७)

सम्प्रदान—

के, लागि, कारण, काज
एहि दुअअ उँद्धार के पुण्ण न देक्खओ आन (२।१९)
जासु चलाए जासु के आपे चलु सुरतान (४।६)
काहु सेवक लागु भेंठि । (२।६८)
विज्जाहर णाह मरिअ वीर जुज्झ देक्खह कारण (४।१८९)
पुन्दकार कारण रण जुज्झइ (४।७३)
बढ़ि साति छोटाहु काज (३।९१)
सरवस्स उपेक्खइ अप्प काज (३।१३२)

अपादान—

हुन्ते, हुते
दुरहुन्ते आआ वह वह राआ, (२।२१८)

सम्बन्धकारक—

१–केर,

जती पयोधर केर भर (२।१४७)
लोअन केरा वल्लहा लच्छी को विसराम (२।७८)
ताहि नगरन्हि करो परिठव ठवेन्ते (२।९५)
मध्यान्हे करी वेला (२।१०६)
तसु केरा मुख मंडलहिं (२।१२५)
सव्वउं केरा रिज नयनं (२।११९)

२—कइ ∠ कै,

थप्प थप्प थनवार कइ (४।२७)
उरिथ सिर नवइ सब्ब कइ (२।२३४–२३५)
पूर आस असवार कइ (४।५६)

३—क, का, की, को, करो.

जनि दोसरी अमरावती का अवतार भा (२।९९)
गअणेसराअ को पुत्र (२।५८)
मोगाइ राजा क वडि नामा (२।६४)
मानुष क मांसि पांसि (२।१०७)
जतो के हृदय चूर (२।११०)
वेश्यान्हि करो पयोधर (२।११०)
जन्हि के निर्माणो विश्वकर्महु (२।१२८)
जन्हि कंस धूप धूम करी रेखा (२।१३०)

अधिकरण—

माझ ∠ मज्झे,

माँझ सङ्गाम भेट हो (४।१८१)

भीतर,

जाइ मुँह भीतर जबहीं (२।१८२)
पासानं कुट्टिम भीति भीतर (२।८०)

पर, पै, उपर ∠ उप्परि,

चूह उप्पर ढारिआ, (२।८०)
सएल महि मण्डल उप्परि (२।२३२)
एहु पातिसाह सब लोअ उप्परि तसु (२।२३७)

सर्वनाम

उत्तम पुरुष—

हउँ, हओ,

पुरिस कहाणी हउँ कहउँ (१।५०)
जइ उच्छाहे फुर कहसि हउँ आकण्णन काम (१।४०)
मन्द करिअ हओ कम्म (२।१८)
कित्तिसिंह गुण हओ कओ (४।३)
हओ लावओ रणमाण (४।१४६)
मो, मोर, मेरा, महु, मझु, निअ,
कुरुम भण धरणि सुण धरण बल नाहि मो (३।६६)
मोर वअण चित्ते धरहु (२।३२)
जे करें मारिअ वप्प महु (४।२४२)
सुअण पसंसइ कव्व मझु (१।१९)
जइ सुरसा होसइ मझु भासा (१।२९)
निअ कुल उद्धरिअउ (१।५४)
लज्जाइअ निअ मनहि मन (२।१७)

मध्यम पुरुष—

तोहि, तोके, तोहें, तुम्हें, तुम्ह, तुज्झु—
ओहु सदए तोहें रज्ज धण्डिअ (३।५९)
जेहाँ तोहें ताहाँ असलान (३।१९)
अरु तोहि मारइ से पुनु काअर (४।२५०)
तव्वहुँ तोके रोष नहि (३।२३)
तुम्हे सत्तुहि मित्त कए (२।२७)
तुम्हे खगो रिउँ दलिय तुम्हें सेवइ सबे राए आवइ (३।२८)
तुम्हे दाने महि भरिअउँ तुम्हें कित्ति सबे लोए गावइ (३।२९)

अकुशल वेवहि एक्क पइ अवर तुम्ह परताप (३।१६)

कण्ण समाइस्र अमिअ रस तुज्झु कहन्ते कन्त (३।१)

पढ़म पेल्लिअ तुज्झु फरमान (३।२०)

तुज्झु दिअउ जिवदान (५।२४८)

तत, तसु, तोजे, तोंह,

क तत परिगणना पारके (४।६६)

तसु केरा मुख मण्डलहिं (१।१२५)

जइ रण भग्गसि तइ तोजे काअर (४।२४९)

ओ सधम्म तोंह शुद्ध (३।५९)

प्रथम पुरुष—सो, तौन, ते, तान्हि, ताहि आदि प्रयोग मिलते हैं।

सो—जो बुज्झिहि सो करिहि पसंसा (१।३१)

कमण वंस को राअ सो (१।५९)

तौन—गएन राए तौ वभिअ, तौन सेर विहार चापिअ (३।२०)

ते—अरु कत धाँगड देखिअथि जाइ ते (४।८४)

तान्हि—तान्हि बैश्यान्हि करो सुखसार (२।१३६)

ताहि—ताहि नगरन्हि करो परिठव (२।९५)

तेण—किमि उद्धरउ तेण (२।२)

तेन्ह—तेन्ह वेवि सहोअरहि (३।१५२)

तसु, ता, तासु, ताहिकर, तान्हि,—

तसु—तसु नन्दन भोगीसराअ (१।७०)

ता—ता कुल केरा वड्डपण (१।६८)

तासु—तासु तनय नय विनय गुन (१।७६)

ताहिकर—ताहिकर पुत्र युवराजन्हि मध्य पवित्र (१।८४)

तान्हि—तान्हि केस कुसुम वस (२।१४१)

सम्बन्ध वाचक सर्वनाम—

१—जं, जओन, जे, जो, जेन्ने

जं—जं सबे मन्दिर देहली (२।१२४)

जओन—जओन नीर पखारिआ (२।७९)

जे—जे पट्ठाइअ दस दिसओ (१।७७)

जो—जो बुज्झिहि सो करिहि पसंसा (१।३१)

जेन्ने—जेन्नें रण रावण मारिअ (१।४३)

२—जस्स, जसु, जासु,

जस्स—सो पुरिसो जस्स अज्जणे सत्ती (१।४८)

जसु—जसु पत्थावे पुत्त (१।५०)

जासु—सुअण भुंजइ जासु सम्पइ (१।४३)

प्रश्नवाचक सर्वनाम—कमण, कवण, कओण, कमने, किमि, काइ, का, को, की, केण, केन आदि हैं।

कमण—कमण वंस को राअ सो (१।५९)

नरेसर कमनं सह (३।८७)

कओण—फरमाण भेल-कओण चाहि, (३।१८)

कमने—मानव कमने लेख्खीआ (२।२२७)

किमि—किमि नीरस मन रस लइ लावउँ (१।२८)

काइ—काइ सत्तु सामथ्थ कथिअ (४।१४५)

का—का परबोधउ कमन मनावउँ (१।२७)

को—कित्तिसिंह को होइ (१।५९)

की—की कुमन्त पहु करिअ हीन (४।१४४)

केन—केन पआरे निरसिअउ (४।१४२)

केण—राउत लेख्खइ केण (४।१०५)

अनिश्चयवाचक सर्वनाम—कीर्तिलतामें कोइ, काहु, केउ, केवि और किछु आदि अनिश्चयवाचक सर्वनाम प्रयुक्त हुए हैं।

कोइ—मित्त करिअ सब कोइ (१।२१)
　　कोई नहिं होइ विचारक (२।१२)
काहु—काहु आतिथ विनय करु (२।७२)
　　काहु काहु अइसनो संक (२।१३१)
केउ—केउ अरि बाँधि धरि चरणतल अप्पिआ (३।७९)
केवि—केवि परनेमि कर (३।८०)
किछु—आन किछु काहु न भावइ (२।१८७)

दूरवर्ती निश्चय—वह और वे दोनों ही रूप दूरवर्ती निश्चय और और अन्य पुरुषमें होता है। ओ कीर्तिलतामे सर्वनाम की भाँति ही प्रयुक्त हुआ है।

ओ, ओकरा,
　ओ परमेसर हर सिर सोहइ (१।२५)
　लावण्णे गहअ गएनेस ओ देक्खि समासइ पंचसर (१।८२)
　ओकरा काजर चाँद कलंक (२।१३१)
　ओहु राओ विअक्खण तुम्हे गुणवन्त (३।५८)

निकटवर्ती निश्चय—

यह < एह, एहु-
इन < एन्ह,
　ई णिच्चइ णाअर मन मोहइ (१।२६)
　एहि दुअअ उँद्धार के पुण्ण न देक्खओ आन (२।१९)
　विश्वकर्मा एही कार्य छल (२।२४१)
　एहु णाह न राखहि गोइ (१।५८)
　कवहु एहु नहि कम्म करिअइ (२।२४)

निजवाचकः—

अपना > अप्पणउँ
अपने दोस ससंक (२।१२०)
अपनेओ जोए परारि हो (२।१९१)
वीरसिंह भण अपन मति (२।४८)
अपनेहु साँठे सम्पलहु (३।३६)
आपुकरो अहंकार सारिअ (४।४५)
कीर्तिलतामें 'सव्व' भी प्रमुख सर्वनाम है—
सव्वउँ केरा रिज नयन (२।११९)

क्रिया

यद्यपि कीर्तिलतामें क्रियाके भूत रूप ही अधिकांशतः प्रयुक्त हुए हैं, चूँकि यह एक ऐतिहासिक काव्य है, कवि इसकी घटना को 'अतीतकथाके रूपमें सुनाता है अतः ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इसके अलावा जब वह कथा वर्णन क्षेत्रमें आता है तो ऐतिहासिक वर्तमानकी क्रियाएँ भी प्रचुर रूपमें आती हैं, जो भूतकाल की सूचना देती हुई वर्तमान कालकी ही होती हैं।

वर्तमान काल—इसमें संस्कृतके वर्तमानकाल (लट् रूप) की क्रियाएँ विकसित रूपमें प्राप्त होती हैं, जिनका रूप इस प्रकार से मिलता है—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	करओ, करउँ	—
मध्यम पुरुष	करसि, करहि	—
अन्य पुरुष	करइ, करए, कर, करथि, करें,	करन्ति, हि करहिं

१—करओ (२।४६), दलओ (२।४५), कहउँ (१।५०), भणउ (१।१७), करउ (२।२०), करिअउँ (१।७४), किक्करउँ (३।११२), परबोधउँ

(१।२७), सुनिअउँ (३।३०), आदिरूप उत्तम पुरुष एकवचनमें मिलते हैं।

मध्यम पुरुष एक वचनमें मग्गसि (२।२४९), जासि (२।२४५), जीवसि (४।२४७) कहसि (१।४०) आदि रूप मिलते हैं।

वर्तमान कालके अन्य पुरुषमें करइ, कर और करए आदि रूप मिलते हैं, जिनके उदाहरण नीचे जाते हैं—

अइ—चलइ (२।७६), चिन्तइ (१।२१), चूरइ (४।१६९), छुट्टइ (४।६२) जग्गइ (३।२७), जप्पइ (१।३९), जोअइ (२।३९) आदि।

अ—कह (२।११७), निकार (२।२१०), मार (२।२११), भम (२।१७९) भेल (२।१२८), बस (२।७५), चाट (२।२०४), चाह (२।२०५), बांध (२।२०७), बिलह (२।१८८), पाव (२।१८९), रह (२।२१३)।

अए—जाए (२।२३५), चलए (२।२३०), कहए (३।१९), पुरवए (३।१११), आनए (२।२०२), भाए (२।४२), गिलिए (२।२१२), कोहाए (२।१७५), करावए (३।२६), कहए (३।१९)।

कीतिलतामे वर्तमानकालके अन्यपुरुष बहुवचनमे 'थि' विभक्तिका प्रयोग मिलता है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

हाट हिण्डए जबे आवथि (२।११३)।
सबे किछु किनइते पावथि (२।११४)।
बहुत बापुर चूरि जाथि (२।१११)।
असवार धाए पइसथि पर जुत्थे (४।१६६)।
वेगळ क रोटी दिवस गमावाथि (४।७७)।
धाञे चलथि गिरि उप्पर घोलें (४।७९)।
गो बम्मण बधे दोस न मानथि (४।८०)।
पर पुर नारि बन्द कए आनथि (४।८१)।

संस्कृतसे विशेषतः प्रभावित होनेके कारण कीर्तिलतामें संस्कृतके अन्य पुरुष बहुवचनकी 'न्ति' विभक्तिका भी प्रयोग हुआ है—

१—तौलन्ति हेरा लसूला पेआजू, (२।१६५)।

२—वसाहन्ति षीसा पइजाल मोजा, (२।१६८)।

कीर्तिलतामें अन्यपुरुष बहुवचनमें 'हि' विभक्तिका भी प्रयोग मिलता है।

१—कोनि आनहि वब्बरा (२।९०)।

२—चाहन्ते छाहर आवहि बाहर (२।२१९)।

३—चौहट्ट वट्ट पलट्टि हेरहिं (२।८८)।

४—सहहि न पारइ वेवि भर (३।२६)।

५—गोइन नहि पावहिं वथ्थु नचावहि (४।११५)।

६—वइठहिं ठामहि ठामा (४।११६)।

भूतकाल—कीर्तिलतामें भूतकालके कृदन्तज रूपोंकी प्रचुरता है, जो दो रूपोंमें दिखलाई पड़ते हैं। 'इअ' और 'इज' प्रत्ययान्त रूपोंमें 'इअ' वाले ही रूप अधिकांश प्रयुक्त हुए हैं। 'इज' वाले रूप नाममात्रके हैं।

इअ—जासु कर कह्न पसारिअ (१।५२)।

जेन्नें रण रावण मारिअ (१।५३)।

जेन्नें धवलिय महिमंडल (१।८१)।

लक्खणसेन नरेश लिहिअ (२।४)।

लज्जाइअ निअ मनहि मन (२।१७)।

खले सज्जन परिभविअ (२।१२)।

भूतकालके इन प्रयोगोंमें कहीं-कहीं अनुस्वार युक्त 'उ' और कहीं विना अनुस्वारके 'उ'का प्रयोग मिलता है।

सव करिअउं अप्प वस (१।७४)।

तं पल्लविअउँ आस (२।२५०)।

गोचरिअउँ सुरतान (३।१५२)।

एव गमिअउँ दूर दिगन्तर (३।१०३)।

जेम्हे तुलिअउ आखंडल (१।८०)।

पेक्खिअउ पट्टन चारु मेखल (२।७९)।

लोहित पित सामर लहिअउ (४।१११)।

तुज्झु दिअउ जिवदान (४।२४८)।

कहीं-कहीं 'अओ' से युक्त रूप भी मिलते हैं—

एक हाट करेओ ओल (२।१२६)।

खन एक मन दए सुनओ विअक्खण (२।१५६)।

दुट्टा करेओ दप्प चूरेओ (१।९३)।

साहि करि मनोरथ पूरेओ (१।९४)।

कीर्तिलतामें भूतकालमे क्रियाके कुछ उकारान्त रूप भी मिलते हैं, जो 'क्त' कृदन्तके रूपोंसे विकसित ज्ञात होते हैं—

१—राअह नन्दन पाएँ चलु (२।५२)।

२—पितृबैरिकेसरी जागु (२।२९)।

३—सब दिसँ पसरु पसार रूप (२।११५)।

४—धन निमिते धरु पेम (२।१३२)

५—सत्तु घरँ उपजु डर (३।७४)

इस प्रकारकी और भी क्रियाएँ कीर्तिलतामें देखी जासकती हैं। भूतकालके कृदन्तरूपोंमें इअको 'इआ' रूपमें व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति दीखाई देती है। कीर्तिलतामें इस तरह के प्रयोग भी मिलते हैं—

१—अम्बर मण्डल पूरीआ (२।२१६)

२—पअ भरे पत्थर चूरीआ (२।२१७)

३—दचलि दीआरहीं चारीआ (२।२१८)

४—गणए ण पारीआ (२।२१९)
५—जासु निमित्ते जाइआ (२।२२४)
६—तथ्यि दोआरहिं पाइआ (२।२२५)
७—भट्टा ठट्टा पेष्खीआ (२।२२६)

ल प्रत्यय का प्रयोग—कीर्तिलतामें भूतकाल में 'ल' प्रत्ययका प्रयोग किया गया है। इसके दो रूप दिखाई पड़ते हैं। पहले रूपमें यह प्रत्यय धातुओंमें सीधे रूपमें जोड़ दिया गया है और दूसरे धातुओंमें कुछ परिवर्तनके साथ। पहले प्रकारके रूप कहल, चलल आदि हैं और दूसरे प्रकार-में गेल, भेल आदि आते हैं, जैसे—

१—राअ गअनेसल मारल (२।७)
२—बुद्धि बिक्कम बलें हारल (२।६)
३—काहु वाट कहल सोअ (२।७२)
४—बहुल छाड़ल पाटि पाँतरे (२।६१)
५—तुरुक तोषारहि चलल (२।१७६)
६—कुरुवक बैसल अदप कइ (३।४१)
७—पंलि पव्वतओ वाढल (४।२४)
१—काहु सम्बल देल थोल (२।६६)
२—विश्वकर्महु भेल बड़ प्रआस (२।१२८)
३—तात भुअन भए गेल (३।३९)

भविष्यत् काल—भविष्यकालमें दो विभक्तियोंका प्रयोग हुआ है। कुछ रूपोंमें 'स' विभक्तिका एवं कुछमें 'ह' का प्रयोग हुआ है। कीर्तिलतामें इनके कुछ परिवर्तित रूप मिलते हैं।

१—जइ सुरसा होसइ मज्झु भासा (१।२९)
२—होज होसइ एक्क पइ (३।५७)
३—तुम्हे ण होसउं असहना (३।३०)

स विभक्तिवाले रूप प्रायः कम मिलते हैं किन्तु 'ह' विभक्तिवाले रूप अधिकांशतः मिलते हैं, जिनके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

१—जो बुज्झिहि सो करिहि पसंसा (१।३१)
२—किमि जिव्विह मझु माए (३।१२६)
३—बुध न धरीहइ सोक (३।१४५)
४—खल खेलत्तणं दूसिहइ (१।१८)
५—सुअण पसंसइ सब्व (१।१८)

कीर्तिलतामें 'गहओ', 'करओ' आदि क्रियाएँ भविष्य कालमें उत्तम-पुरुष, एकवचनमें प्रयुक्त हुई हैं। यहाँ इनका 'ओ' वाला रूप मैथिल भाषाके प्रभावसे हुआ है, मूल रूप करओ आदि हैं। इनके निम्न उदाहरण हैं,

१—पर पुर मारि सओ गहओ (२।४१)
२—बप्प वैर उद्धरओ (२।४३)
३—उच परिवण्णा बुझओ (२।४३)
४—उण सरणागत मुकओ (२।४४)
५—दाने दलओं दारिद न (२।४५)
६—उण नहि अक्खर मासओ (२।४५)
७—नीच समाज न करओ रति (२।४७)

कृदन्तका वर्तमानमें प्रयोग—कृदन्त रूपोंका प्रयोग वर्तमान कालमें क्रिया की तरह होता है। ये रूप धातुमें 'अन्त' (शतृप्रत्ययान्त) लगानेसे बनते हैं। इनके दो रूप दिखाई पड़ते हैं। एक त या ता के साथ और दूसरा 'अन्त' वाले। वर्तमानकालमें दोनों ही रूपोंका प्रयोग मिलता है।

१—भेअ करन्ता मम उवइ (१।२२)
२—प्रबे वे भणन्ता सराबा पिअन्ता (२।१७०)

३—कलीमा कहन्ता कलामे जिअन्ता (२।१७१)

४—कसीदा कढन्ता मसीदा भरन्ता (२।१७२)

५—कितेबा पढन्ता तुरुका अनन्ता (२।१७३)

६—ओआरा पारा बुज्झन्ता कोहाणा ठाणा जुज्झन्ता (४।१८०)

७—कइसे लागत आँचर बताल (२।१५०)

अपूर्ण कृदन्त—कीतिलता में संयुक्त क्रियाओंमें अपूर्ण कृदन्तोंका प्रयोग हुआ है, जैसे—

१—सबे किछु किनइते पावथि (२।११४)

२—जाइते वेगार धर (२।२०१)

३—पिवन्तो भमन्तो (४।१९८)

प्रेरणार्थक क्रिया—बहुत सी प्रेरणार्थक क्रियाओंका भी प्रयोग कीर्तिलतामे मिलता है, उदाहरणार्थ—

१—रूसलि विभूति पलटाए आनलि (१।१००)

२—लै बैठाव मुकदम बाहि धै (२।१८४)

३—अवस करावए मारि (३।२६)

आज्ञार्थक क्रियाएँ—कीर्तिलतामे निम्नलिखित प्रकारकी आज्ञार्थक क्रियाओंका प्रयोग मिलता है—

अ—भिंगी पुच्छइ भिंग सुन (१।३७)

वीरसिंह भण अपन मति (२।४८)

कह कह कन्ता सच्चु भणन्ता (४।१)

जाहि जाहि अनुसर (४।२५१)

उ—मेइणि साहउ (१।९१)

चिर जिवउ (१।९१)

करउ धम्म परिपाल (१।९१)

ओ—खन एक मन दए सुनओ विअक्खण (२।१५६)

हु—पुण्ण कहांणी पिअ कहहु (२।३)

अपनेहु साँठे सम्पलहु (३।३६)

मोर वअण चित्ते धरहु (२।३२)

सि—

१—जइ उच्छाह फुर कहसि (१।४०)

हि—

१—जाहि जाहि असलान (४।२४७)

२—णाह न राखहि गोइ (१।५८)

३—पेअसि अप्पहि कान (४।३)

ह—

१—सज्जह सजह रोल पलु (४।११)

२—भुञह तिरहुति राज (२।२७)

आदरार्थ आज्ञा—

१—कबहु एहु नहि कम्म करिअइ (२।२४)

२—वप्प वैर निज चित्त धरिअइ (२।२५)

पूर्वकालिक क्रिया—कीर्तिलतामें निम्न प्रकारसे पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। इनमें 'इ' प्रत्ययवाले रूप प्रचुर मात्रामें मिलते हैं—

१—पास बइसि विसवासि (२।७)

२—णाह न राखहि गोइ (१।५८)

३—मर्यादा छाँड़ि महार्णव उँठ (२।१०५)

४—देउर माँगि मसीद बाँध (२।२०७)

५—वानिनि वीथी माँडि (२।११६)

६—पिअ सख मणि पिअरोज (१।७३)

७—कीनि आनहि वव्वरा (२।९०)
८—अरि राअन्ह लच्छिअ छोलि ले (४।५६)
९—पाथरे पाथरे ठेल्लि कहुँ (४।१४७)
१०—फेरवी फोरि था (४।२०८)

ए—

१—लोअह सम्मद्दे बहु विहरद्दे (२।२१६)
२—कित्तिसिंह वर नृपति लए (३।४४)
३—रथ वहइतें काढल (४।५२)
४—धम्म गए धन्ध निमज्जिअ (२।११)

क्रियार्थक संज्ञा—इसमें तीन प्रत्ययोंका व्यवहार हुआ है, जो इस रूपमें आए हैं।

१—'अण' वाले रूप जो 'ना' के रूपमें दिखाई पड़ते हैं—

१-जीअना—सरण पइट्ठे जीअना (२।३६)
२-भोअना—मान विहूना भोअना (२।३५)
३-बटुराना—सव्वओ बटुराना (२।२२५)

२—'व या वा'

१—कहवा कमण उपाए (१।६८)
२—पेअसि पिअ हेरव (४।१२४)

३—'ए'—

१-चलए—राउत्ता पुत्ता चलए बहुत्ता (२।२३०)
२-चढावए—उपर चढावए चाह घोर (२।२०५)
३-गणए—राआ गणए न पारिअइ (४।१०५)

४-'हार'—

१-बुज्झनिहार—अक्खर बुज्झनिहार (२।१४)

सहायक क्रिया—कीर्तिलतामे अछ, रह, हो, आदि सहायक क्रियाओंका प्रयोग देखा जाता है, जैसे—

१–अछ—मेरहुँ जेट्ठ गरिट्ठ अछ (२।४२)
तसु अछए मन्ति (३।१२९)
अच्छै मन्ति विअक्खणा (३।१२७)

२–रह—डाठि कुतूहल लाम रह (२।११८)
अइ सेओ जसु परतापे रह (२।२१३)
रेंअति भेले जीव रह (३।८८)

३–हो < भू,—
इसके हुअउँ, हुअ, हो, भउँ आदि रूप मिलते है—
रअणि विरमिअ हुअउँ पच्चूस (३।३)
तपत हुअउँ सुरुतान (३।३७)
मेइनि हाहासद्द हुअ (२।८)
सन्त हुअ रोस (२।१६)
जइ साहसहु न सिद्धि हो (३।५६)
कइकुल भमि भिक्खारिभउँ (२।१४)
आण करइते आण भउँ (३।४७)

संयुक्त क्रिया—

१–पार—सहहि न पारइ (३।२६)
धरए करे पाइक पारिअ (४।१२९)
गालिम गणए ण पारीआ (२।२१९)

२–चाह—मर मागए चाह (२।१४७)
उपर चढावए चाह घोर (२।२०५)

३–पाव—किनइते पावथि (२।११४)

४–ले—थाए ले माँग क गुण्डा (२।१७४)

५–देइ—मंचो बंधि न देइ (१।१६)

६–लागु—कोपि कोपि बोलए लागु (२।३०)

कीर्तिलतामें क्रियाके प्रयोगमें लिंगका भेद नहीं पाया जाता। पुंलिग और स्त्रीलिंग दोनोंमें एक ही क्रियाका व्यवहार होता है, जैसे—

पिअ न पुच्छइ (३।११३)

मिंगी पुच्छइ मिंग सुन (१।३७)

माता भणइ ममत्तयइ (२।३३)

वीरसिंह भण अपन मति (२।४८)

विशेषण

'कीर्तिलता' में आए हुए विशेषण दो भागोंमें बाँटे जा सकते हैं। 'एक तो संज्ञासे बने हुए हैं एवं दूसरे क्रियाओंसे बने विशेषण हैं। कृदन्तज विशेषणोंमे विशेष्यकी तरह ही लिंग वचनका निर्धारण मिलता है। इसके अलावा अन्य विशेषणोंमे भी लिंग निर्धारण दिखाई पड़ता है। कीर्तिलतामें आये हुए विशेषणोंके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

अंगे-चंगे—चलु फरिआइक अंगे चंगे (४।७०)

अग्गिम—तो अग्गिम वित्तन्त (३।२)

आगरि—रूप जोव्वण गुणे आगरि (२।११५)

आडी—आडी डीठि निहारि दवलि (२।१७७)

काचले—काचले काचले नअने (४।४३)

कित्तिम—लज्ज कित्तिम कपट तारुन्न (२।१३२)

किरिस—सम्बर णित्तलिअ किरिस तनु (३।१०६)

कुटिल—शोकहु कुटिल राजनीति (२।३२)

गम्भीर—गम्भीर गुग्गुरावर्त कल्लोल (२।१०४)

गरिट्ठ—तासु कनिट्ठ गरिट्ठ गुण (१।९०)

गरुवि—गोत गरुवि जाथरी मत्त भए (२।१८६)

चल—तो चल जीवन पलटि कहु (४।२२३)

चांगुरे—कटक चांगुरे चांगुरे (४।४२)

छाहर—चाहन्ते छाहर आवहि बाहर (२।२१९)

जेट्ठ—मेरहुँ जेट्ठ गरिट्ठ अछ (२।४२)

ततत—ततत कबाबा खा दिरम (२।१७८)

तरट्टी—तरट्टी वन्ही विअक्खणी (२।१३९)

तातल—तातल तम कुण्डा (२।१७५)

नीक—नीक णीर निकेतना (२।८३)

पिच्छिल—पेम पिच्छिल नअनञ्चल (४।२१७)

बड्डिम—रिउ बड्डिम मंजिअ (१।७९)

सर्वनामिक विशेषण—इस प्रकारके विशेषणोंको दो वर्गोंमें बाँट सकते हैं—

(क) अइस—प्रकार सूचक—

अइस—अइस विधाता भोर (२।५२)

अइस नेओं उँपताप (३।५२)

अस—अस तुरुक असलान (२।१७)

ऐसो—ऐसो कटकहिं लटक वड (४।१०२)

कइसे—कइसे लागत ऑचर बतास (२।१५०)

जइसउ—जइसउ तइसउ कव्व (१।१७)

(ख) एत्तिय—परिमाण सूचक—

एत्ता—अम्हह एत्ता दुष्ख सुनि (३।१२६)

एत्ते—एत्ते लख्खण लखिअइ (१।४५)

कत—तवल शत वाज कत (३।६९)

कतन्हिक—एकहा कतन्हिक हाथ (४।८८)

कतहु—कतहु बाँग कतहु वेद (२।१९४)

कत्त—तसु वंस बडाइ कहओ कत्त (३।१३६)

संख्यावाचक विशेषण—इस कोटिके विशेषण निम्नलिखित रूपमें कीर्तिलतामें प्रयुक्त हुए हैं—

वेवि—वेवि सहोअर संग (२।५०)

एक्क—मज्झु पिआरी एक्क पइ (२।३४)

स्त्रीलिंगमें इसका प्रयोग एक्का हुआ है (वेण्डा एक्का नारि, ३।२५)

तिन्नि—तक्क कक्कस वेअ पढ़ तिन्नि (१।६०)

तीनू—तीनू काअर काज (२।३६)

तीनहु—तीनिहु शक्ति क परीक्षा (१।९९)

चारि—जिसु पणअत्तिअ पुरसत्थ चारि (३।१४०)

चारिहु—चारिहु पाए तोखार (४।४७)

पंच—जे परुख पंच बे (२।५)

पंचमी—परुख पंचमी कहिअ जे (२।५)

सात—सात बोला करो (२।२४३)

दस—जे पट्ठाइअ दस दिसओ (१।७७)

बीस—जोअण बीस दिनद्धे धावथि (४।७६)

अट्ठाइस—अट्ठाइसओ टाप वाज (२।२४३)

शत—तवल शत वाज कत (३।६९)

सहस—सहस पेखिअ कनअ कलसहि (२।८६)

हजारी—मअंगा हजारो (२।१५९)

लख्ख—जहि लख्ख घोरा (२।१५९)

अपूर्ण संख्यावाचक—ऐसे विशेषण कीर्तिलतामें बहुत कम आए हैं—

दिनद्धे—जोअथा वीस दिनद्धे आवथि (४।७६)
त्रितिय—मेअ करे त्रितिय भाग (२।१४८)

क्रम संख्या वाचक—

पढम—तम्महु मासहि पढम पक्ख (२।५)
दोसरि—जनि दोसरी अमरावती का अवतार भा (२।९९)
तेसरा—तवे मन करे तेसरा लागि (२।१४०)
पंचम—पंचम वलि जानल (१।७२)

अव्यय—

कीर्तिलतामें अव्यय रूपों की विविधता पाईजाती है—इन अव्ययोंको हम इस रूपमें समझ सकते हैं। ये अव्यय प्राय: क्रियाविशेषण रूपमें तथा विस्मय सूचक अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—

१—कालवाचक—

अज्ज—अज्ज उच्छ व अज्ज कल्लान (३।१३)
अवे—अवे करिअउ अहिमान (३।२४)
जवे—हिण्डए जवे आवथि (२।११३)
एथ्थन्तर—एथ्थन्तर वत्त विचित्त (३।४५)
इथ्थेन्तर—इथ्थेन्तर पुनु रोल पड़ु (३।६३)
ततो—ततो वे कुमारो पइट्ठे वजारी (२।१५८)
तवे—वेन्नि सम्मत मिलिअ तवे एक (२।४९)
तवहीं—गारि गाइ दे तवहीं (२।१८३)
जवहीं—जाइ मुँह भीतर जवहीं (२।१८२)
अवहि—अवहि सवहि दहु धाए (३।४२)

२—स्थानवाचक—

इअ—इअ रहहिं गणन्ता (२।२२६)
उथ्थि—उथ्थि सत्तु उथि मित्त (२।२३४)

उपर—उपर चढावए चाह घोर (२।२०५)
कहीं—कहीं कोटि गन्दा (२।१६०)
जहाँ—जहाँ जाइअ जेहे गामो (२।६३)
जही—जही लख्ख घोरा (२।१५९)
तहा—तहा सारि सज्जो (४।२०७)
निअर—दैव महु निअर आइअ (४।२२२)
पाछा—पाछा पएदा ले ले भम (२।१७९)
पीछे—पीछे जे पडिआ (४।११६)
बगल—बगल क रोटी (४।७७)
वाजू—भरे बे वि वाजू (२।१६४)
भीतर—भीतर चूह उप्पर डारिआ (२।८०)

३—रीतिवाचक—

एम—एम पेष्खिअ दूर दारषोल (२।२४८)
एमं—एमं जंपइ हसि हसि नाअर (४।२५२)
इत—आव कत इत ओराए (३।१४८)
कहु—समर सम्मदि कहु (१।५७)
जओ—कित्तसिंह सओ सिंह जओ (४।२२४)
ओओन—ओ ओओन दरबार (२।२३९)
नहिं—नहिं होइ विचारक (२।१२)
नहु—नहु दीण जम्पइ (१।४२)
पइ—मज्झु पिआरी एक पइ (२।३४)
विनु—विनु स्वामी सिन्दूर परा (२।१३३)

४—सादृश सूचक—

जनि—जनि दोसरी अमरावती का अवतार मा (२।९९)
जनु—जनु पञ्चशर करो पहिल प्रताप (२।१४५)

सओ—पलए दिट्ठि सओ पलइ (४।१६३)
समाण—संगाम कज्ज अज्जुण समाण (३।१४४)

५—विविध—

अवर—अवर तुम्ह परताप (३।१६)
अवरु—माए जम्पइ अवरु गुरु लोए (२।२३)
एवञ्ञ—एवञ्ञ दूर दीपान्तर (४।१३४)
तोरि—तो रह तोरि तुरङ्ग (४।१३)
अवस—अवस करावए मारि (३।२६)
कांइ—तिहुअण खेत्तहिं कांइ (१।१५)
अवि अवि अ—अवि-अवि अ। हाट करेओ प्रथम प्रवेश (२।१००)

६—विस्मय सूचक—

अहो-अहो—अहो अहो आश्चर्य (२।२३८)
अहह—अहह महत्तर किकरउं (३।११२)

१२. कीर्तिलताके छंद

श्री हरप्रसाद शास्त्री और बाबूराम सक्सेनाके संस्करणोंमें कीर्तिलताके छन्दोंको अनेक स्थानों पर गद्यवत् ही छाप दिया गया है। इसका कारण श्री शिवप्रसाद सिंहने ठीक ही बताया है कि नेपाल दरबारकी मूलप्रतिके (९" लम्बे और ४½" चौड़े) छब्बीस पन्नोंपर सात-सात पंक्तियाँ हैं, जिनमें गद्य और पद्यांश एक साथ लिखे गए हैं। श्री शास्त्रीजी और श्री बाबूरामजी-ने इसपर पूरा ध्यान नहीं दिया इसीलिए कीर्तिलताके शुद्ध पाठका उद्धार करनेमें गड़बड़ी हुई। श्री हजारी प्रसादजीकी प्रेरणासे श्री शिवप्रसादसिंहने पहली बार इसपर ध्यान दिया और प्रसन्नताकी बात है कि उनके संस्करणमें छन्दोंकी दृष्टिसे कीर्तिलताका मूलपाठ शुद्ध हो गया और गद्य भागको भी

उन्होंने अलग पहचान कर छापा है। उनका यह कहना भी यथार्थ है कि गद्यभागमें विद्यापतिने प्रायः संस्कृतबहुल शब्दावलीका प्रयोग किया है।

कीर्तिलतामें प्रयुक्त निम्नलिखित छंद 'प्राकृत पैङ्गलम्' में आये है, वहींसे उनके लक्षण नीचे लिखे जाते हैं—

१. दोहा, २. चउपई, ३. रड्डा, ४. गाहा, ५. छपद, ६. गीतिका, ७. भुजंगप्रयात, ८. वाली, ९. पद्मावती, १०. निशिपाल (खंजा), ११. पज्झटिका, १२. मधुभार, १३. नाराच, १४. अरिल्ल, १५. पुमानरी, १६. रोला, १७. विद्युन्माला, १८. माणवहला।

उक्त छंदोंमें प्रधान छंदोंका लक्षण इस रूपमें प्राप्त होता है।

(१) रड्डा—अपभ्रंश काव्योंका यह प्रधान मात्रिक छंद है। कीर्तिलतामें इसका प्रयोग २५ बार हुआ है। रड्डा छंदके दो भाग होते हैं। पहला भाग 'राढउ' (छन्दः कोश[1], रत्नशेखर ३४) कहा जाता है। इसे स्वयंभू, हेमचन्द्र और अन्य आचार्योंने मत्ता (मात्रा) कहा है। इसका दूसरा भाग दोहा है। इस प्रकार राढउ और दोहा इन दोनोंको मिला कर रड्डा छंदका निर्माण होता है। 'राढउ' या 'मत्ता'में पाँच पंक्तियाँ होती हैं। इन पंक्तियोंके मात्र भेदसे रड्डाके कई भेद हो जाते हैं। 'छन्दः कोश'में इसका एक ही भेद बताया गया है, जिसमें १५ + ११ + १५ + ११ + १५ मात्रायें होती हैं। इसे 'चारुसेणि' कहा गया है। किन्तु 'प्राकृत पैङ्गलम्'के अनुसार रड्डाके सात भेद होते हैं, जो इस प्रकार है—

करही णंदा मोहिणी चारुसेणि तह भद्द।
राअसेण तालंक पिअ सत्त वत्थु णिप्फंद॥

(प्राकृत पैं०, १।१३६)

१—बम्बई यूनिवर्सिटी जर्नल, २।३, पृ० ५४-६१ (नवम्बर १९३३), डा० एच० डी० वेलणकर, अपभ्रंश मीटर्स।

१— १३ + ११ + १३ + ११ + १३ = करभी
२— १४ + ११ + १४ + ११ + १४ = नन्दा
३— १९ + ११ + १९ + ११ + १९ = मोहिनी
४— १५ + ११ + १५ + ११ + १५ = चारुसेनी
५— १५ + १२ + १६ + १२ + १६ = भद्रा
६— १५ + १२ + १५ + ११ + १५ = राजसेनी
७— १६ + १२ + १६ + ११ + १६ = तालंकिनी

उपरोक्त रड्डाके भेदोंमें चारुसेनी और राजसेनी रड्डाका ही प्रायः विद्या-पतिकी 'कीर्तिलतामें' प्रयोग हुआ है। प्राकृत पैङ्गलम् में रड्डा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

पढम विरमइ मत्त दह पंच,
पअ बीअ बारह ठवहु,
तीअ ठाँइ दहपंच जाणहु,
चारिम एग्गारहहिं,
पंचमे हि दहपंच आणहु,
अट्ठा सट्ठो पूरवहु अग्गे दोहा देहु।
राअसेण सुपसिद्ध इअ रड्डु भणिज्जइ एहु॥

(प्राकृत पै०, १।१३३)

अर्थात् प्रथम चरण में पन्द्रह मात्रा, द्वितीय चरण में बारह मात्रा, तीसरे (चरण) में पन्द्रह मात्रा, चौथे में ग्यारह मात्रा तथा पाचवें में पन्द्रह मात्राएं होती हैं। इस प्रकार ६८ मात्रा पूरी करनेके बाद आगे दोहा देने पर यह प्रसिद्ध छंद 'राजसेनी' रड्डा कहा जाता है।

उदाहरणार्थ—

[१५] तक्क कक्कस वेअ पढ़ तिक्खि।

[१२] दामे दलइ दारिद [१५] परम बंभ परमत्थ बुज्झइ ।
[११] त्रित्ति वटारइ कित्ति [१४] सत्ते सत्तु संगाम जुज्झइ ।

दोहा—ओइणी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव ।
दुहु एकत्थ न पाइअइ भूवइ अरु भू देव ॥
(कीर्ति०, १।६०-६४)

कीर्तिलतामे प्रयुक्त रड्डा छंदों का विश्लेषण इस प्रकार है—

(१) पृष्ठ १७— १५ + ११ + १५ + ११ + १५ —चारुसेनी
(२) ,, २३— १५ + १२ + १५ + ११ + १५—राजसेनी
(३) ,, २५— १५ + १२ + १५ + ११ + १५—राजसेनी
(४) ,, ४१— १६ + १२ + १६ + १२ + १६—तालंकिनी
(५) ,, ४४— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(६) ,, ५१— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(७) ,, ५३— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(८) ,, ८०— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(९) ,, १५४— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(१०) ,, १५५— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(११) ,, १५७— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(१२) ,, १५९— १५ + १२ + १५ + ११ + १५—राजसेनी
(१३) ,, १६१— १५ + १२ + १५ + ११ + १५—राजसेनी
(१४) ,, १६३— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(१५) ,, १७०— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(१६) ,, १७१— १९ + ११ + १९ + ११ + १९—मोहिनी
(१७) ,, १८६— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(१८) ,, १८७— १५ + १२ + १५ + ११ + १५—राजसेनी

(१९) पृष्ठ १८९— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(२०) ,, २०२— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(२१) ,, २०४— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(२२) ,, २३५— १५ + १२ + १५ + ११ + १५—राजसेनी
(२३) ,, २९०— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(२४) ,, ३०३— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी
(२५) ,, ३१७— १५ + ११ + १५ + ११ + १५—चारुसेनी

(२) गाहा छंद—गाथा मात्रिक वृत्त है। इस के प्रथम चरण में बारह मात्राएँ, दूसरे में अठारह; तीसरे में तेरह और चौथे चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं।

पढमं बारह मत्ता बीए अट्ठारहेहिँ संजुत्ता।
जह पढमं तह तीअं दहपंच विहूसिआ गाहा॥
(प्रा० पैं०, १।५४)

जैसे—

पुरिसत्तणेन पुरिसो णहु पुरिसो जम्ममत्तेण।
जलदाणेन हु जलदो नहु जलदो पुंजिओ धूमो॥
सो पुरिसो जसु माणो सो पुरिसो जस्स अज्जणे सत्ती।
इअरो पुरिसाआरो पुछ विहूणो पसू होइ॥
(कीर्ति०, १।४६-४९)

(३) छपद—छप्पय मात्रिक छंद है। यह काव्य और उल्लाल के योग से बनता है। 'प्राकृतपैङ्गलम्' में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

छप्पअ छंद छइल्ल सुणहु अक्खरसंजुत्तउ।
एआरह तसु विरइ त पुणु तेरह णिब्भंतउ॥

बे मत्ता धरि पढम त पुणु चउ चउकल किज्जइ ।
मज्झट्ठिअ गण पंच हट्ठ बिण्ण वि लहु दिज्जइ ॥
उल्लाल बिरइ बे पण्णरह मत्ता अट्ठाइस सोइ ।
एम भणइ मुणइ छप्पअ पअ अणहा इत्थि ण किंपि होई ॥
(प्रा० पै०, १।१०५)

इस छप्पय छंद में प्रत्येक चरण मे ११ और १३ मात्राओं पर विराम होता है । आरम्भ में दो मात्रा, फिर ५ चतुर्मात्रिक गण, अन्तमें २ लघु- इस प्रकार प्रत्येक चरणमें २४ मात्राएँ होती हैं । अन्तमें दो चरण उल्लालके होते है, जिनमें १५ मात्रा पर यति होनी चाहिए । उल्लाला के प्रत्येक चरणमें १८ मात्राएँ होती है । छपद छंद छह चरणों का होता है । इस प्रकार छप्पयमें कुल मिलाकर १५२ मात्रायें होती हैं [२४ + २४ + २४ + २८ + २८] । जैसे—

पुरिस हुअउ वलिराय जासु कर कह्न पसारिअ ।
पुरिस हुअउ रघुराय जेंबे रण रावण मारिअ ॥
पुरिस भगीरथ हुअउ जेंबे निअ कुल उद्धरिअउ ।
परसुराम पुनि पुरिस जेंबे खत्तिअ खअ करिअउ ॥
अरु पुरिस पसंसओं राअ गुरु कित्तिसिंह गअणेस सुअ ।
जे सत्तु समर सम्महि कहु वप्प वैर उद्धरिअ धुअ ॥
(कीर्ति०, १।५२-५७)

(४) भुजंगप्रयात छंद—यह वर्णवृत्त है, इसका लक्षण इस प्रकार है—

अहिगण चारि पसिद्धा सोलह चरणेस पिङ्गलो भणइ ।
तीणि सआ बीसग्गल मत्तासंखा समग्गाइ ॥
(प्रा० पै०, २।१२५)

धओ चामरो रूअओ सेस सारो,
ठए कंठए मुद्धए जत्थ हारो।
चउच्छन्द किज्जे तहा सुद्ध देहं,
भुअंगापआअं पए बीस रेहं ॥

(प्रा० पै०, २।१२४)

इस छंदमें चार यगण (अहिगण) प्रत्येक पादमें होते हैं। पादके पहले दो अक्षर लघु और गुरु होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक पादमें २० मात्राएँ होती हैं। पर यह 'चउच्छन्दो' वृत्त है, अर्थात् चार छंदोंसे इसका पूरा स्वरूप बनता है। यों कुल मिलाकर १६ चरणोंमे ३२० मात्राएँ होती हैं। अन्य प्रकारसे भी यह लक्षण है कि जहाँ ध्वज (आदि लघु) तथा चामर (गुरु) हो, ऐसा चार यगण ।ऽऽ युक्त छंद अहिगण या भुजंग प्रयात होता है। पिङ्गलने इसे गलेका हार माना है। चार छंदोंसे इसका शुद्ध स्वरूप बनता है।

[भुजंग प्रयात—।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ = १२ वर्ण, २० मात्रा]

उदाहरण—

पहला छंद—ततो वे कुमारो पइट्ठे बजारी।
जही लक्ख घारा मअंगा हजारी॥
कहीं कोटि गन्दा कहीं बादि बन्दा।
कहीं दूर रिक्काविए हिन्दु गन्दा॥

दूसरा छंद—तहाँ तथ्थ कूजा तवेल्ला पसारा।
कहीं तीर कम्माण दोक्काणदारा॥
सराफे सराहं भरे बे वि बाजू।
तोलन्ति हेरा लसूला पेआजू॥

तीसरा छंद—षरीदे षरीदे वहूता गुलामो।
तुरुक्को तुरुक्कें अनेको सलामो॥
वसाइन्ति षोसा पइक्कल्ल मोजा।
ममे मीर वल्लीभ सइल्लार षोजा॥

चौथा छंद—अबे वे भणन्ता सराबा पिबन्ता।
कलीमा कहन्ता कलामे जिअन्ता॥
कसीदा कढन्ता मसीदा भरन्ता।
किनेबा पढन्ता तुरुक्का अनन्ता॥

(कीर्ति०, २।१५८—१७३)

(५) पद्मावती—यह मात्रिक वृत्त है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

भणु पउमावत्ती ठाणं ठाणं चउमत्ता गण अट्ठाआ।
धुअ कण्णो करअलु विप्पो चरणो पाए पाअ उक्किट्ठाआ॥
जइ पलइ पओहर किमइ मणोहर पीडइ तह णाअकगुणो।
पिअरह संतासइ कइ उव्वासइ इअ चंडालचरित्त गणो॥

(प्रा० पैं०, १-१४४)

'पद्मावती' ३२ मात्रा वाली सममात्रिक चतुष्पदी है। इसकी रचनामें प्रत्येक चरणमे आठ चतुर्मात्रिक गणोंकी व्यवस्था पाई जाती है। ये चतुर्मात्रिक गण कर्ण (ऽऽ, गुरुद्वयात्मक गण), करतल (।।ऽ, अंत गुरु सगण), विप्र (।।।।, सर्वलघु), चरण (ऽ।।, आदिगुरु भगण) मे से किसी तरहके हो सकते हैं। यदि पयोधर (जगण, ।ऽ।) चतुर्मात्रिक गण आजाय तो यह मनोहर नहीं होता।

उदाहरण—

खोभइ सम्मद्दे बहु विहरद्दे, अम्बर मण्डल पूरीआ।
आवन्त तुरुक्का षाण मुलुक्का, पअ भरे पत्थर चूरीआ॥

दुरुहुन्ते आआ वड वड राआ दवलि दोआरहीं चारीआ ॥
चाहन्ते छाहर आवहि बाहर गाकिम गणए ण पारीआ ॥
(कीर्ति०, २।२१६-२१९)

(६) निशिपाल—(खंजा) यह वर्णवृत्त है। पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंमें निशिपाल और खंजा दोनोंको एक ही माना गया है, किन्तु प्राकृत-पैङ्गलम्में ये दो अलग-अलग छंद हैं। कीर्तिलताका उदाहरण निशिपालसे मिलता है। इन दोनों छंदों का लक्षण प्राकृत पैङ्गलम्में इस प्रकार मिलता है—

निशिपाल छंद—हारु धरु तिण्णि सरु हुण्णि परि तिग्गणा,
पंच गुरु दुण्ण लहु अंत कुरु रग्गणा।
एत्थ सहि चंदमुहि बीस लहु आणआ,
कव्ववर सप्प भण छंद णिसिपालआ॥
(प्रा० पै०, २।१६०)

अर्थात् जिस छंदके प्रत्येक चरणमें एक हार (गुरु) तथा तीन शर (लघु) देकर इस क्रमसे तीन गणोंकी स्थापनाकर अंतमें रगण रखा जाय, अर्थात् पाँच गुरु तथा दस लघु हों (बीस मात्रा), तो उसे कविवर सर्पराज निशिपाल छंद कहते हैं।

(निशिपाल = SIII SIII SIII SIS = १५ वर्ण)

उदाहरणके लिए—

चलिअ तकतान सुरुतान इबराहिमओ (= इब्राहिमो)।
कुरुम (= कुर्म) भण धरणि सुण धरण वल नाहि मो॥
गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कंपिआ।
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ॥
(कीर्ति०, ३।६५-६८)

खंजा—यह मात्रिक वृत्त है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

धुअ धरिअ दिअवर णव गण कमलणअणि,
बुहअण मण सुहइ जु जिम ससि रअणि सोहए।
पुण विअ विरइ बिहु पअ गअवरगमणि,
रगण पर फणिवइ मण सुमरु बुहअण मोहए॥

(प्रा० पैं०, १।१५८)

जहाँ दोनों चरणोंमें नौ द्विजवर (सर्वलघु) गणों, अर्थात् ३६ लघुके बाद विराम हो तथा फिर रगण (मध्यलघु गण) हो उसे खंजा कहते हैं। यहाँ खंजा नाम नहीं दिया गया है, पर टीकाकारोंने लिखा है, 'खंजावृत्त-मिति शेषः'।

खंजावृत्त = ३६ लघु, रगण (SIS) = ३६ + ५ = ४१ मात्रा प्रति चरण।

उदाहरणके लिए—

अहि ललइ महि चलइ गिरि खसइ हर खलइ,
ससि घुमइ अमिअ वमइ मुअल जिवि उट्ठए।
पुणु धसइ पुणु खसइ पुणु ललइ पुणु घुमइ,
पुणु वमइ जिविअ विविह परि समर दिट्ठए॥ (प्रा० पैं०, १।१६०)

(७) पज्झटिका—

चउमत्त करह गण चारि ठाइँ,
ठवि अंत पओहर पाइँ पाइँ।
चउसट्ठि मत्त पज्झरइ इन्दु,
सम चारि पाअ पज्झडिअ छंदु॥

(प्रा० पैं०, १।१२५)

पज्झटिका मात्रिक वृत्त है। यह सोलह मात्रावाला सममात्रिक चतुष्पदी छंद है। इस छंदके प्रत्येक चरणके अंतमें जगण एवं चार

स्थानों पर चतुर्मात्रिक गणकी रचना होती है। इस छंदमें चारो चरण समान होते हैं तथा चौसठ मात्राएं होती हैं। उदाहरणके लिए—

तसु अछए मन्ति आनन्द खाण,
जे सन्धि भेद विग्गहउ जाण।
सुपवित्त मित्त सिरि हंसराज,
सरवस्स उपेक्खइ अह्म काज॥

(कीर्ति०, ३।१२९–१३२)

(८) मधुभार—

जसु पलइ सक्ख पअहरह एक्क।
चउमत्त बे वि महुभार एवि॥

(प्रा० पैं०, १।१७५)

यह एक मात्रिक वृत्त है। इस छंदके प्रत्येक चरणमें दो चतुर्मात्रिक गण होते है। अन्तिम चरणका चतुर्मात्रिक गण जगण होता है। जैसे—

अणवरत हाथि, मयमत्त जाथि।
भागन्ते गाछ, चापन्ते काछ॥
तोरन्ते बोल, मारन्ते घोल।
सङ्गाम थेघ, भूमिट्ट मेघ॥

(कीर्ति०, ४।१५—१८)

(९) नाराच—यह वर्णवृत है। इस छंदका लक्षण इस प्रकार है—

णरिंद जत्थ सव्वलो सुपण्ण चक्क दीसए,
पइक्क ठाम पंचमे पआ चऊ सबीसए।
पलंत हार चारु सारु अंत जस्स वट्टए,
पसिद्ध ए णराउ जंप गंध बंधु अट्टए॥

(प्रा०पैं०,२।१६८)

इस छन्दके प्रत्येक चरणमें जगण (सबल नरेन्द्र) और रगण (सुपर्ण) का क्रमशः दो बार प्रयोग होता है एवं पांचवे स्थानमें जगण (पदाति) तथा अन्तका अक्षर दीर्घ होता है। प्रत्येक चरणमें चौबीस मात्राएं और आठ लघु अक्षर (गन्ध) होते हैं।

(नाराच—ISI SIS ISI SIS ISI S) = १६ अक्षर, २४मात्रा)

उदाहरणार्थ—

अनेअ वाजि तेजि ताजि साजि साजि आनिआ।
परक्कमेहि जासु नाम दीपे दीपे जानिआ॥
विसाल कंध चारु बंध सत्ति रूअ सोहणा।
तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा॥

(कीर्ति०, ४।२८-३१)

(१०) अरिल्ल—यह मात्रिक वृत्त है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

सोलह मत्ता पाउ अलिल्लह,
बे वि जमक्का भेउ अडिल्लह।
हो ण पओहर किंपि अडिल्लह,
अंत सुपिअ भण छंदु अडिल्लह॥

(प्रा० पैं०, १।१२७)

अडिल्ल या अरिल्ला एक षोडश मात्रिक समचतुष्पदी छन्द है। इसके प्रत्येक चरणमे सोलह मात्राएं तथा सम-विषम चरणोंमे यमक होता है, जैसे नीचे कीर्तिलताके छंदमे पहले दूसरे चरणमें समान यमक है और तीसरे चौथेमे एक समान। कहीं चारों चरणोंमे एक समान ही यमक प्रयुक्त होता है, जैसा ऊपर प्राकृत पैंगलम्के लक्षणमें स्पष्ट है। इसमे कहीं भी जगण (पयोधर) का प्रयोग नहीं होता और चरणके अंतमें दो लघु अक्षर (सुप्रिय) होते हैं, इसको अरिल्ल छंद कहते हैं, जैसे—

कोटि धनुद्धर धावथि पायक
लख्ख संख चलिअउ दलवाइक।
चलु फरिआइक अंगे चंगे
चमक होइ खग्गग्ग तरंगे ।।

(कीर्ति॰, ४।६८-७१)

(११) रोला—यह मात्रिक छंद है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

पढम होइ चउवीस मत्त अंतर गुरु जुत्ते,
पिङ्गल होंते सेस णाअ तण्हि रोला उत्ते।
एग्गाराहा हारा रोला छन्दो जुज्जइ,
एक्के-एक्के टुट्टइ अण्णो-अण्णा वड्ढइ ॥

(प्रा॰ पैं॰, १।९१)

कुन्द करअल मेह तालंक,
कलरुद्द कोइल कमलु।
इंदु संभु चामरु गणेसरु,
सहसक्खो सेस मणु ।।
णाअराअ जंपइ फणीसरु,
तेरह अक्खर जं पलइ,
इग्गारह वंकेहिं ।
अक्खर अक्खर जं वढइ,
तं तं णाम कुणेहि ॥

(प्रा॰ पैं॰, १।९३)

रोला छंद २४ मात्रा वाला सममात्रिक चतुष्पात् छंद है।

इसके मध्यमें गुरु अक्षरोंसे युक्त चौबीस मात्राएँ होती हैं। रोला छंद के प्रथम भेदके प्रत्येक चरणमें ग्यारह गुरु (हार) एवं दो लघु प्रयुक्त होते

हैं। एक गुरु अक्षरके दो-दो लघुमें परिवर्तित होने पर इस प्रकार रोलाके अन्य भेद भी होते हैं, जैसे—कुंद, करतल, मेघ, ताटंक, कालरुद्र, कोकिल, कमल, इंदु, शंभु, चामर, गणेश्वर, सहस्राक्ष और शेष।

उदाहरण—

पैरि तुरंगम पार भइल गंडक के पानी।
पर बल भंजन गरुअ मलिक महमंद मगानी॥
अरु असलाने फौंदे फौंदे निज सेना सज्जिअ।
भेरी काहल ढोल तबल रण तूरा वज्जिअ॥

(कीर्ति०, ४।१५६-१५९)

(१२) विद्युन्माला छंद—यह वर्णवृत्तका छंद है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

विज्जूमाला मत्ता सोला, पाए कण्णा चारी लोला।
एअं रूअं चारी पाआ, मत्ती स्वत्ती णाआराआ॥

(प्रा० पैं०, २।६६)

विद्युन्माला छंद में सोलह मात्रा तथा चार कर्ण (गुरुद्वय), अर्थात् आठ गुरु होते हैं। इस प्रकार इसमें चार चरण होते हैं। नागराज ने इसे क्षत्रिय जातिका माना है। (ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ)।

उदाहरणार्थ—

हुङ्कारे वीरा गज्जन्ता, पाइक्का चक्का भज्जन्ता।
धावन्ते धारा टुट्टन्ता, सन्नाहा वाणे फुट्टन्ता॥

(कीर्ति०, ४।१७४-१७५)

उपरोक्त छंदोंमें वाली माणवहला और पुमानरीके लक्षण प्राकृत पैङ्गलम्मे नहीं हैं। श्री डा० वेलणकर से पूछनेपर भी उनके लक्षण प्राप्त नहीं हो सके। सम्भव है भविष्य मे किसी छंद ग्रन्थ में वे मिलें।

कीर्तिलतामें तीन छंद ऐसे हैं जिनके नाम तो दिए हैं पर लक्षण नहीं मिलते, वे इस प्रकार हैं—

(१) माणवहला,

सावर एकहा कतन्हिक हाथ।
वेत्थल कोत्थल वेढल माथ॥

(कीर्ति०, ४।८८-८९)

इसमें तीन भगण और दो गुरु हैं। यह किसी चतुष्पदी वर्ण वृत्तका आधा भाग है, जिसे मात्रातालवृत्तके रूपमें लिखा गया है। पहले पादके दूसरे भगणमें प्रथम गुरु अक्षरके स्थानमें दो लघु प्रयुक्त हुए हैं। यह अपभ्रंश कवियोंकी बहुप्रचलित रीति थी। यहाँ पहला भगण सावर है। दूसरा एकहाक है और तीसरा तह्निक है। एकहाकमें दोनों लघु माने जायेंगे और ह्रस्व एकार एवं ककारको मिलाकर प्रथम दीर्घ अक्षर माना जायेगा।

(२) वाली छंद—इसे प्रतियोंमें माणवहला भी कहा है, किन्तु वालीको माणवहलासे अलग मानना चाहिए। वालीका उदाहरण इस प्रकार है—

काहु पाती, मेलि पैठि।
काहु सेवक, लागु मैठि॥

(कीर्ति, २।६७-६८)

यह एक समद्विपदी छंद है। इसके प्रत्येक पादमें चौदह मात्राएँ (३ + ४, ३ + ४ = १४) हैं।

तीसरा अज्ञात लक्षण छंद पुमानरो निम्न लिखित है—

दिग्गन्तर राआ, सेवा आ आ, तें कटकाजो जाही।
निअ-निअ भअ गब्वे, सअरे मब्वे, पुहवी नाहि समाही॥

हैं। एक गुरु अक्षरके दो-दो लघुमें परिवर्तित होने पर इस प्रकार रोलाके अन्य भेद भी होते हैं, जैसे—कुंद, करतल, मेघ, ताटंक, कालरुद्र, कोकिल, कमल, इंदु, शंभु, चामर, गणेश्वर, सहस्राक्ष और शेष।

उदाहरण—

पैरि तुरंगम पार भइल गंडक के पानी।
पर वल भंजन गरुअ मलिक महमंद मगानी॥
अरु असलाने फौदें फौदें निअ सेना सज्जिअ।
भेरी काहल ढोल तवल रण तूरा वज्जिअ॥
(कीर्ति०, ४।१५६-१५९)

(१२) विद्युन्माला छंद—यह वर्णवृत्तका छंद है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—

विज्जूमाला मत्ता सोला, पाए कण्णा चारी लोला।
एअं रूअं चारी पाआ, मत्तो लत्तो णाआराआ॥
(प्रा० पैं०, २।६६)

विद्युन्माला छंद में सोलह मात्रा तथा चार कर्ण (गुरुद्वय), अर्थात् आठ गुरु होते है। इस प्रकार इसमें चार चरण होते हैं। नागराज ने इसे क्षत्रिय जातिका माना है। (ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ)।

उदाहरणार्थ—

हुङ्कारे वीरा गज्जन्ता, पाइक्का चक्का भज्जन्ता।
धावन्ते धारा टुट्टन्ता, सन्नाहा वाणे फुट्टन्ता॥
(कीर्ति०, ४।१७४-१७५)

उपरोक्त छंदोंमे वाली माणवहला और पुमानरीके लक्षण प्राकृत पैङ्गलम्मे नहीं है। श्री डा० वेलणकर से पूछनेपर भी उनके लक्षण प्राप्त नहींहो सके। सम्भव है भविष्य मे किसी छंद ग्रन्थ में वे मिलें।

कीर्तिलतामें तीन छंद ऐसे हैं जिनके नाम तो दिए हैं पर लक्षण नहीं मिलते, वे इस प्रकार हैं—

(१) माणवहला,

सावर एकहा कतन्हिक हाथ।
बेत्थल कोत्थल वेढल माथ॥

(कीर्ति०, ४।८८-८९)

इसमें तीन भगण और दो गुरु हैं। यह किसी चतुष्पदी वर्ण वृत्तका आधा भाग है, जिसे मात्रातालवृत्तके रूपमें लिखा गया है। पहले पादके दूसरे भगणमें प्रथम गुरु अक्षरके स्थानमें दो लघु प्रयुक्त हुए हैं। यह अपभ्रंश कवियोंकी बहुप्रचलित रीति थी। यहाँ पहला भगण सावर है। दूसरा एकहाक है और तीसरा तन्हिक है। एकहाकमें दोनों लघु माने जायेंगे और ह्रस्व एकार एवं ककारको मिलाकर प्रथम दीर्घ अक्षर माना जायेगा।

(२) वाली छंद—इसे प्रतियोंमें माणवहला भी कहा है, किन्तु वालीको माणवहलासे अलग मानना चाहिए। वालीका उदाहरण इस प्रकार है—

काहु पाती, मेलि पैठि।
काहु सेवक, लागु मैठि॥

(कीर्ति, २।६७-६८)

यह एक समद्विपदी छंद है। इसके प्रत्येक पादमें चौदह मात्राएँ (३ + ४, ३ + ४ = १४) हैं।

तीसरा अज्ञात लक्षण छंद पुमानरो निम्न लिखित है—

दिग्गन्तर राआ, सेवा आ आ, तें कटकाओ जाही।
निअ-निअ भअ गब्वे, संक्करे भब्वे, पुहवी नाहि समाही॥

राउत्ता पुत्ता, चलइ बहुत्ता, पत्र भरे मेइणि कम्पा ।
पत्ताके चिन्हे, मिन्ने मिन्ने, धूली रवि रह झम्पा ॥
जोअण्णा धावहि, तुरय नचावहि, बोलहि गाढिम बोला ।
लोहित पित सामर, लहिअउ चामर, सुवणहि कुण्डल डोला ॥
आवत्त विवत्ते, पत्र परिवत्ते जुग परिवत्तन माणा ।
धन तरल निसाने, सुनिअ न काने, साणे बुझावइ आणा ॥
वेसरि अरु गद्दह, लष्ख वलद्दह, हडिका महिसा कोटी ।
असवार चलन्ते, पाअ अलसे, पुहवी भए जा छोटी ॥
पीछे जे पड़िआ, तेँ लड़खड़िया, बइठहिं ठामहि ठामा ।
गोहन नहि पावहिं, वथ्थु नचावहिं, भूलल भुलहिं गुलामा ॥

(कीर्ति०, ४।१०६–११७)

यह एक षट्पदी छंद है । इसके प्रत्येक पदके अन्तर्गत तीन पाद हैं । पहलेमें दस, दूसरेमे आठ और तीसरेमें बारह मात्राएँ हैं । पदोंके अन्तर्गत राआ–आआ, भव्वे–गव्वे आदि यमक भी हैं । इसे 'कविदर्पण'में षट्पदी घत्ता कहा है । इसके प्रत्येक पंक्तिमें दस, आठ और बारह मात्राओंके तीन तीन पद होनेसे यह छह पदी काहा जाता है ।

कीर्तिलतामें तीन छंद ऐसे हैं, जिन्हें केवल छंद कहा है और जिनका कोई नाम नहीं दिया है । वे इस प्रकार हैं—

फरमान भेल, 'कओण चाहि' 'तिरहुति लेलि, जन्हि साहि' ।
'डरे कहिनी, कहए आन, जेहां तोहे ताहां असलान ॥

(कीर्ति०, ३।१८–१९)

१—फरमान भेलक ओण चाहि, यह समद्विपदी वृत्त है । इसके प्रत्येक पादमें चौदह मात्राएँ हैं । प्रत्येकमें सगण, जगण, गुरु, लघु, गुरु, लघु का क्रम है ।

दूसरा छंद—

> वाट, सन्तरि, तिरहुति, पइठ ।
> तकत, चढ़ि; सुरुतान, वइठ ॥
>
> (कीर्ति०, ४।१३९–४०)

यहभी समद्विपदी का उदाहरण है। इसमें प्रत्येक पादमें तीन मात्राओंके बाद तीन चतुर्मात्र या चार मात्राओं वाले पद हैं (३ + ४ + ४ + ४) अर्थात् प्रत्येक पादमें पन्द्रह मात्रएँ होती हैं।

तीसरा छन्द निम्नलिखित है।

> हसि दाहिन हथ्थ समथ्थ मइ
> रण वत्त पलट्टिअ खग्ग लइ ॥
>
> (कीर्ति०, ४।२२५-२२६)

इसके प्रत्येक पादमें चार सगण हैं। यह वर्णवृत्तका केवल अर्द्धांश है और मात्रातालवृत्त के रूपमें कणवकके अन्तर्गत इसका प्रयोग किया गया है। अपभ्रंश कवि अपने कणवकोंकी पूर्तिके लिए पूरे चार पाद न देकर केवल दो पदोंका प्रयोग भी प्रायः करते हैं।

यहाँ छंद सम्बंधी इन विशेष सूचनाओंके लिए श्री प्रो० एच० डी० वेलणकरका अनुगृहीत हूँ।

कीर्तिलता

[प्रथमः पल्लवः]

१।१ [मालिनीवृत्त]

पितरुपनय मह्यं नाकनद्या मृणालं ॥१॥
नहि तनय मृणालः किन्त्वसौ सर्पराजः ॥२॥
इति रुदति गणेशे स्मेरवक्त्रे च शम्भौ ॥३॥
गिरिपतितनयायाः पातु कौतूहलं वः ॥४॥

अपि च—

१।२ [अनुष्टुप्]

शशिभानुबृहद्भानुस्फुरत्त्रितय चक्षुषः ॥५॥

पाठान्तर—

१ [अ] प्रतिमें पद्य १ के पूर्व आरम्भ मे ॥९०॥ ॐ नमो गणेशाय। सर्प्पराजः।

हिन्दी अर्थ—

१-४. "हे पिता, स्वर्ग की नदी गंगा का मृणाल मुझे दे दीजिए", यह कहते हुए गणेशजी से पिता शिवजी ने कहा— "पुत्र, यह गंगा का कमल नहीं, यह सर्पराज है", यह सुनकर गणेशजी रोने लगे कि पिता मुझे बहका रहे हैं और इस लीला से शिवजी हँसने लगे। इस पर हिमाचल-पुत्री पार्वती की उत्कण्ठा आपकी रक्षा करे।

वन्दे शम्भोः पदाम्भोजमज्ञानतिमिरद्विषः ॥६॥

अपि च—

१।३ [शार्दूल विक्रीडित]

द्वाः सर्वार्थ समागमस्य रसनारङ्गस्थली नर्तकी ॥७॥

६ [अ] वन्दे शंभोः पदांभोज० ॥

७ [अ] रंगस्थलीनर्त्तकी ।

५-६. चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि रूपी जिनके तीन जाज्वल्यमान नेत्र हैं, जो अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश करते हैं, ऐसे शम्भु के चरण-कमलों की मैं वन्दना करता हूँ।

७-१०. वह सरस्वती आप सबकी रक्षा करे जो सब अर्थोंकी प्राप्ति का द्वार है, जो जिह्वा रूपी रंगमञ्च पर नृत्य करनेवाली नर्तकी

टिप्पणी—

५. चन्द्र, सूर्य, अग्नि—शम्भु के विराट रूप में चन्द्र, सूर्य, अग्नि ये उनके तीन नेत्र माने गये हैं। इसी कारण शिव को त्रियम्बक या त्रिलोचन भी कहा जाता है। वस्तुतः चन्द्र, सूर्य और अग्नि त्रैगुण्य या सत्त्व, रज, तम के प्रतीक हैं। शिव के अध्यात्म रूप में चन्द्र, सूर्य और अग्नि ये तीन नेत्र या गंगा, यमुना और सुषुम्ना के रूप में तीन नाड़ियाँ, विद्यमान कही जाती हैं।

७. कवि का तात्पर्य यह है कि केवल सरस्वती की उपासना से अर्थ, विद्या, मोक्ष, लोक चातुरी, काम और अमरकीर्ति ये सब प्राप्त हो जाती हैं। अन्य उपायों से एक-एक अर्थ की उपलब्धि होती है। किन्तु सरस्वती जितने अर्थ हैं, सबकी प्राप्ति का हेतु है। कवि की आराधना से प्रसन्न होकर, सरस्वती उसके लिए इतनी सुलभ हो जाती है कि

तत्त्वालोकनकज्जलध्वजशिखा वैदग्ध्यविश्रामभूः ॥८॥
शृङ्गारादिरसप्रसादलहरी स्वल्लोंककल्लोलिनी ॥९॥
कल्पान्तस्थिरकीर्तिसम्भ्रमसखी सा भारती पातु वः ॥१०॥

---

९ [अ] शृङ्गारादि० । [क] स्वर्ल्लोक ।
१० [अ] कल्पान्त । कीर्त्ति । संभ्रम ।

है, जो तत्त्वज्ञान के स्फुरित होने के लिये दीप-शिखा के समान है, जो चतुराई की विश्राम-भूमि है, जो शृङ्गार आदि रसों की स्वच्छ लहरों के लिए स्वर्गलोक की नदी गंगा के समान है, एवं जो कल्पान्त तक स्थिर रहनेवाली कीर्ति की अत्यन्त प्रिय सखी है ।

वह उसकी जिह्वा पर रंग-स्थली के समान नृत्य करने लगती है ।

८. तत्त्वावलोकन = तत्त्वज्ञान ।

कज्जलध्वज—कज्जल है ध्वजा जिसकी अर्थात् दीपक । जैसे दीप-शिखा की विद्यमानता में पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं, वैसे ही सरस्वती के अनुग्रह से तत्त्व का दर्शन होने लगता है ।

वैदग्ध्य—कला साहित्य आदि में विशेष विचक्षण बुद्धि की उपलब्धि । संसार में सब प्रकार का वैदग्ध्य सरस्वतीके अधीन है ।

९. शृंगारादि रसप्रसाद लहरी—प्रसाद लहरी से तात्पर्य उस लहर से है जो नदी उछाला देकर बाहर फेंकती है और उससे अपनी प्रसन्नता प्रकट करती है। सरस्वती रूपी गंगा, शृंगार आदि रसों के रूप में अपने प्रसाद को अपने आराधक भक्तों के लिये सुलभ बनाती है । स्वर्गकी नदी गंगा देवनदी है अतएव उसमें अमृत रूपी जल है । शृंगार आदि रस उसी अमृत जल में उठी हुई लहरें हैं, जिन्हें पाकर मनुष्यका मन आनन्दित होता है ।

१।४ [अनुष्टुप्]

गेहे गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे पुरे ॥ ११ ॥
देशे देशे रसज्ञाता दाता जगति दुर्लभः ॥ १२ ॥

१।५ [अनुष्टुप्]

श्रोतुर्ज्ञातुर्वदान्यस्य कीर्ति सिंहमहीपतेः ॥१३॥
करोतु कवितुः काव्यं भव्यं विद्यापतिः कविः ॥१४॥

---

१२. [अ] दुल्लंभः ।
१३. [अ] ज्ञान । कीर्त्ति ।
[ख] दातुः (ज्ञातुः) । [शा] ज्ञातुः ।

११-१२. कलियुग में घर-घर में कविता होती है, गाँव-गाँव में उसके श्रोता भी हैं, देश-देश में उसका रसास्वादन करने वाले भी हैं, पर संसार भर में काव्य से रीझकर दान देने वाला दुर्लभ है ।

१३-१४. विद्यापति कवि महाराज कीर्ति सिंह के भव्य काव्य की रचना करते हैं जो अकेले ही श्रोता, रसज्ञ, उदार, दानी और स्वयं काव्य-रचना के गुण से युक्त हैं ।

---

१०. कल्पान्तस्थिर कीर्ति—अमर कीर्ति, वह यश जो कभी क्षीण नहीं होता । धन, राज्य, ऐश्वर्य आदि से प्राप्त यश कुछ समय बाद धुँधला पड़ जाता है, पर सरस्वती की कृपा अर्थात् उत्तम काव्य से प्राप्त यश कल्प के अन्त तक बना रहता है ।

१३. ज्ञातुः—श्री बाबू राम सक्सेना जी की प्रति में दातुः पाठ है, किन्तु हरप्रसाद शास्त्री की नेपाल दरबार पुस्तकालय की प्रति से की हुई प्रतिलिपिमें ज्ञातुः पाठ है । वही समीचीन ज्ञात होता है और यहाँ रक्खा गया है ।

१।६ [दूहा]

तिहुअण खेत्तहिं कांइ तसु कित्तिवल्लि पसरेइ ॥१५॥
अक्खर खम्भारम्भ जउ मंचो वंधि न देइ ॥१६॥

---

१५. [अ] तिहुअण । काँइ । [क] तिहुअन । काञि ।
१६. [अ] अख्खर । खम्भारम्भ । जउ । मंचा । [क] खम्भारम्भओ ।

१५-१६. यदि शब्द रूपी खम्भों का निर्माण कर काव्य रूपी मञ्च को न बाँधा जाय तो त्रिभुवन के क्षेत्र में उसकी (कीर्तिसिंह की) कीर्ति रूपी लता कैसे फैल सकेगी ?

---

१५. तिहुअण—सं० त्रिभुवन>प्रा० त्रिहुवण ।

खेत्तहिं—खेतमें ।

कांइ—सं० किम्>प्रा० कांइ ।

तसु—सं० तस्य>प्रा० तस्स>अप० तसु ।

यह शब्द कीर्तिसिंह के लिये आया है। कवि ने ऊपर कहा है कि कीर्तिसिंह महीपति के लिए विद्यापति कवि काव्य की रचना करता है। उस काव्य रचना का उद्देश्य या चरितार्थता क्या है, इसका समाधान इस दोहे में है।

कित्ति—सं० कीर्ति>प्रा० कित्ति = यश ख्याति। (पासद्द०)।

वल्लि—सं० वल्लि>प्रा० वल्लि (पासद्द०)।

पसरेइ—सं० प्रसृ>प्रा० प्रसर>अव० पसरइ, पसरेइ।

१६. अक्खर—सं० अक्षर>प्रा० अक्खर>अव० अक्खर = शब्द। प्राचीन हिन्दी में शब्द और अर्थ के लिए वर्ण-अर्थ एवं आखर या अक्खर-अर्थ का प्रयोग हुआ है। जैसे रामचरितमानस में, वर्णानामर्थ-संघानाम्; एवं कविहिं अरथ आखर बल साँचा (अयोध्या काण्ड २।२४१।४) अथवा आखर अर्थ अलंकृति नाना (बालकाण्ड ९।१।)

१।७ [दूहा]

ते मैं भणउ निरूढ़ि कइ, जइसउ तइसउ कव्व ॥१७॥

१७. [अ] मैं । भणउ । कइ । जइसउ तइसउ ।
[क] ते मोजे भलओ निरूढि गए । जइसओ तइसओ कव्व ।

१७. उस कारण से जैसा-तैसा काव्य करके भी मैं यशस्वी कवि कहलाऊँगा ।

धनि ते बोल धनि लेखनहारा ।
धनि आखर धनि अरथ बिचारा ॥
चन्दायन, दाउद कवि, ५६ ।३–४॥

खंभ—बै० सं० स्कम्भ = खंभा

आरंभ = निर्माण । सं० आरम्भ (प्रयत्न, निर्माण) > प्रा० आरंभ

जउ = यदि । सं० यतः 7 जओ 7 जउ ।

मंचा—खम्भोंपर टिका हुआ मचान ।

संस्कृत मंच शब्द के कई अर्थ हैं जैसे पलंग, माचा मचिया, खम्भों पर टिका हुआ मचान । यही पिछला अर्थ यहाँ संगत है । (आप्टे संस्कृत कोश) ।

विद्यापति ने यह उपमा पानकी खेती से ली है । पान की खेती के लिए ऊँचे खेत या भीटे पर बाँस-बल्ली के खम्भे गाड़कर उनके ऊपर मचान छा देते हैं, जिस पर बेल फैलती है । यहाँ अक्षर या शब्द खम्भों के समान हैं किन्तु केवल खम्भों से काम नहीं चलता । बेल फैलाने के लिए उन पर मंच बाँधना आवश्यक है । इसी प्रकार कवि के पास पहले शब्द चाहिएँ; किन्तु शब्द पर्याप्त नहीं है । उन शब्दों से काव्य का निर्माण आवश्यक है, तभी काव्य रूपी मंच द्वारा कीर्तिरूपी लता प्रसार पा सकेगी ।

खल खेलत्तणें दूसिहइ, सुअण पसंसइ सव्व ॥१८॥

१।८

सुअण पसंसइ कव्व मक्कु, दुज्जन बोलइ मंद ॥१९॥

---

१८. [अ] खेलत्तणें । सुअन । पसंसउ ।

[क] खेलछल ।

१९. [अ] सुअन । पसंसउ । मम । जुज्झण । मंदं ।

---

१८. दुष्ट जन केवल परिहास के लिये इसकी निन्दा करेंगे अथवा दोष निकालेंगे, पर सज्जन तो सभी की प्रशंसा करते हैं।

१९. सज्जन मेरे काव्य की प्रशंसा करेंगे और दुष्ट जन उसे बुरा कहेंगे।

---

१७. मैं—अ प्रति का पाठ। मणउ = कहलाऊँगा। अ प्रति में यह उत्तम पाठ है। निरूढ़ि कइ—अ प्रति का पाठ। निरूढ़ि = प्रसिद्धि, यश। जैसे चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता (किरातार्जुनीय २।६।)

कइ—सं० कवि > प्रा० कइ।

निरूढि कइ = प्रसिद्धिप्राप्त कवि, यशस्वी कवि।

जइसउ तइसउ कव्व = जैसा तैसा काव्य।

जइसउ—सं० यादृश् > अप० जइस, जइसअ > अव० जइसउ

तइसओ—सं० तादृश् > अप० तइस, तइसअ > अव० तइसउ

कव्व—सं० काव्य > प्रा० कव्व > अप० कव्व

जैसा-तैसा काव्य भी कीर्तिसिंह के यश वर्णन के कारण मुझे यश देगा।

१८. खल—दुष्ट जन

खेलत्तणें—खेल के बहाने से, केवल तमाशे के लिये, या हँसी

अवसओ विसहर विस वमइ, अमिअँ विमुंचइ चंद ॥२०॥

१।६

सज्जन चिन्तइ मनहि मणि मित्त करिअ सब कोइ ॥२१॥

२०. [अ] अवसउ । अमिअँ । विमुंचइ । चंद ।

[क] अमिअ । विमुक्कइ ।

२१. [अ] मणि । करिअ । कोइ । [क] मने । कारिअ । कोए ।

२०. निश्चय ही सर्प (विषहर) विष उगलता है और चन्द्रमा अमृतकी वर्षा करता है ।

२१. सज्जन मन ही मन में विचार करता है कि सब को अपना मित्र बनाना चाहिए ।

उड़ाने के लिये । जिसे गोस्वामीजी ने खल परिहास कहा है, वही यहाँ कवि को 'खल खेलत्तण' इन शब्दों से अभिप्रेत है ।

खल इस में दूषण निकालकर अपनी कुटिल प्रकृतिका परिचय देंगे ।

सुअण—सं० सुजन > अव० सुअण = सज्जन ।

पसंसइ—सं० प्रशंस् > प्रा० पसंस > पसंसइ = प्रशंसा करना ।

सव्व—सं० सर्व > प्रा० सव्व > अप० सव्व = सब

सुअण पसंसइ सव्व—काव्य अच्छा हो या बुरा, नीरस हो अथवा सरस, सभी की प्रशंसा करना सज्जनों का स्वभाव है; अथवा उत्तम काव्य तो प्रशंसनीय होता ही है, सज्जन फीके काव्य की भी प्रशंसा करते हैं, यही उनका सौजन्य है ।

१९. मज्झु—मेरा

दुज्जन = सं० दुर्जन = खल, दुष्ट मनुष्य (पासद्द०)

२०. अवसओ = सं० अवश्यम् (अवश्य, निश्चय) > प्रा० अवसं > अवसअ, अवसओ ।

विसहर = सं० विषधर = सर्प

भेअ करन्ता मम उवइ दुज्जन वैरि ण होइ ॥२२॥

---

२२ [अ] भेअ करन्ता । मम उवइ । दुज्जण । ण । होइ । [क] भेअ कहन्ता मुज्झु जइ । वैरिण । होइ ।

---

२२. यदि दुर्जन मर्म का भेद करता हुआ भी मेरे समीप आता है तो भी वह मेरा शत्रु न होगा (अर्थात् उसे भी मैं अपना मित्र बनाऊँगा) ।

अमिअँ = सं० अमृत > प्रा० अमिअ > अप० अमिअ । विमुंचइ—सं० वि + मुच् > प्रा० विमुंच । अप० वि + मुक्क > अव० विमुक्क, विमुक्कइ ।

२१. चिन्तइ—सं० चिन्त > प्रा० चिंत > अप० चिंत = चिंता करना, विचार करना, सोचना ।

मनहिं—मनमें

मणि = मन में । सं० मनस् > प्रा० मण ।

मित्त—सं० मित्र > प्रा० मित्त > अप० मित्त ।

२२. भेअ—सं० भेद > प्रा० भेअ ।

पासद्द० कोश में उस के छः अर्थ हैं—

प्रकार, पार्थक्य, फूट, घाव, बीच का भाग और विच्छेद । इनमें से चौथा अर्थ ही यहाँ संगत है । भेअ कहन्ता पद में कहन्ता के साथ अर्थ हुआ मर्मभेदी वचन कहने वाला । अ प्रति में भेअ करन्ता पाठ है = फूट डालता हुआ ।

उवइ = समीप आता है । सं० उप + इ > प्रा० उवे, उवि = पास आना, उवेइ, उवइ (पासद्द० २८८)

१।१०

बालचंद विज्जावइ भासा ॥२३॥
दुहु नहि लग्गइ दुज्जनहासा ॥२४॥
ओ परमेसर सेहर सोहइ ॥२५॥
ई णिच्चइ णाअर मन मोहइ ॥२६॥

---

२३ [अ] बालचंद । [क] बालचन्द ।
२५ [अ] सो परमेसर सेहर ।
[क] ओ परमेसर हर शिर ।
२६ [अ] णिच्चउ । णाअर । [क] नाअर ।

२३-२४. बालचन्द (द्वितीया का चन्द्रमा) और विद्वान् अथवा विद्यापतिकी कविता दोनों को दुर्जन का परिहास नहीं लगता ।

२५-२६. वह (चन्द्रमा) देवाधिदेव शिव के मस्तक पर सुशोभित होता है, यह (विद्वान् या विद्यापति की कविता) निश्चय ही रसिक के मन को मोह लेती है ।

---

२३. बालचन्द = द्वितीया का चन्द्रमा। उस में न पूरा प्रकाश होता है और न पूर्ण चन्द्र की जैसी उस की सुडौल आकृति होती है। रूप और तेज दोनों से हीन होने के कारण वह खल के परिहास का कारण है, पर खल परिहास से उस की प्रतिष्ठा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वरन् वह शिवजी के मस्तक पर सुशोभित होता है ।

विज्जावइ = विद्यापति । विज्जावइ के दो अर्थ हैं—विद्वान् और विद्यापति कवि ।

भासा = (१) भाषा, वाणी; (२) दीप्ति, कान्ति ।

२४. दुहु—द्वि = दो । हु कर्मकारक का चिह्न । दुहु अर्थात् दोनों को ।

१।११

का परबोधउं कमन मनावउं ॥२७॥
किमि नीरस मन रस लइ लावउं ॥२८॥

---

२७ श्री सक्सेनाजी के अनुसार मणावओ पाठ होता तो अच्छा था।
[अ] परबोधउं। कमन। मनावउं।
[क] परबोधओ कमण यणावओ।
२८ [अ] मन। लइलावउं।
[क] मने। लएलावओ।

---

२७. क्या कहकर समझाऊँ? किसे ज्ञान कराऊँ, ?

२८. मैं सोचता हूँ कि कैसे नीरस मन को रस के पास पहुँचाऊँ? अर्थात् रस-शून्य हृदयमें सरसता कैसे उत्पन्न करूँ?

लग्गइ—सं० लग् = लगना, संग करना, सम्बन्ध करना (पासद्द०)
दुज्जन हासा—इसे ही गोस्वामी जी ने 'खल परिहास' कहा है।

२५. परमेसर = परमेश्वर शिव अर्थात् वह चन्द्रमा साधारण देवता से नहीं, स्वयं देवाधिदेव शिव से आदर पाता है।

सेहर—सं० शेखर = मस्तक का ऊपरी भाग। यह उत्तमपाठ अ प्रति में है।

णिच्चइ = सं० निश्चय > प्रा० णिच्छय, वीच्चय (पासद्द० पृ. ४८८) अव० निच्चइ = निश्चय, निश्चितरूप से।

णाअर—सं० नागर > प्रा० णागर, णायर = नगरवासी विदग्ध, प्रवीण, रसिक (पासद्द०)।

२७. का परबोधउं—क्या कहकर समझाऊँ? अर्थात् जो स्वयं रसिक नहीं है, उसके लिये कितना भी समझाने का प्रयास करूँ, व्यर्थ है।

जइ सुरसा होसइ मझु भासा ॥२९॥
जो बुज्झिहि सो करिहि पसंसा ॥३०॥

१।१२

महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्वह साउ छइल्ल ॥३१॥

२९ [अ] होइ । मम । [क] होसइ मझु ।
३० [अ] बुज्झिहि । करिहि ।
[क] बुज्झिह । करिह ।
३१ [अ] बुज्झहि । कव्वह सावु । [क] कव्वकलाउ ।

२९-३०. यदि मेरे काव्य की भाषामें उत्तम रस होगा, तो जो समझने वाला है वह विना मेरी प्रेरणा केस्वयं ही प्रशंसा करेगा ।

३१. फूल के रस को भौंरा पहचानता है। काव्य रसिक काव्य के शब्द अर्थ आदि सर्वस्व को जानता है ।

कमन मनावउं—किसे ज्ञान कराऊँ ? जो बुद्धिमान् है वह स्वयं समझ लेगा और जो बुद्धिशून्य है वह कभी न समझेगा ।

मनावउं—सं० मन् > प्रा० मण मणइ = मानना, जानना, चिंतन करना । उसी का प्रेरणार्थक रूप—मणावइ = मनाना, ज्ञापित करना ।

रस लइ—रस के पास तक ।

बुज्झिहि—सं० बुद्ध–बुध्यते > प्रा० बुज्झिअ > अव० बुज्झिहि = जानेगा । समझेगा ।

३१—महुअर—सं० मधुकर > प्रा० महुअर = भौंरा

बुज्झइ—सं बुद्ध > बुध्यते > प्रा० बुज्झ > बुज्झइ = जानता है, पहिचानता है।

सज्जन पर उअआर मण, दुज्जण माण मइल्ल ॥३२॥

---

३२ [अ] मण । दुज्जण । माण । [क] मन, दुज्जन नाम ।

---

३२. सज्जन का मन दूसरे के उपकार में रमता है और दुर्जन तो मलिनता का ही अनुभव करता है ।

कव्व = काव्य । सावु = सब कुछ । सं० सर्व > प्रा० सव्व > अव० साव, सावु । सावु या सब कुछ से काव्यगत शब्द, अर्थ, अलंकार, रस आदिका ग्रहण किया गया है । विदग्ध श्रोता ही काव्य के इन विविध अंगों के मर्म को समझ पाता है ।

छइल्ल—विदग्ध, चतुर, नागर, काव्य रसिक । हेमचन्द ने छइल्ल और छइल्ल को देशी कहा है । किन्तु सं० छविमत् से प्रा० छविल्ल, छइल्ल व्युत्पत्ति अधिक सम्भव है । जैसे नागर शब्द के दोनों अर्थ होते हैं—शौकीन और विदग्ध, ऐसे ही छविल्ल शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

३२. उअआर—सं० उपकार > प्रा० उअआर (पासद्द०) ।

मइल्ल—सं० मलिन = मैला, मलयुक्त, अस्वच्छ (हे० २।१३८) ।

मण = जानना । सं० मन् > प्रा० मण (पासद्द० ८२८) ।

माण = अनुभव करना, जानना । सं० मानय् > प्रा० माण (पासद्द० ८४८) ।

१।१३ [चउपइ]

सक्कअ वाणी बहुअ ण भावइ ॥३३॥
पाउअ रस को मम्म न पावइ ॥३४॥

---

३३ [अ] सक्कअ । बहुअण । [क] सक्कय बहुअ [न] । [शा] बुहअन । डॉ० सक्सेना के अनुसार पाठ 'बहुअ न' उचित है।

३४ [अ] पाअइ । [क] पाउँअ ।

---

३३. संस्कृत भाषा बहुतों को रुचिकर नहीं लगती।

३४. प्राकृत काव्य रस का मर्म भी सुगमता से नहीं मिलता।

३३.सक्कअ—सं० संस्कृत>सक्कय, सक्कअ (कुमा; हे० १,२८; २,४; "सक्कया पायया चेव भणिईओ होंति दोण्णि वा" पासद्द० १०७०)।

बहुअ = सं० बहुक>प्रा० बहुअ (पासद्द०, हे० २।१६४)। यहाँ हरप्रसाद शास्त्रीजीने बुहअन सं० बुधजन पाठ माना है। तब अर्थ होगा—संस्कृत भाषा पण्डितों को अच्छी लगती है। किन्तु 'पाउअ रस को मम्म न पावइ' का अर्थ उसके साथ संगत नहीं बैठता। अतः 'बहुअ' का अर्थ बहुतों को ही उचित है।

पाउअ—प्राकृत। राजशेखर ने प्राकृत के लिए पाउअ का प्रयोग किया है। परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो। पुरिस महिलाणं जेत्तिअ मिहन्तरं तेत्तिअ मिमाणं ॥ (कर्पूरमंजरी १।८)। मनमोहनघोष ने अपने संस्करण में इसे प्रक्षिप्त माना है। अ प्रति में पाअइ पाठ है। पाउअ का एक अर्थ ढका हुआ या आच्छादित भी है (प्रा० पाउइ, पउअ)। तब यह अर्थ संगत होगा—'संस्कृतवाणी बहुतों को रुचिकर नहीं होती, क्योंकि उसमें ढके हुए काव्य रस का मर्म सुगमता से नहीं मिलता।'

देसिल वयणा सब जन मिट्ठा ॥३५॥
तें तैसन जम्पउ अवहट्ठा ॥३६॥

१-१४ [दुहा]

भिंगी पुच्छइ भिंग सुन की संसारहि सार ॥३७॥

---

३५ [अ] वयणा। [क] वअना।
३६ [अ] तें। जम्पउ। [क] तँ। जम्पओ। [श] तें।
३७ [अ] भिंगी।

३५-३६. देश्य-भाषा की उक्ति सब लोगों को मीठी लगती है। इसलिए मैं वैसी ही देशी बोली अवहट्ठ में रचना करता हूँ।

३७ भृंगी पूछती है—"हे भृंग, सुनो, संसार में तत्त्व वस्तु क्या है?"

---

३५. देसिल—देश्य भाषा।

वयणा—सं० वचन > प्रा० वअण > अव० वयण, वअन = उक्ति।

तें—सं तत् > प्रा० तं (= इस कारण)—तें।

तैसन—इस तरह का, वैसा। सं० तादृश् से > अप० तइस, तैसन (हे० ४।४०३)।

जम्पउ—कहता हूँ, कविता करता हूँ, रचना करता हूँ।

अवहट्ठा—अपभ्रंश बोली का परवर्ती रूप। भोजकृत सरस्वती-कंठाभरण में अपभ्रष्टा भाषा का उल्लेख है (२।१२, पृ० १४८–१४९) उसी का लोक में नाम अवहट्ठा हुआ।

३७ भिंग—सं० भृंग (भ्रमर अथवा भृंगराज पक्षी-विशेष) > प्रा० भिंग (पासह०)। मध्यकाल में पक्षियों द्वारा कथानक कहलाने की पद्धति कवियों में रूढ़िगत थी। कीर्तिलता में उसी संवादपद्धति के अनुसार कथानक भृंग-भृंगी के प्रश्नोत्तर के रूपमें प्रस्तुत किया गया है।

मानिनि जीवन मान सउं वीर पुरिस अवतार ॥३८॥
वीर पुरिस एक जम्मिअइ नाह न जम्पइ नाम ॥३९॥
जइ उच्छाहे फुर कहसि हउं आकण्णन काम ॥४०॥

---

३८ [अ] माने । सउं । पुरिस ।
[क] सञो । पुरुस ।
३९ [अ] पुरिस । एक । सामि न जाणउं नाम ।
[क] पुरुस । कइ । नाह न जम्पइ नाम ।
४० [अ] उच्छाहे । फुल । हउं । आकन्न ।
[क] उंच्छाहे । फुर । हवो आकण्ड ।
[शा] आकाण्णन ।

---

३८ भृंग कहता है—"हे मानिनी ! मान सहित जीना और वीर पुरुष का जन्म लेना, यही सार है ।"

३९ एक वीर पुरुष जन्मा है, पर हे नाथ, मैं उसका नाम नहीं जानती ।

४० यदि आप उत्साहपूर्वक विस्तार से उसका बखान करें तो मेरी सुनने की इच्छा है ।

---

३८ सउं सं० समम् > प्रा० समं > अव० सउं = साथ (गाथा सप्तसती ६०२ पासह ६०) अवतार—जन्म ।

जम्मिअइ—सं० जन् > प्रा० जम्म, कर्तृवाच्य जम्मइ (हे० ४ । १३६ भाव वाच्य जम्मियइ । एक वीर पुरुष द्वारा जन्म लिया गया है । उच्छाहे—सं० उत्साह > प्रा० उच्छाह = उत्साह ।

३९ एक—अ प्रति में यह पाठ है । क प्रति में कइ पाठ है । सं० कदा > प्रा० कइ > अप० कइ = कब, कभी । (गाथा सप्तशती)

अथ भृंगः कथयति—

१।१६ [रड्डा]

कित्ति लुद्धउ सूर सङ्गाम ॥४१॥
धम्म पराअण हिअवि, विपअ काल नहु दीण जम्पइ ॥४२॥
सहज भाव साणन्द, सुअण भुंजइ जासु सम्पइ ॥४३॥

---

४१ [अ] लुद्धउ । [क] लद्ध [शा] लुद्ध ।

४२ [अ] हिअवि । विपअकाल । दीण ।
[क] हिअअ । विपअकम्म । दीन ।

४३ [अ] भावे साणंद । सुअन । [क] भाव सानन्द सुअण ।

४१-४५. जो यशका लोभी हो और युद्धमें वीरता दिखाने वाला हो, जो हृदयमें धर्मपरायण हो, जो विपत्ति के आने पर भी दीन वचन न कहता हो, जिसमें सहजरूपसे आनन्द का भाव हो, सज्जन जिसकी सम्पत्तिका उपभोग करें, जो गुप्त रूप से द्रव्य का

---

४०. फुल—यह अ प्रति का श्रेष्ठ पाठ है। सं० स्फुट > प्रा० फुड > अप० फुर एवं फुल = स्पष्ट, व्यक्त, विशद (पासद्द० ७७३)। आकण्णन—यह हरप्रसाद शास्त्री की प्रतिका पाठ है। सं० आकर्णन > प्रा० अप० आकण्णणन = श्रवण (पासद्द० ६०)।

काम = इच्छा, कामना, अभिलाषा।

४१. कित्ति—सं० कीर्ति। लुद्धउ—लोभी। सं० लुब्धक > प्रा० अप० लुद्धअ।

४२. विपअ—विपत्ति। सं० विपद्।

रहसें दव्व दइ विस्सरइ सत्तु सरूअ सरीर ॥४४॥
एत्ते लक्खण लक्खिअइ पुरुस पसंसउं वीर ॥४५॥

---

४४ [अ] दव्वदइ । सत्तसरूअ । [क] दव्वदए । सत्तु ।

४५ [अ] एत्तें लक्खण लक्खिअइ पुरुस पसंसउं वीर ।

[क] एत्ते लक्खण लक्खिअइ-पुरुष पसंसओ ।

दान करके फिर भूल जाय, जो बलिष्ठ और सुन्दर शरीर वाला हो,—जिसमें इतने लक्षण दिखाई पड़ें, उस पुरुष को मैं वीर मानकर उसकी प्रशंसा करता हूँ ।

---

४३. सुअण—सं० सुजन > प्रा० सुअण = सज्जन, भला आदमी (पासद्द० ११४३) ।

सम्पइ—सम्पत्ति ।

४४. रहसें—सं० रहस्य > प्रा० रहस्स = गुप्तरूप से ।

दव्व—सं० द्रव्य > प्रा० दविअ > अप० दव्व = धन ।

विस्सरइ = भूल जाता है । सं० वि + स्मृ = भूलना > प्रा० विस्सर अप० विस्सरइ (पासद्द०) ।

सत्तु = बल । सं० सत्त्व । सरूअ = सुन्दर । सं० सरूप > सरूय, सरूअ (पासद्द०) ।

४५. एत्ते = इतने । सं० एतावत्, इयत् > प्रा० एत्तअ > अप० एत्ते (पासद्द० २४१) । लक्खिअइ—सं० लक्ष्यन्ते । लक्षय = जानना पहिचानना, देखना > प्रा० लक्खइ > अप० लक्खिअइ (पासद्द०) ।

जदो—

१।१७ [गाहा]

पुरिसत्तणेन पुरिसो णहु पुरिसो जम्ममत्तेण ॥४६॥
जलदाणेन हु जलदो नहु जलदो पुंजिओ धूमो ॥४७॥
सो पुरिसो जसु माणो सो पुरिसो जस्स अज्जणे सत्ती ॥४८॥

४६ [अ] जदो। पुरिसो। णहु। पुरिसो। जम्ममत्तेण [क] पुरिसओ। नहि। पुरिसओ। जम्ममत्तेन।

४७ [अ] जलदाणेन। जलदो। जलदो। [क] जलदानेन। जलओ। जलओ।

४८ [अ] पुरिसो। माणो। पुरिसो। अज्जणे सत्ती। [क] पुरिसओ। मानो। पुरिसओ। अज्जने सत्ति। [ख] प्रति का यहाँ से श्रीगणेशाय नमः है। पुस्सो (पुरिसओ)

४६-४८. क्योंकि—पुरुषत्व से ही मनुष्य पुरुष कहलाने योग्य होता है, केवल जन्म लेनेसे कोई पुरुष नहीं होता। जलदान से मेघ जलद कहा जाता है, धुएँ का पुंज जलद नहीं होता। वही पुरुष है, जिसका सम्मान है, वही पुरुष है जिसमें अर्जन करने की शक्ति है।

जदो = सं० यतः, क्योंकि।

४६. पुरुषत्तणेन—सं० पुरुषत्व > प्रा० पुरुसत्त, पुरुसत्तण = पौरुष, पुरुषपन (पासद्द० ७५५)।

जम्ममत्तेण = जन्ममात्रसे। सं० जन्मन् = जन्म, उत्पत्ति > प्रा० जम्म, (पासद्द० ४३५)।

४७. जलदो—सं० जलद = मेघ (पासद्द० ४३७)।

४८. सत्ती = सामर्थ्य। सं० शक्ति > प्रा० सत्ति (पासद्द० १०७७)।

इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूणो पसू होइ ॥४९॥

१।१८ [दोहा]

पुरिस कहाणी हउं कहउं जसु पत्थावे पुन्न ॥५०॥
सुक्ख सुभोअण सुभ वअण देवहा जाइ सपुन्न ॥५१॥

---

४९ [अ] पुछविहूणो। [क] पुच्छविहूना रिपुसाआरे (पुरिसा-आरो)। विहुन्ना।

५० [अ] "पुरिस कहांणी कहओं जसु पश्छावे पुन्न"। [क] 'पुरिस काहानी हओ (कहउँ) जसु पत्थावे पुण्णु। [ख] सुपुरिस कहनी हो कहउ। पुन्न०।

५१ [अ] सुक्खे, सुमोअणे सुभ वअणे०। [ख] सुह वयन। दिअहा।

---

४९. अन्य लोग पुरुष रूप में विना पूँछ के पशु हैं।

५०-५१. मैं सत्पुरुष की कहानी कहता हूँ जिसके प्रस्ताव से (कहने से) पुण्य होता है। उसका सब समय सुख विहार में, अच्छे भोजन में और शुभ वचन कहने में व्यतीत होता है।

---

४९. इअरो—सं० इतर>प्रा० इयर=अन्य, दूसरा (पासद्द० १६८) पुरिसाआरो = पुरुषकी आकृतिवाला, पुरुष जैसा दिखाई देने वाला, शरीर मात्र से पुरुष। सं० पुरुषाकार>प्रा० पुरुसाआर>।

५०. पत्थावे = प्रारम्भ, प्रसंग। सं० प्र + स्तावय्>प्रा० पत्थाव = आरम्भ करना (पासद्द० ६५८), दे० पद्मावत ३४०।८।

५१. सुभ वअण—सं० शुभ वचन>प्रा० सुभ वअण। देवहा = दिन, समय। सं० दिवस>प्रा० दिवह (हे० १,२६३)।

१।१९ [छपद]

पुरिस हुअउ वलिराय जासु कर कह्न पसारिअ ।।५२।।
पुरिस हुअउ रघुराय जेवें रण रावण मारिअ ।।५३।।
पुरिस भगीरथ हुअउ जेवें निअ कुल उद्धरिअउ।।५४।।

---

५२ [अ] पुरिस । हुअउ । बलिराय । कशक । [क] कन्ने । हुअँउ । [ख] पुरुस हुअनु वलिराए । कह्न ।

५३ [अ] हुअउ । रघुराय । जेन्नें । रण रावण० । [क] हुअउँ । रघुतनअ । जेन बले ।

५४ [अ] हुअउ । जेन्नें निअ कुल उद्धरिअउ । [क] हुअउँ जेन निअ कुल उद्धरिउँ ।

५२-५४. पुरुष राजा बलि हुए थे जिनके आगे कृष्ण ने हाथ पसारा । पुरुष रामचन्द्र हुए जिन्होंने युद्ध करके रावण को मारा । पुरुष राजा भगीरथ हुए जिन्होंने (गंगा को पृथिवी पर लाकर) अपने कुल का उद्धार किया ।

अव० देवहा (पासद्द० ५६७) ।

सपुन्न = सम्पूर्ण । सं० सम्पूर्ण > संपुण्ण > अव० सपुन्न (पासद्द० पृ० १०५९) ।

वीर पुरुष का समय तीन प्रकार से व्यतीत होता है, या तो वह स्वयं सुख-समृद्धि के अनुसार विहार करता है, या मित्रादि के साथ भोज में सम्मिलित होता है, या काव्यादि विनोदों में लीन रहता है ।

५२. कह्न (कन्ने)—सं० कृष्ण > प्रा० कण्ह, कन्न (पासद्द० २७७) ।

५५. खअ = नाश सं०—क्षय > प्रा० खअ ।

५६. राअ गुरु = राजाओं में श्रेष्ठ । हिन्दू राजाओं की उपाधि राय थी ।

परसुराम पुनि पुरिस जेवें खत्तिअ खअ करिअउ ॥५५॥
अरु पुरिस पसंसओं राअ गुरु कित्तिसिंह गअणेस सुअ ॥५६॥
जें सत्तु समर सम्मद्दि कहु वप्प वैर उद्धरिअ धुअ ॥५७॥

---

५५ [अ] पुनि । जेन्नें खत्तिअ खअ करिअउ । [क] अरु जेन करिअउँ ।

५६ [अ] औरु । पसंसओं । राअ । गअणेस । [क] अरु । पसंसओ । राय । गएणेस । [ख] पसंशिय ।

५७ [अ] कहुँ । [क] कहु ।

५५-५६. पुरुष श्री परशुराम हुए जिन्होंने क्षत्रियों का क्षय किया । इसके अतिरिक्त गणेश्वर के पुत्र राजश्रेष्ठ श्री कीर्तिसिंह की मैं पुरुष रूप में प्रशंसा करता हूँ,

५७. जिन्होंने युद्ध में शत्रु का मर्दन करके अपने पिता के वैर का पूरा बदला लिया ।

सं० गुरु = श्रेष्ठ, महान् (पासद्द० ३७४) सुअ = पुत्र सं०; सुत (पासद्द० ११४३) । सम्मद्दि = मर्दन करके । सं० समर्द > प्रा० संमद्द = मर्दन करना (पासद्द० १०६२) ।

५७. वप्प—देशी० वप्प > बाप = पिता (दे० ६।८८) (पासद्द० ७८८) ।

धुअ—सं० ध्रुव > प्रा० धुअ = अतिशय, पूरा, भलीभाँति (पासद्द० ६०३) ।

अथ भृंगी पुनः पृच्छति—

१।२० [दोहा]

राअ चरित्त रसाल एहु णाह न राखहि गोइ ॥५८॥
कमण वंस को राअ सो कित्ति सिंह को होइ ॥५९॥

१।२१ [रड्डा]

तक्क कक्कस वेअ पढ़ तिन्नि ॥६०॥

अ प्रति में—अथ भृंगी पुनः पृच्छति।

५८ [अ] राअ चरित्त। राषहि। गोए। [क] राय। [ख] राखेहु।

५९ [अ] कमण। राअ। सों। [क] कवन। राय। सो।

भृंगी पुनः पूछती है—

५८. यह राज चरित्र बड़ा रसपूर्ण है। नाथ इसे गुप्त न रक्खें।

५९. वे कीर्तिसिंह किस वंशके राजा थे और कौन थे ?

६०. वे राजा न्याय शास्त्र में प्रौढ़ थे और तीनों वेद पढ़ चुके थे।

---

५८. गोइ = छिपाकर। सं० गोपय् > प्रा० गोव = छिपाना > अप० गोइ (पासद्द० ३८०)।

५९. कमण—सं० कः पुनः > प्रा० कवण > अप० कवन = कौन (पासद्द० २९२)।

६२. तक्ककक्कस = तर्क या नव्यन्याय में प्रौढ़ थे। सं० तर्ककर्कश > प्रा० तक्ककक्कस = अव० तक्ककक्कस (पासद्द० २६८)।

वेअ. सं० वेद > प्रा० वेअ = शास्त्रविशेष (पासद्द० २९)।

तिन्नि. सं० त्रि > प्रा० ति – तिण्ण > अप० तिन्न तिन्नि = तीन (पासद्द० २३८)।

दाने दलइ दारिद्द परम बंभ परमत्थ बुज्झइ ॥६१॥
वित्ति वटोरइ कित्ति सत्ते सत्तु संगाम जुज्झइ ॥६२॥
ओइणी वंस पसिद्ध जग को तसु करइ न सेव ॥६३॥

---

६१ [अ] दलइ। परमबंभ। [क] दलिअ। परमब्रह्म। [ख] दरै।

६२ [अ] विति। [क] वित्ते। [ख] विथारै। :(बटोरइ) संचइल लागि (सत्ते सत्तु)।

६३ [अ] ओइणी जगं। न। [क] ओइनी। जग। ण।

६१-६३. उन्होंने दान देकर स्वयं दारिद्र्य ओढ़ लिया था, या दूसरों के दारिद्र्यका दलन करते थे। वे परब्रह्म का परमार्थ जानते थे। धन से यश प्राप्त करते थे और बलद्वारा शत्रु से संग्राम में युद्ध करते थे। ओइनी वंश जग में प्रसिद्ध है, उस वंश के राजा की कौन सेवा नहीं करता ?

---

६१. दलइ = (१) देना (२) दलना। सं० दा का धात्वादेश दल, दलय = देना (कीर्तिलता, २। ४५)।

दारिद्द—सं० दारिद्र्य > प्रा० दारिद्द = आलस्य (पासद्द० पृ० ५६५)।

परमत्थे—परमार्थ।

बुज्झइ—सं० बुध > प्रा० बुज्झ > अप० बुज्झइ (पासद्द० ७८८)।

६२. जुज्झइ = लड़ना। सं० युध् > प्रा० जुज्झ, जुज्झइ (हे० ४। २७६)।

६३. ओइणी—कीर्तिसिंह के राजवंश की संज्ञा। सं० अवतीर्ण > प्रा०। अउइण्ण > अप० ओइण्ण > अव० ओइण्णि, ओइणी

दुहु एकत्थ न पाइअइ भूवइ अरु भू देव ॥६४॥

१।२२ [रड्डा]

जेन्नें खंडिअ पुव्व पतिक्ख ॥६५॥

जेन्नें सरण न परिहरिअ, जेन्नें अत्थिज विमन न किंत्तिअ ॥६६॥

---

६४ [अ] पाइअइ भूवइ [क] अविअइ भुवै। [ख] पायै एक भुजवै भुअवै भुअदेव।

६५ [अ] जेन्नें खंडिअ पुव्व पति पक्ख [क] जेन्हे खण्डिअ पुव्व वलि कन्न।

६६ [अ] जेन्नें। जेन्नें। कित्तिअ। [क] जेन्हे। जेन्हे। किज्जिअ।

---

६४. भूपति (राजा) और भूदेव (ब्राह्मण) दोनों कहीं एकत्र नहीं मिलते (कीर्तिसिंह दोनों ही थे)।

६५. जिस कुल के राजाओं ने पहले के सब शत्रुओं को पराजित कर दिया;

६६. जिन्होंने शरणागत का परित्याग नहीं किया और याचकों की इच्छा का विघात नहीं किया;

(= अवतीर्ण, अवतारी)।

६४. पाइअइ > सं० प्राप्यते > प्रा० पाविअइ (पासद्द० ७३२)।

भूवइ = राजा। सं० भूपति > प्रा० भूवइ (पासद्द० ८१२।)

६५. पतिपक्ख = वैरी, शत्रु। सं० प्रतिपक्ष > प्रा० पडिपक्ख, पतिपक्ख (पासद्द० २७६)।

जेन्नें अतत्थ नहु भणिअ जेन्नें पाअ उम्मग्गे न दिज्जिअ ॥६७॥
ता कुल केरा वड्डपण कहवा कमण उपाए ॥६८॥

---

६७ [अ] जेन्ने अतत्थ नहु भणिअ। जेन्नें पाअ उम्मग्गें न दिज्जिअ।
[क] जन्हि अतथे णहु भालअं। जेन्हि पाजे जम्म गो दिज्जिअ।
[ख] जेइ अतत्थ न भणिआ। जेइ न पाउँ उमग दिजिअ।
६८ [अ] वड्डपण। कह.....। कमण। उपाए। [क] कजोउ (कमण)। [ख] वड्डिपन। कवन उँपाए।

---

६७. जिन्होंने असत्य भाषण नहीं किया और जिन्होंने कभी उन्मार्गमें पैर नहीं दिया;

६८. उस कुल के राजाओं की महिमाके विषय में किस तरह कहा जाय;

---

६६. परिहरिअ—सं० परि + हृ > प्रा०परिहरिअ = त्याग करना छोड़ना (पासद्द० ६९९)।

विमन = निराश।

अत्थिजन—सं० अर्थिन् > प्रा० अत्थिजन = याचक (पासद्द० ६१) कित्तिअ = किया। सं० कीर्तित > प्रा० कित्तिअ = प्रतिपादित, किया गया (पासद्द० ३०६)।

६७. अतत्थ = असत्य। सं० अतथ्य > प्रा० अतत्थ (पासद्द० ३०६, ५९)।

उम्मग्गे—सं० उन्मार्ग > उम्मग्ग = कुपथ, उल्टारास्ता (पासद्द० २२०)।

वड्डपण = बड़प्पन, महत्ता। देशी वड्डप्पण (दे० ७।२९; पासद्द० ९२१)।

जज्जम्मिअ उप्पन्न मति कामेसर सण राए ॥६६॥

१।२३ [छपद]

तसु नन्दन भोगीसराअ वर भोग पुरन्दर ॥७०॥
हुअउ हुआसन तेज कन्ति कुसुमाउह सुन्दर ॥७१॥

---

६९ [अ] जम्मिय । उप्पन्न सण । [क] जज्जम्मिअ । उंप्पन्न । सन ।

७० [अ] नंदन । भोगी सराए । पुरंदर ।

७१ [अ] हुअउ । हुताशन । तेज कंति । कुसुमा ऊअ । सुन्दर । डॉ० सक्सेनाके अनुसार हुअमें छंदके लिये अ दीर्घ चाहिए । [क] हुअ हुआसन तेजिकन्ति कुसुमाउह ।

---

६९. जिसमें कामेश्वर नामक व्युत्पन्नमति राजा ने जन्म लिया ।

७०-७१. उसके पुत्र भोगीसराय श्रेष्ट भोगों के भोगने में इन्द्र के समान थे, तेज में अग्नि के समान थे और कान्ति में कामदेव के सदृश सुन्दर थे ।

जज्जम्मिय = जहाँ उत्पन्न हुआ । अ० प्रति में केवल 'जम्मिय' पाठ है, लेकिन उससे छन्द भंग रहता है । क प्रतिका जज्जम्मिय पाठ ही उचित है ।

६९. सण = नामका । सं० संज्ञ > प्रा० सण्ण > अव० सण = नाम वाला ।

७०. पुरंदर = इन्द्र । सं० पुरन्दर ।

७१. हुअउ = हुआ—सं० भूत > प्रा० हूआ ।
हुआसन = अग्नि । सं० हुताशन > प्रा० हुआसन (पासद्द० ११९५) । कुसुमाउह = कामदेव । सं० कुसुमायुध।

जाचक सिद्धि केदार दाने पंचम बलि जानल ॥७२॥
पिअ सख भणि पिअरोज साह सुरताण समानल॥७३॥
पत्तापे दान सम्मान गुणे जें सब करिअउँ अप्प वस ॥७४॥
वित्थरिअ कित्ति महि मंडलहिं कुन्द कुसुम संकास जस॥७५॥

---

७२ [अ] दाने पचम । [क] दान पञ्चम ।

७३ [अ] पिय सखा सुरताणें । [क] पिअसख । सुरतान ।

७४ [अ] पत्तापइ दानें । संमानें । गुनें । जें सब्वि करिअउ ।

७५ [अ] कुंद

---

७२. याचकों के लिये कल्पवृक्ष (सिद्धि केदार) के समान मनोवांछित फल देने वाले थे और पाचवें दान में बलि के समान दानी थे ।

७३. सुल्तान फीरोजशाह उन को 'प्रिय सखा' कहकर आदर देते थे ।

७४-७५. उन्होंने अपने प्रताप, दान, सम्मान आदि गुणों से सब को अपने वश में कर लिया और कुन्द कुसुम के समान उज्ज्वल यश को सम्पूर्ण भू-मण्डल पर फैला दिया;

---

७२. सिद्धिकेदार = सिद्धि का वृक्ष, कल्पवृक्ष ।

दानपंचम—हिरण्यदान, अन्नदान, भूमिदान, विद्यादान और आत्मदान—इन पाँच दानों में से अन्तिम पाँचवे दान अर्थात् आत्मदान में बलि के समान थे ।

७४. अप्प—सं० आत्मनः >प्रा० अप्प>प्रा० अप्प=निज, स्व, अपने । (पासद्द० ७०) ।

७५. वित्थरिअ = फैलाया । सं० विस्तृ>प्रा०वित्थर । सं० विस्तारय्ॅ >प्रा० वित्थार । विस्तारित>वित्थारिय (पासद्द० ९७८) ।

१।२४ [दोहा]

तासु तनय नय विनय गुन गरुअ राए गअणेस ॥७६॥
जे पट्टाइअ दस दिसओ कित्ति कुसुम संदेस ॥७७॥

१।२५ [छपद]

दाने गरुअ गएणेस जेन्ने जाचक अनुरंजिअ ॥७८॥

---

७६ [अ] विनय। 'गुन' नहीं है। गअणेस ॥

[क] तनअं, नअ विनअ। नअ (गुन)। 'गुन' पाठ। ख प्रति का है।

७७ [अ] जें। दस दिसओ।

७८ [अ] गअणोस जेन्नें। अनुरज्जिअ।

[क] दान। गएनेस। जेन्ने। जन रञ्जिअ। [ख] जेन अथवा जेण। मन (जन)।

७६-७७. उनके पुत्र नीति, विनय आदि गुणों में श्रेष्ठ राजा गणेश्वर थे जिन्होंने दशों दिशाओं में अपनें कीर्ति-कुसुम का सौरभ फैलाया।

७८. गणेश्वर धन देने में श्रेष्ठ थे जिससे याचकों के मन को अनुरंजित करते थे।

---

७७. पट्टाइअ—सं० प्रस्थापित > प्रा० पट्टाविअ, पट्टविअ > अप० पट्टाइअ (पासद० ६२२)।

कित्तिकुसुमसंदेस = कीर्तिलता के पुष्प का सौरभ।

माने गरुअ गएरोस जेन्ने रिउ बड्डिम भंजिअ ॥७६॥
सत्ते गरुअ गएनेस जेन्ने तुलिअउ आखंडल ॥८०॥
कित्ति गरुअ गएनेस जेन्ने धवलिअ महिमंडल ॥८१॥

---

७९ [अ] मानें । गअनेस । जेन्नें रिउ । भंजिअ ।
[क] मान । गएनेस । जेन्हे रिउँ । भञ्जिअ ।
[ख] जेन अथवा जेण ।
८० [अ] असत्तें । गअनेस । जेन्हे ।
[क] सत्ते । गएनेस । जेन्हे तुलिअओ आखण्डल ।
[ख] सत्य । तुलिअउ ।
८१ [अ] जेन्नें [क] धरिअउँ महिमण्डल ।

---

७९. मान में वे श्रेष्ठ थे जिससे शत्रुओं के बड़प्पन को नष्ट करते थे।

८०. सत्त्व में श्रेष्ठ होने से इन्द्र के सदृश थे।

८१. कीर्ति में वे श्रेष्ठ थे, जिससे उन्होंने सारे भूमण्डल को उज्ज्वल बना दिया था।

---

७९. रिउँ—सं० रिपु > प्रा० रिउ > अप० रिउँ = शत्रु वैरी, दुश्मन (पासह० ८८३)।

बड्डिम = बड़ाई। देशी० वड्ड = बड़ा।

८०. आखंडल = इन्द्र। सं० आखण्डल।

८१. गरुअ—सं० गुरुक > प्रा० गरुअ = गुरु, बड़ा, महान् (पासह० ३६३)।

लावण्णे गरुअ गएनेस ओ देक्खि सभासइ पंचसर ॥८२॥
भोगीस तनअ सुपसिद्ध जग गरुअ राए गएनेसपर ॥८३॥

१।२६

अथ गद्य ।

ताहि कर ˙ त्र युवराजन्हि मध्य पवित्र ॥८४॥
अगणेय गुणग्राम, प्रतिज्ञापदपूरणैक परशुराम ॥८५॥
मर्यादा मङ्गलावास कविता कालिदास ॥८६॥
प्रबल रिपुबल सुभट संकीर्ण, समर साहसदुर्निवार ॥८७॥

---

८२ [अ] लावण्ण । ओ देक्खि । [क] लावन्ने । पुनु (ओ के स्थान पर) । देक्खि । [ख] लावन्य ।

८३ [अ] गअनेस पर । [क] गएनेस पर । [ख] बर

८४ [अ] ताहि । मध्य । [क] तान्हि । माँझ । [ख] युवराजन्ह मह ।

८५ [ख] अनेक गुण ग्रामामिराम ।

८७ [ख] सघट्ट सुमट्ट ।

---

८२. लावण्य में भी वे श्रेष्ठ थे और देखने से कामदेव जान पड़ते थे ।

८३. भोगीश्वर के पुत्र गणेश्वर जगत्प्रसिद्ध श्रेष्ठ महान् पुरुष थे ।

८४-८६. उनके पुत्र युवराजों में पवित्र, अगणित गुणों के आगार, प्रतिज्ञा पूर्ति में परशुराम, मर्यादा के मंगल मय स्थान, कविता में कालिदास ।

---

८७. संकीर्ण समर = तुमुल युद्ध ।

धनुर्विद्या-वैदग्ध्य धनञ्जयावतार ॥८८॥
समाचरित चन्द्रचूड चरणसेव, समस्त प्रक्रिया विराजमान
महाराजाधिराज श्रीमद्वीरसिंह देव ॥८९॥

१।२७ [दोहा]

तासु कनिट्ठ गरिट्ठ गुण कित्ति सिंह भूपाल ॥९०॥
मेइणि साहउ चिर जिवउ करउ धम्म परिपाल ॥९१॥

---

८८ [ख] समासादित्य ।
९१ [अ] मेइणि । जिवउ । धर्म्म परिपाल । 'करउ' पाठ नहीं है ।
[क] मेइनि । साहउँ । चिरजिवउँ । करउँ ।
[ख] साहउ । चिरजिअउ । करौ ।

८७-८९. प्रबल शत्रु सैन्य के वीरों के साथ तुमुल युद्ध में साहस दिखाने में पीछे न हटने वाले, धनुर्विद्या के चातुर्य में अर्जुन के अवतार स्वरूप, श्री शंकर के चरणों को सेवा करने वाले, सब शुभ रीतिओं को निभाने वाले महाराजाधिराज श्रीमत् वीरसिंह देव थे ।

९०-९१. उनके छोटे भाई उत्कृष्ट गुणों वाले राजा कीर्ति-सिंह पृथ्वी को अपने वश में करें, धर्म का पालन करें और चिर-जीवी हों ।

---

९०. कनिट्ठ—सं० कनिष्ठ > प्रा० कणिट्ठ > अप० कनिट्ठ = छोटा लघु (पासद्द० २७६) ।

९१. मेइणि—सं० मेदिनी > प्रा० मेइणि > अप० मेइनि = पृथिवी (पासद्द० ८६५) ।

साहउ—सं० साध = वशमें करना > प्रा० साह > अव० साहउ (पासद्द० ११२३) ।

अथ गद्य।

१।२८

जेन्ने राएं अतुलतर विक्रम विक्रमादित्य करेओ तुलनाए ॥९२॥
साहस साधि, पातिसाहि आराधि दुष्टा करेओ दप्प चूरेओ॥९३॥
पितृ वैरि उद्धरि, साहि करि मनोरथ पूरेओ ॥९४॥
प्रबल शत्रुबल संघट्ट सम्मिलन सम्मर्द संजातपादाघात ॥९५॥

---

९२ [अ] जेन्नें राएँ। करे। तुलनाए।
[क] जेन्हे राजे। करेओ। तुलनावे।
[ख] तुलनाओ।
९३ [अ] पातिसाहि। पूरेओ (चूरेओ के स्थान पर)।
[क] पातिसाह। चूरेओ।
[ख] दुठुकरो (करेओ के स्थान पर)।
९४ [अ] पितृविर। [क] पितृवैर।
९६ [अ] तुरंग खर। क्षुण्ण। [क] तरंग खुर। क्षुन्न।
९७ [अ] करो परिग्रह। [क] करग्रहण।

---

९२. जिस राजा ने अति अतुल विक्रम के द्वारा विक्रमादित्य से तुलना की;

९३. साहस धारण कर बादशाह को सेवा से प्रसन्न कर, दुष्टोंका गर्व चूर किया;

९४. पिता का बैर चुकाकर माताओं के मनोरथ को पूरा किया;

९४-१०२. प्रबल शत्रु सेना के साथ संघर्ष, संमिलन और संम-

---

९५. संघट्ट = संघर्ष। सम्मिलन = सम्पर्क। संमर्द = मर्दन, ध्वंस।

तरलतर तुरंग खुर क्षुएण वसुन्धरा धूलि संभार घनान्धकार॥९६॥
श्यामसमरनिशाभिसारिका प्रायजयलक्ष्मी करो परिग्रह करेयो॥९७॥
बुड्डंत राज उद्धरि धरियो ॥९८॥
प्रभुशक्ति दानशक्ति ज्ञानशक्ति तीनिहु शक्ति क परीक्षा जानलि॥९९॥
रूसलि विभूति पलटाए आनलि ॥१००॥
अहितन्हि करो अहंकार हरियो ॥१०१॥
तरलतरवारिधारा तरंग संग्राम समुद्रफेणप्राय यश उद्धरि दिगन्त विथ्थरियो ॥१०२॥

---

९८ [अ] बुडंत्त ।
[क] बूडन्त ।
१०१ [अ] अहितहि करो । हरियो ।
[क] तन्हि करेओ । सारेओ ।
१०२ [अ] तरवारि ('तरल' नहीं है) । सांगसमुद्रकरोफणाप्रायजस-उद्धरि दिगंत वित्थरियो ।
[क] तरलतरवारिधारातरङ्गसंग्रामसमुद्रफेणप्राय यश उँद्धरि दिगन्त विथ्थरेओ ।

र्दन से उत्पन्न पदाघात तथा अति चंचल तुरंगों के खुरों से दलित पृथ्वी की धूलि के समूह से युक्त गहरे अन्धकार वाली काली समर रूपी रात्रि में अभिसार करने वाली विजय लक्ष्मी का परिग्रह किया; डूबते राज्य का उद्धार करके रक्खा; प्रभुशक्ति, दानशक्ति, ज्ञान-शक्ति इन तीनों ही शक्तियों की परीक्षा को जाना; रूठी हुई सम्पत्ति को लौटाया; शत्रुओं का अहंकार दूर किया और तलवार की धारा रूपी तरंगों से युक्त युद्ध रूपी समुद्र के फेन के समान धवल यश को उत्पन्न कर दिशाओं के अन्त तक फैलाया।

---

१०१. अहितन्हि = शत्रु का ।

१।२९

ईश मस्तक निवास पेशला ॥१०३॥
भूति भार रमणीय भूषणा ॥१०४॥
कीर्ति सिंह नृपकीर्ति कामिनी ॥१०५॥
यामिनीश्वरकला जिगीषतु ॥१०६॥

इति श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां प्रथमः पल्लवः ॥

---

१०३ [अ] निवास। [क] विलास।
१०६ [अ] कलां।

१०३-६. वह चन्द्रकला विजयशालिनी हो जो शिवमस्तक पर निवास करने से सुन्दरी है, जो शिव की विभूति के समूह से रम्य अलंकरण युक्त है, एवं जो राजा कीर्तिसिंह के धवल यश के जैसी धवलता की इच्छुक है।

१०३-१०६. यामिनीश्वर कला—यामिनी = रात। यामिनीश्वर—निशानाथ, चन्द्रमा। इस अर्थ में चन्द्रमा की कला प्रधान वर्ण्य वस्तु है, किन्तु व्यंजना से कीर्तिसिंह की कीर्ति का वर्णन ही कवि को इष्ट है।

ईश मस्तक निवास पेशला—शिवजी के मस्तक पर स्थित होनेके कारण जिसकी धवलता अधिक सुशोभित है।

भूतिभाररमणीय भूषणा—भूतिभार = शिव के शरीर पर लगी हुई भस्म का भार या समूह। कवि का तात्पर्य यह है कि पहले तो शिवका शरीर ही श्वेत है, उस पर लगी हुई जो भभूत है उसके कारण वह शरीर और अधिक धवलित वर्ण का होने से भास्वर जान पड़ता है। ऐसे शरीर के मस्तकपर सुशोभित चन्द्रमा उस धवलता से अत्यधिक उद्भासित है।

कीर्तिसिंह नृपकीर्तिकामिनी—कीर्ति का वर्ण धवल माना गया है।

द्वितीय अर्थ—

कीर्तिसिंह राजा की कीर्ति रूपी सुन्दरी, जो अपने स्वामी के मस्तक के साथ विलास करने से सुन्दर है और अनेक प्रकार की वैभव सामग्री से सुशोभित है, अपनी धवलता से पूर्ण चन्द्र की कलाओं पर विजयी हो।

कीर्तिसिंह राजा की कीर्ति इतनी धवल है कि शिव के धवल शरीर की धवल विभूति से अत्यधिक उद्भासित चन्द्रमा भी कीर्तिसिंह के यश की धवलता से न्यून रहने के कारण उसकी कामना करता है।

इस अर्थ में कीर्तिसिंह की कीर्ति ही वर्णन का प्रधान विषय है। वह कीर्ति रूपी सुन्दरी अपने स्वामी के मस्तक के साथ विलास करती है जैसे स्त्री पतिके मस्तक को अपनी गोद में रख लेती है वैसे ही राजा की कीर्ति उसके मस्तक का भूषण है।

भूतिभार रमणीय—भूति का यहाँ तात्पर्य राजवैभव से है। उस वैभव-द्वारा प्रदत्त अनेक अलंकरणों से सुशोभित है।

यामिनीश्वरकला—यहाँ सन्धि-द्वारा विसर्गों का लोप हो गया है। मूलपाठ 'यामिनीश्वरकलाः जिगीषतु', ऐसा मानना चाहिए था। इसकी व्यंजना यह हुई कि यहाँ द्वितीया का चन्द्रमा नहीं, सोलह कलाओं से युक्त पूर्णिमा का चन्द्रमा इष्ट है अर्थात् कीर्तिसिंह की कीर्ति रूपी सुन्दरी अपनी धवलतासे पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र को जीतने की इच्छा करती है।

श्री विद्यापति-द्वारा रची हुई कीर्तिलता का प्रथम पल्लव समाप्त हुआ ॥



[द्वितीयः पल्लवः]

अथ भृंगी पुनः पृच्छति ॥१॥

२।१ [दूहा]

किमि उप्पणउ वैरिपण किमि उद्धरउ तेण ॥२॥
पुरण कहांणी पिअ कहहु सामिअ सुनउँ सुहेण ॥३॥

पाठान्तर—

२ [अ] उप्पणेउ । [क] उँप्पन्नउँ । उँद्धरिउँ । तेन । [ख]
उपनेउ । उद्धरिअउ । तेन ।

३ [अ] उन्न । सुखेण । [क] पुण्ण कहाणी पिअ कहहिँ
सामिअ सुनओ । [ख] पुण्ण···कहहु ।

हिन्दी अर्थ—

१–३. भृंगी फिर पूछती है—वैरिपन किस प्रकार उत्पन्न हुआ और उस से किस प्रकार उद्धार हुआ ? हे प्रिय ! यह पुण्य कहानी आप कहिए । हे स्वामी ! इसे मैं सुख पूर्वक सुनूँगी ।

टिप्पणी—

२. उप्पणउ—सं० उप्पन्न > प्रा० उप्पण्ण(= उद्भूत, उत्पन्न, संजात) > अप० उप्पणउ ।

वैरिपण—सं० वैरित्व > प्रा० वैरिप्पण > अप० वैरिपण ।

३. पिअ—सं० प्रिय > प्रा० पिय, पिअ ।

२।२ [छपद]

लख्खणसेन नरेस लिहिअ जे पख्ख पंच बे ॥४॥
तम्महु मासहि पढम पख्ख पंचमी कहिअ जे ॥५॥
रज्ज लुद्ध असलान बुद्धि बिक्कम बलें हारल ॥६॥
पास बइसि विसवासि राअ गअनेसल मारल ॥७॥

---

४ [अ] लिखिअ । [क] लक्खणसेन नरेश । जवे । पष्ख ।
५ [अ] मउम पख्ख । [क] तम्मजु । पष्ख पञ्चमी । [ख] कहिज्जै ।
६ [क] लद्ध । [ख] लुद्ध ।
७ [क] राए गएनेसर ।

४-९. जब लक्ष्मणसिंहनरेश का २५२ वाँ सम्वत् लिखा गया तब मधुमास के प्रथम पक्षकी पंचमी को राज्य लुब्ध और बुद्धि, पराक्रम तथा बल में गणेश्वर से हारे उस शैतान असलान ने पास बैठ कर अर्थात् विश्वास उत्पन्न कर के राय गणेश्वर को मार डाला। राजा के

सामिअ—सं० स्वामिन् > प्रा० सामि, सामिअ ।

सुहेण—सं० सुख > प्रा० सुह > अप० सुह । सुहेण = सुख से, आनन्द से (पासद्द० ११६४)।

४. लख्खणसेन—राजा लक्ष्मणसेनका संवत् = ११११९ ई० । २५२ लक्ष्मणसेन संवत् = ११११९ + २५२ = १३७१ ई० ।

७. वइसि—सं० उपविश् > प्रा० उवविस > अव० वइस, बइस (= बैठकर, पासद्द० २२४)।

मारन्त राअ रण रोल परु मेइनि हाहासद्द हुअ ॥८॥
सुरराए णअर नाअर रमण वाम नअन पप्फुरअ धुअ ॥९॥

२।३

ठाकुर ठक भए गेल चोर चप्परि घर लिज्झिअ ॥१०॥

---

८ [अ] मारन्तें ।
[क] राए । मेविनि ।
[ख] हरोर (रोल के स्थान में) । भौ (परु के स्थान में) ।
[शा] पड्डु ।
९ [क] नएर नाएर रमनि । नयन ।
[ख] रवनि बाव ।
१० [अ] चाकुर चक भए गल चारे सप्परि घर सज्जिअ ।
[क] चोरें । लिज्झिअ ।
[ख] चोर । सज्जिअ ।

मरने पर युद्ध में कोलाहल छा गया । सुरराज इन्द्र के नगर के नागरिकों की पत्नियों के वाम नयन निश्चय ही फड़कने लगे ।

१०–१५. ठाकुर लोग धूर्त बन गए, चोरों ने आक्रमण करके

बिसवासि = शैतानके कहनेमें चलने वाला । अर० वसवास = बुरे विचार । अल्-वसवास = शैतान । वसवासी = शैतानी स्वभाव का । अर० वसवास + फा० ई प्रत्यय (स्टाफा० १४६८) । दे० पदमावत, संजीवनी टीका, द्रू० संस्करण, ८०।३।२०२।१; पै यह पेट भयउ बिसवासी, जेहिनाए सब तपा सन्यासी ।

८. रोल—दे० रोल = कलह, झगड़ा, रव, कोलाहल, कलकल, आवाज (पासद्द० ४६०) ।

१०. ठक—सं० ठक > प्रा० ठग = ठग, धूर्त, वञ्चक (पासद्द०

दास गोसाउनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिअ ॥११॥
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहिं होइ विचारक ॥१२॥
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम काँ पारक ॥१३॥

---

११ [अ] दासे ।
[क] गोसाउनि ।
१३ [अ] विआह । का ।
[ख] कुजाति विआह अधमेक उत्तम परिपारक ।

घर ले लिए (अथवा उनपर अपना अधिकार जमा लिया), सेवकों ने स्वामियोंको पकड़ लिया, धर्मके चले जानेसे धन्धा डूब गया, दुष्ट लोग सज्जनों को पराभूत करने लगे, कोई न्यायकर्ता नहीं रहा, उत्तम जाति के लोग नीच जाति से विवाह करने लगे, अधम जन

---

४६०) । चप्परि—सं० आ + क्रम (= आक्रमण करना, दबाना) का धात्वादेश चप्प, चप्परि = आक्रमण करके (पासद्द० ३९९) लिज्झिअ—सं० लात > अप० लिज्झिअ (= गृहीत, ले लिया) > अव० लिज्झिअ = (पासद्द० ९०२) ।

११. गहिअ—सं० गृहीत = पकड़ा हुआ (पासद्द० ३६६) ।

धन्ध— सं० द्वन्द्व > प्रा० दंद > अप० धंध = व्यापार, सांसारिक व्यवहार (पासद्द० ५५६) ।

निमज्जिअ—सं० निमज्ज > प्रा० णिमज्ज > अप० निमज्जिअ = डूबना, निमज्जन करना (पासद्द० ४९७) ।

१२. विचारक—न्यायकर्त्ता ।

१३. पारक—सं० पारय् > प्रा० पार = पार पहुँचना, पूर्ण करना (हे० ४।८६) > अप० पारक = पार पहुँचाने वाला (पासद्द० ७२७) ।

अक्खर बुज्झनिहार नहिं कइकुल भमि भिक्खारिभउँ ॥१४॥
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जबे सग्ग गउँ ।१५।

२।४ [रड्डा]

राए वधिअउँ सन्त हुअ रोस ॥१६॥

---

१४ [अ] कविकुल ।
[क] अक्खरके पश्चात् 'रस' पाठ अधिक ।

१५ [अ] सबे । गौ ।
[ख] गयणेश राय ।

१६ [अ] राउ वधिअउँ ।

उत्तम को पार उतारने वाले बन गए, अक्षर (काव्य, पाण्डित्य) को समझने वाले नहीं रहे, कविजन भिखारी होकर भ्रमण करने लगे । राजा गणेश्वर के स्वर्ग चले जानेपर तिरहुत में सभी गुण लुप्त हो गए ।

१६-२०. राजाका वध होने पर असलान का क्रोध शान्त हुआ ।

---

१४. कइ—सं० कवि > प्रा० कइ (पासद्द० २६१) ।
भमि—सं० भ्रमि > प्रा० भमि = भ्रमण करना = (पासद्द० ७९८) ।

१५. रा—सं० राजन् > प्रा० राय > अव० रा = राजा ।
सग्ग—सं० स्वर्ग > प्रा० सग्ग = देवोंका आवास स्थान (पासद्द० १०७१) ।

१६. संत—सं० शान्त > प्रा० संत ।

लज्जाइअ निअ मनहि मन, अस तुरूक असलान गुणाइ ॥१७॥
मन्द करिअ हओ कम्म, धम्म सुमरि निअ सीस धुनइ ॥१८॥
एहि दुनअ उँद्धार के पुण्ण न देक्खओ आन ॥१९॥

---

१७ [अ] निअ । 'मन' पाठ नहीं है । गुन्नइ ।
[ख] तूरूक । गुणँ ।
[शा] तुरुक्क ।
१८ [अ] मन्द । हमु । निअ ।
[क] निज सीस धुन्नइ ।
[ख] णिअ सीरा घुणँ ।
१९ [अ] एहि दुन्नअ उद्धार कि अंगण देल्खय ओ आन। दिण्ण ।
[क] दिण्ण । के पुण्ण न देक्खओ आन ।
[ख] दुणो ।

तुर्क असलान अपने मन ही मन लज्जित हुआ और इस प्रकार विचराने लगा—'मैंने नीच कर्म किया है,' और धर्म का स्मरण कर वह अपना सिर धुनने लगा—'इस दुर्नीति के उद्धार के लिए इस के

---

१७. गुन्नइ—सं० गुणय = आवृति करना, याद करना (पासद्द० ३७२) > प्रा० गुण, गुणइ > अप० गुण्णइ = विचार करना ।

१९. दुन्नअ—सं० दुर्नय > प्रा० दुण्णय, दुन्नय > अप० दुन्नय = दुर्नीति ।
पुण्ण— सं० पुण्य > प्रा० पुण्य > अप० पुण्ण, पुन्न = शुभ कर्म, सुकृत (पासद्द० ७४६) ।

रज्ज समप्पञो पुनु करउ कित्तिसिंह सम्मान ॥२०॥

२।५ [दोहा]

सिंह परक्कम मानघन वैरुद्धार सुसज्ज ॥२१॥
कित्तिसिंह णहु अंगवइ सत्तु समप्पिअ रज्ज ॥२२॥

---

२० [अ] समप्पओ । करउ ।
[क] समप्पओ । करओ ।
[ख] करौ ।

२१ [अ] पराक्रम ।
[ख] बीरघण ।

२२ [अ] णहु अंग (वइ इस प्रति में नहीं है) । सप्पिह ।
[क] नहु ।
[ख] णहि । समप्पै ।

अतिरिक्त अन्य शुभ कर्म नहीं देख पड़ता कि कीर्तिसिंह को राज्य पुनः लौटा दूँ और उसका सम्मान करूँ ।

२१-२२. सिंह के समान पराक्रमी, मानधनी, वैर का बदला लेने में तत्पर, कीर्तिसिंह शत्रु-द्वारा समर्पित राज अंगीकार नहीं करता ।

---

२०. सम्पञो—सं० सम + अर्पय् = अर्पण करना, देना > प्रा० समप्प > अप० सम्प, सपओ (पासद्द० १०६४) ।

२२. अंगवइ—सं० अंगी + कृ = स्वीकार करना > प्रा० अंगीकरेइ अंगीकार करना । समप्पिअ—सं० समर्पित > प्रा० समप्पिअ अप० समप्पिअ = दिया हुआ (पासद्द० १०८४) ।

२।६ [रड्डा]

माए जम्पइ अवरु गुरु लोए ।।२३।।
मंति मित्त सिक्खवइ, कवहु एहु नहि कम्म करिअइ ।।२४।।
कोहे रज्ज परिहरिअ, वप्प वैर निज चित्त धरिअइ ।।२५।।
लेहेन राए गएनेस गउँ सुरपुर इन्द समाज ।।२६।।
तुम्हे सत्तुहि मित्त कए भुञ्जह तिरहुति राज ।।२७।।

---

२३ [अ] जंपए ।
२४ [अ] मंति मित्त सिख्खवइ णहि ।
[ख] ण हिण्ह (नहि)
२५ [अ] चिर (निज के स्थान पर ।
[ख] कोह ।
२६ [अ] नहले । रा गअनेस गौ । लोअ (इन्द के स्थान पर) ।
[ख] गणेश । लोय (इन्द के स्थान पर)
[शा] लहेन लहणे ।
२७ [अ] तुंम्मे सत्तु निविसकए भुंजह ।
[क] भुञ्जह ।
[ख] भुञ्जहु ।

२३–२७. माता और गुरुजन कहते हैं, मन्त्री मित्र शिक्षा देते हैं—कभी ऐसा काम नहीं करना कि बाप के बैर को अपने मनमें स्मरण कर क्रोध से राज्य त्याग दो । भाग्यानुसार गणेश्वर स्वर्ग के इन्द्र समाज में गए (मृत्यु को प्राप्त हुए) । तुम्हें शत्रु को मित्र बनाकर तिरहुत का राज भोगना चाहिए ।

---

२५. कोहे–सं० क्रोध > प्रा० कोह(= गुस्सा, कोप) > अप० कोहे = क्रोधमें, गुस्सेमें (पासह० ३३६) ।

२।७ [गद्य]

तेतुली वेला मातृ मित्र महाजन्हि करो बोलन्ते ॥२८॥
हृदय गिरि कंदरा निद्राण पितृवैरिकेसरी जागु ॥२९॥
महाराजाधिराज श्रीमत्कीर्तिसिंह देव कोपि कोपि बोलए लागु॥३०
अरे अरे लोगहु, वृथा विस्मृतस्वामी ॥३१॥
शोकहु कुटिल राजनीति चतुरहु मोर वअण चित्ते धरहु ॥३२॥

२८–३२ [अ] मंत्ति महाजननहि० । हृदअ० कंदरानि० पितृवैर-केक्षरिणा । लोकहु । मोस वअण चित्ते धरहु ।
[क] मोर वअन आअण्यो करहु ।
[ख] वेरा । महजन्हिकरो । बोलवा ।

२८–३२. उस समय माता, मित्र और महाजनों के बोलने पर हृदयरूपी गिरि कंदरा में सोया हुआ पितृ वैरी के लिये सिंह जाग उठा। महाराजाधिराज कीर्तिसिंह देव क्रुद्ध होकर बोलने लगे— "अरे अरे लोगों ! स्वामी के शोक को सहज भूल जाने वालों, कुटिल राजनीति में चतुरों, मेरे वचन सुनो।"

---

२६. लेहेन—सं लेखन > प्रा० लेहन, लेहण > अप० लेहेन = लेख के अनुसार, भाग्यानुसार ।

२८. महाजन्हि = महाजन, सराफा बाजारके सदस्य ।

२९. निद्राण = सोया हुआ ।

२।८ [दोहा]

माता भणइ ममत्तयइ मन्ती रज्जह नीति । ३३ ॥
मज्झु पिआरी एक्क पइ वीर पुरिस का रीति ॥ ३४ ॥

२।९ दोहा

मान विहूना भोअना सत्तुक देबेल राज ॥ ३५ ॥

---

३३ [ख] णमन्त पै ।
[शा] मनत्तपइ ।

३४ [अ] पज्झुपज्झू । पर (पइ) । को ।
[क] का ।
[ख] कै । चीति ।
[शा] को० ।

३५ [अ] विहीना । सत्तक देले ।
[ख] शत्रुके दीन्हे राज ।
[शा] सत्तुके देले राज ।

३३–३४. माता ममता के कारण कहती है, मंत्री राजनीति कहता है, परन्तु मुझे तो केवल एक वीर पुरुष की रीति प्रिय है ।
३५–३६. मान विहीन भोजन, शत्रुके दिये हुये राज्य का

---

३३. ममत्तयइ—सं० ममत्व >प्रा० ममत्त >अप० ममत्त । ममत्तयइ = ममतासे, मोहसे (पासद्द० ८३२) ।

३४. पइ—सं०प्रति >प्रा० पड़ि, पइ = पर ।

३५. भोअना—सं० भोजन >प्रा० भोअण >अप० भोअन = भोजन , खाना, (पासद्द० ८१६) ।

सरण पइट्ठे जीअना तीनू काअर काज ॥ ३६ ॥

२।१० [चउपई]

जो अपमाणे दुक्ख ण माणइ ॥ ३७ ॥
दान खग्गको मम्म न जानइ ॥ ३८ ॥
पर उँअआरे धम्म न जोअइ ॥ ३९ ॥
सो धण्णो निच्चित्ते सोअइ ॥ ४० ॥

---

३६ [अ] जीअणा । तीनु ।
[ख] तीनिउ । कायर ।
३७ [क] अपमाने दुक्ख न मानइ ।
[ख] अपमाने दुक्ख न मानइ ।
३९ [अ] उअआरे । धर्म्म । ण ।
४० [अ] धन्नो । निच्चिन्ते ।

उपभोग, शरणागत होकर जीना, ये तीनों कायर के काम हैं ।

३७–४०. जो अपमान में दुःख नहीं मानता, खड्ग दान के रहस्य को नहीं जानता; परोपकार में धर्म नहीं देखता, वह भाग्यशाली निश्चिंत सोता है ।

---

३६. पइट्ठे—सं० प्रविष्ट प्रा>० पइट्ठ >अप० पइट्ठे = प्रवेश करके
काअर—सं० कातर >प्रा० कायर >अप० काअर = अधीर, डरपोक (पासह० २९९) ।

३८. दानखग्ग—खड्गदान । मिलाइए, खाँड़ेदान उभयनित बाहाँ (जायसी २२।३) ।

३९. पर उँअआरे—सं० पर + उपकार, परोपकार >परउअआर >अप० परउँअआर = परोपकार ।

२।११ [दूहा]

पर पुर मारि सञो गहञो बोलए न जा किछु धाए ।।४१।।
मेरहुँ जेट्ठ गरिट्ठ अछ मन्ति विअक्खन भाए ।।४२।।

---

४१. [अ] सहओ कहआ बोलएँ ।
[क] धाइ ।
४२. [अ] मोराहु । विअख्खण । धाए ।
[ख] मोरहु जेठ गरिठ है ।

४१–४२. शत्रु को उसके नगर में मार कर मैं अकेला ही उसे पकड़ूँगा । जो कुछ प्रतिज्ञा करूँगा उसका व्यतिक्रम न होगा । बड़े और सम्मानित व्यक्ति मर्यादा में रहते हैं । मन्त्री नीति कुशल ही अच्छा लगता है ।

जोअइ—सं० दृश् >प्रा० जो, जोअ >अप० जोइ जोअइ = देखना (पासद्द० ४५५) ।

४०—धण्णो—सं० धन्य >प्रा० धण्ण = भाग्यशाली (पासद्द० ५९५) ।

४१. पर—सं० पर >प्रा० पर = अन्य, दूसरा । इसका दूसरा अर्थ दुश्मन, शत्रु भी है जो यहाँ अभीष्ट है (पासद्द० ६७१) ।

सञो = स्वयं, अकेला । सं० स्वयम् >प्रा० सयं >अव० सञो ।

बोलए—सं० व्यतिक्रम धातुका धात्वादेश प्रा० बोल = उल्लंघन करना, छोड़ना (पासद्द० ७९१) >अव० बोलइ, बोलए । धाए—सं० धा धातु = धारण करना, बोझ उठाना, प्रतिज्ञा करना ।

४२. मेरहुँ = मर्यादा में । सं० मर्यादा >प्रा० मेरा (पासद्द० ८६६) ।

जेट्ठ–गरिट्ठ = बड़े और सम्मानित । सं० ज्येष्ठ–गरिष्ठ ।

अछ = है । सं० आ + क्षि (= रहना; क्षि निवासे) >प्रा० अच्छ,

२।१२ [छपद]

वप्प वैर उद्धरओ न उण परिवण्णा चुक्कओ ॥४३॥
संगर साहस करओ ण उण सरणागत मुक्कओ ॥४४॥

---

४३ [अ] बप्प वैर उद्धओ ण उण परिवण्णे चुक्कओँ ।
[क] उद्धरओ । ळुण । चुक्कओ ।
[ख] बयर । ख प्रति में सारी क्रियाएँ उद्धरिअ चुक्किअ आदि हैं, प्रथम पुरुष की नहीं ।
४४ [अ] संकर । साहस करओ । मुक्कओँ ।
[क] करओ । मुक्कओ ।

४३–४८. मैं पिता के वैर का बदला लूँगा और अपनी की हुई प्रतिज्ञा से भ्रष्ट न होऊँगा। युद्धमें पराक्रमसे काम लूँगा और

अच्छइ (= बैठना, रहना, हेम० ४।२१४)। यह अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी में प्रसिद्ध धातु है ।

विअक्खण—सं० विचक्षण = दक्ष, नीति कुशल । इस दोहे में चार बातें कही गई हैं । पहले वाक्य में कीर्तिसिंह की प्रतिज्ञा है । दूसरे में उसका कथन है कि जो कुछ मैंने ठान लिया है उसका उल्लंघन नहीं होगा । तीसरे वाक्य की व्यंजना यह है कि बड़े और सम्मानित व्यक्ति को अपनी मर्यादा का पालन करना चाहिए । वही मेरे लिए उचित है । चौथे वाक्य का आशय यह है कि आप लोगों ने भी जो सलाह दी है वह नीति कुशल मन्त्री की दृष्टि से ठीक है ।

४३. उण—सं० पुनः > प्रा० पुण, उण (हे० १।६५) > अव० ळुण ।

परिवण्णा—सं० प्रतिपन्न > प्रा० परिवण्ण > अव० परिवण्ण = अंगीकृत, स्वीकृत ।

चुक्कओ—सं० भ्रंश का धात्वादेश चुक्क = भ्रष्ट होना (हे० ४।२०) ।

दाने दलओो दारिद्द न उण नहि अक्खर भासओो ॥४५॥
पाने पाढ वरु करओो न उण नीसत्ति पआसओों ॥४६॥

---

४५ [अ] दलओ। परदुःख(दारिद्द)। उण। भासओ।
[क] दलओो। उँत। भासओो।

४६ [अ] पाने पाठ वरु करओ। न उण नोसत्ति पआसओ।
[क] पाने पाट।
[ख] पाणि पान।

(असलान का) शरणागत बनकर चुप नहीं बैठूँगा। दान देकरस्वयं द्रारिद्र्य ओढ़ लूँगा पर 'नहीं' शब्द नहीं कहूँगा। चाहे (ब्राह्मण के समान) जीवनमें पाठ पूजा (की वृत्ति) धारणकर लूँ, पर मैं

---

४४. मुक्कओो—सं० मुच् > प्रा० मुक्क = छोड़ना (पासद्द० ८५८) > अप० मुक्क, मुक्कओो = त्यागना।

४५. दलओो—सं० दा का धात्वादेश दल, दलय = देना (कीर्तिलता १।६१)।

कर्पूरमञ्जरीमें भी दा धातु इस अर्थमें प्रयुक्त हुई है। दा का दल धात्वादेश महत्त्वपूर्ण है। उपदेशपदटीकामें यह आया है। जम तस्सयो तमहम दलामि। और भी प्राचीनशब्दमहार्णवमें इसके प्रयोग हुए हैं।

४६. पाने—सं० प्राण > प्रा० पाण, पान = जीवन (पासद्द० ७२४)। पाढ—सं० पाठ > प्रा० पाढ > अप० पाढ = पूजा पाठ (पासद्द० ७२३)। वरु = चाहे।

अभिमान जओ रख्खओ जीवसओ, नीच समाज न करओ रति ।४७।
ते रहउँ कि जाउँ कि रज्ज मम वीरसिंह भणु अपन मति ॥४८॥

२।१३ [रड्डा]

वेवि सम्मत मिलिअ तवे एक ॥ ४६ ॥

---

४७ [अ] अभिमाण जणो रख्खओ । सओ । ण करओं ।

४८ [अ] तें रहउ । जाउ । ममें । भणअइ । अपनि ।
[ख] सरीर (रज्ज) । अप्पणिअ ।

४९. [ख] मिलिअउ । सङ्ग शब्द ख में नहीं है । मिलिअउ ।

(क्षत्रिय होकर) अशक्तिका प्रदर्शन नहीं करूँगा, क्योंकि जीवके साथ अभिमान रखता हूँ कि नीचकी संगतिमें रुचि न करूँगा । तो इसी स्थितिमें पड़ा रहूँ, या राज्य छोड़कर चला जाऊँ, अथवा, राज्य करूँ । वीर सिंह, तुम मुझे इसमें अपनी सम्मति दो ।

४९—५३. दोनोंकी सम्मति तब एक हो गई, दोनों भाई

---

४७. जओ—सं० यतः >प्रा० जओ (पासद्द० ५१६) >अप० जओ = क्योंकि, कारण कि ।

जीवसओ—जीवके साथ, प्राण रहते (पासद्द० ११११) सओ < सउँ, सउ < सम = साथ ।

४९. वेवि—दोनों ।

तवे—सं० ततः >प्रा० तए, तओ, तओ >अप० तवे = तब (पासद्द० ५२३, ५३२)।

वेवि सहोअर संग वेवि पुरिस सब गुण विअक्खण॥५०॥
णं बलभद्दह कण्ण उण वन्निअउँ राम लक्खण ॥ ५१ ॥
राअह नन्दन पाएँ चलु अइस विधाता भोर ॥ ५२ ॥
ता पेक्खन्ते कमण काँ नअण न लग्गइ लोर ॥५३॥

---

५० [अ] (स) व; 'स' शब्द 'अ' प्रति मेनहीं है। विअक्खण। [क] विअष्खन।

५१ [अ] कन्नन। उण। वन्नि अउ। लक्खण। [क] बलभद्दह। लष्खन।[ख] चलेउ बलभद्द बन्निअउँ शब्द ख प्रति मे नहीं है।

५२ [अ] पाएँ (पाओं)। ऐस। [क] पाओं।

५३ [अ] कमणका। लोर [क] नोर। [ख] देखन्ते। कवनके। लगेउ। लोर।

साथ हो गए। दोनों पुरुष सब गुणोंमें दक्ष थे मानो वे बलभद्र और कृष्णके समान थे, अथवा फिर राम-लक्ष्मणके समान वर्णन करता हूँ। ५२. राजाके पुत्र पैदल चले। विधाता भी ऐसा मूर्ख है। ५३. उनको देखकर किसकी आँखोंमें आसूँ नहीं आ जाते ?

---

५१. णं—सं० इव > प्रा० णं = जैसे।

कण्ण—सं० कृष्ण > प्रा० कन्ह > अप० कण्ण।

यद्यपि प्राकृत, अपभ्रंश में कृष्ण से कन्ह होता है, किन्तु अवहट्ट में मुख-सुख के लिए कण्ण भी रूप बन गया है। इसीसे प्राचीन हिन्दी में भी कान्हा, काना दोनों रूप मिलते हैं।

णं...उण = नहीं तो फिर।

५२. पाएँ—सं० पाद, पादेन, पाएन > प्रा० पाअं = पैरोंसे।

भोर—सं० मद्र > दे० भोल, भोर = सरल, भोला (पासद्द० ८१७)।

५३. लोर—आँसू (देशीशब्द, पासद्द० ९०७)।

२।१४ [रड्डा]

लोअ छड्डिअ अवरु परिवार ॥५४॥
रज्ज भोग परिहरिअ वर तुरंग परिजन विमुक्किअ ॥ ५५ ॥
जननि पाए पणामिअ जन्मभूमि को मोह छड्डिअ ॥ ५६ ॥
धनि छोड्डिअ नवजोव्वना धन छोड्डिओ बहुत्त ॥ ५७ ॥
पातिसाह उद्देस चलु गअणेसराअ को पुत्त ॥ ५८ ॥

२।१५ [वाली छन्द (मणवहला)]

पाञे चलु दुअओ कुमर ॥ ५९ ॥

---

५४ [अ] छड्डिअ। [क] छत्तिअ। [ख] क्षड्डिअ। [शा] छड्डिअ।
५६ [अ] पाए। पणमिअ। छड्डिअ। [क] पाञे पन्नबिअ छोड्डिअ।
५७ [अ] में० उबहुत्त के आगे वाला पूरा पाठ नहीं है।
[क] छोड्डिओ।
५८ [अ] उद्देस। गअणेस राअ। [क] उद्देशे। गअनराअ।
५९ [अ] पांञे। चलिहउ। [ख] दुनओ कुअर।

५४-५८. लोक और परिवार छोड़ा, राजभोग छोड़ा तथा श्रेष्ठ घोड़े और सेवकों का परित्याग किया। माता के चरणों में प्रणाम कर, जन्मभूमि का मोह, नवयौवना स्त्री और बहुत साधन छोड़ कर गणेशराय के पुत्र बादशाहसे मिलने के लिए चले।

५९. दोनों कुमार पैदल चले।

---

५७. धनि—सं० धन्या > प्रा० धण्णा, धनि = स्त्री (पासद० ५९६)।
बहुत्त—सं० प्रभूत > बहुत्त = बहुत (हे० १।२३३, पासद० ७८२)।

हरि हरि सबे सुमर ॥ ६० ॥
बहुल छाड़ल पाटि पाँतरे ॥ ६१ ॥
वसने पाजेल आँतरे आँतरे ॥ ६२ ॥

---

६१ [अ] पाठि पातर । [क] पाटि पाँतरे ।
६२ [अ] वसल । पावल आंतरे-आंतर । [क] वसने । पाजेल ।
[ख] वसल ।
६३ [अ] जहा । गामो । [क] गाओ ।

---

६०. सब हरि का स्मरण करने लगे ।

६१-६२. बहुत से बसे हुये प्रदेश और निर्जन स्थानों को छोड़ते हुए, बीच-बीच में ठहरते गए ।

---

६१. पाटि—बसा हुआ प्रदेश ।

पाँतरे—सं० प्रांतर > प्रा० पाँतर = दूरतक विस्तृत निर्जन प्रान्त (प्रान्तरं दूरशून्योऽध्वा—अमर कोश) । पांतर मैथिली में ऐसे प्रान्त को कहते हैं जो दूर तक फैला हो तथा उतनी दूर में कोई गाँव, टोल, छाया, जलाशय आदि न हो । प्रान्तरं दूरशून्योऽध्वा कान्तारो वर्त्म दुर्गमम् (अभिधान चिन्तामणि ४।५१); प्रान्तरं विपिने दूर शून्य वर्त्मनि (विश्व प्रकाश पृ० १३८; मेदिनी पृ० १४१) । इससे सूचित होता है कि प्रान्तर का उल्टा पाटि होता था अर्थात् बसा हुआ प्रदेश । जायसी ने लिखा है—'पाटि ओडैसा के सब चले (पदमावत ४९८।५) । यहाँ पाटि ओडैसा से उड़ीसा का वह बसा हुआ जन संकुल भू-भाग इष्ट है जो महानदी और गोदावरी के बीच में समुद्र तक फैला था ।

६२. वसने—सं० वसन > प्रा० वसण > अप० वसन = निवास करना, रहना ।

जहाँ जाइअ जेहे गामो ॥ ६३ ॥
भोगाइ राजा क वडि नामो ॥ ६४ ॥
काहु कापल काहु घोल ॥ ६५ ॥
काहु सम्बल देल थोल ॥ ६६ ॥
काहु पाती मेलि पैठि ॥ ६७ ॥
काहु सेवक लागु भैंठि ॥ ६८ ॥

---

६४ [अ] वडि नामों। राजाक। [क] रजाक वड्डि नाओ। [ख] राजा।

६५ [अ] कापलं। घोलं। [ख] केहु कापर।

६६ [अ] थोल-थोल। [ख] केहु। दिहत। थोर।

६८ [ख] प्रतिमें यह पंक्ति नहीं है।

६३-६४. जहाँ जाते थे, जिस गाँव में जाते थे, राजा भोगीसराय का बड़ा नाम था।

६५-६८. किसी ने कपड़ा दिया, किसी ने घोड़ा तथा किसी ने मार्ग खर्चके लिये पर्याप्त सामग्री दी। कोई सेना में प्रविष्ट हो गया, कोई सेवक बनने के लिये भेंट करने लगा।

---

६५. कापल = कपड़ा।

घोल—सं० घोटक > प्रा० घोड़ (दे० २. १११), घोर, घोल = घोड़ा।

६६. सम्बल—सं० सम्बल > प्रा० सम्बल = पाथेय, रास्ते में खाने का भोजन या सामग्री।

थोल—सं० स्थूल > प्रा० थुल्ल > अप० थोल = अधिक (पासद० ५५३, ५५४; हे० ११२५५)।

६७. पाती—सं० पत्ति > प्रा० पाती = सेना। मेलि पैठि = प्रविष्ट हो गया।

६८. लागु = के लिये।

काहु देल ऋण उद्धार ॥ ६६ ॥
काहु करिअउ नदी पार ॥ ७० ॥
काहु वहल भार बोझ ॥ ७१ ॥
काहु वाट कहल सोझ ॥ ७२ ॥
काहु आतिथ विनय करु ॥ ७३ ॥
कतेहु दिने वाट संतरु ॥ ७४ ॥

२।१६ [दोहा]

अवसओ उद्दम लच्छि वस अवसओ साहस सिद्धि ॥ ७५ ॥

६९ [अ] रीण उवार। [ख] केहु दिहल।
७० [अ] नदी पार [क] नदीक पार। [ख] केहु। करुअहि। णदो।
७१ [अ] काहू उ बोहू। [क] काहु ओवहल। [ख] केहु बल ?।
७२ [अ] काहू। ककलि सो हू। [ख] केहु।
७३ [अ] आतिथ्य विनअ करू। [ख] केहु आतिथ।
७४ [ख] कतक। दिवस। [क] कतेहु दिने।
७५ [अ] अवसउ। उद्दम। लछि। अवसउ। [क] उद्यम। लक्षि।
[ख] अवसो। उद्दिम।

६९-७४. किसी ने ऋण उधार दिया, किसी ने नदी पार करा दी। किसी ने बोझ भार ढो दिया। किसी ने सीधा रास्ता बतला दिया। किसी ने विनय-पूर्वक अतिथि सत्कार किया (अथवा, किसी ने आतिथ्य स्वीकार करने के लिये नम्र निवेदन किया)। इसी तरह कितने दिनों में रास्ता कटा।

७५-७८. अवश्य ही उद्योग में लक्ष्मी बसती है, अवश्य ही

७२. सोझ = शुद्ध।
वाट—सं० वर्त्म > प्रा० वट्ट > अप० वाट = रास्ता, मार्ग।

पुरुस विअक्खरा जं चलइ तं तं मिलइ समिद्धि ॥ ७६ ॥
तं खरो पेक्खिअ नअर सो जोणापुर तसु नाम ॥ ७७ ॥
लोअन केरा वल्लहा लच्छी को विसराम ॥ ७८ ॥

---

७६ [अ] पुरुष । विलक्षण । जं । [ख] सुरुख जह जह । तह तह ।

७७ [अ] खणे । पेक्खिअ । सों । जोणापुर । [क] कने । जोनपुर । [ख] वर (सो) । जौणापुर जिसु नाउ ।

७८ [अ] को । के । [ख] विसराउ ।

साहस में सिद्धि का निवास है । योग्य पुरुष जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसे समृद्धि मिलती है । उसी क्षण वह नगर दिखलाई पड़ा, जिसका नाम जौनपुर था । वह नेत्रों के लिये प्रिय था और लक्ष्मीका विश्राम-स्थल था ।

---

७७. खने—सं० क्षणे > प्रा० खने = क्षण ।

जोणापुर = जौनपुर । जोनापुर का अर्थ कुछ लोग यमुना के किनारे बसा हुआ अर्थात् दिल्ली करते हैं । यह सम्भव नहीं है और कवि के आशय के विरुद्ध है । विद्यापति ने स्वयं आगे चलकर इसे 'दिग आखण्डल पट्टन' (पल्लव ४।१२१) अर्थात् पूर्वी दिशा का नगर कहा है, जो 'मशरिक्' का अनुवाद है । जौनपुर का राज्य मुस्लिम काल में मशरिक़ी नाम से प्रसिद्ध था ।

७८. लोअन—सं० लोचन > प्रा० लोअण = नेत्र, आँखें ।

वल्लहा—सं० वल्लभ > प्रा० वल्लभ, वल्लह = प्यारा । विसराम = विश्राम-स्थल ।

२।१७ [गीतिका छन्द]

पेक्खिअउ पट्टन चारु मेखल जओन नीर पखारिआ ॥ ७९ ॥
पासान कुट्टिम भीति भीतर चूह उप्पर ढारिआ ॥ ८० ॥

---

७९ [अ] मेखर । जौण । [क] पेष्खिअउ । मेषल । पषारिआ ।
[ख] जौन ।

८० [अ] पासाण । चूर । पखारिआ [ख] टारिआ ।

७९-८०. उन्होंने सुन्दर खाई (मेखला) से घिरा हुआ नगर देखा जो नीर से प्रक्षालित थी और उसका फर्श पत्थर का था और उसकी दीवारों के भीतर से झरने ऊपर गिर रहे थे।

---

७९. जओन—जो। संबंधवाचक सर्वनाम जो का प्रथमा एक वचन। जैसे 'कः' से प्रथमा में कवण, कओन रूप बनता है, वैसे ही जो से जवण, जओन बनेगा।

८०. कुट्टिम—सं० कुट्टिम = फर्श। नीर प्रक्षालित मेखला (खाई) का फर्श जिसके ऊपर दीवार के भीतर से झरने गिर रहे थे। चूह = झरने। चूह—चूआ = सं० चूतक = कुएँ का स्रोत। चूतकोऽन्धौ रसाले च, मुक्तावली या विश्वलोचन कोष, पृ० १५। गंगा के उत्तर तिरहुत में पानी के कम गहरे सोते को 'चूहं' कहा जाता है। इसे ही पटना में और पश्चिमी जिलों में चुआरी, एवं अन्यत्र 'चूआँ' कहते हैं (ग्रियर्सन, बिहार पेज़ेन्ट लाइफ, अनु० ९२०)। पछाहीं हिन्दी में उस स्थान को 'चुआन' कहते हैं जहाँ कुआँ खोदते-खोदते पानी चूने लगता है (अम्बाप्रसाद सुमन, कृषक शब्दावली)।

पल्लविअ कुसुमिअ फलिअ उपवन चूअ चम्पक सोहिया ॥ ८१ ॥
मअरन्द पाए विमुद्ध महुअर सद्द मानस मोहिआ ॥ ८२ ॥
बकवार पोषरि बाँध साकम नीक णीर निकेतना ॥ ८३ ॥

---

८१ [ख] चंप्पय ।
८२ [अ] सद्दँ ।
८३ [अ] नीक नीक । [क] बकवार साकम बोध पोखरि नीक नीक । [ख] बकवार पोखरि बाध साकम णीक णीर ।

---

८१. उपवन पल्लवित, कुशुमित और फलित दिखलायी पड़ रहा था। उसमें आम और चम्पक विशेष शोभा दे रहे थे। ८२. पुष्प पराग के पान से विशेष मुग्ध हुए भँवरों के शब्द से मन मोहित हो जाता था। ८३. नगर दुर्ग के वक्रद्वार या घूघस (वक्रवार) पुष्करिणी, बँधा (पाल); परिखा के ऊपर बँधे हुए पुल (साकम) और सुन्दर जल गृह (णीक णीर निकेतन) से शोभित था।

---

८१. चूअ—सं० चूत>प्रा० चुअ = आम (पासद्द० ४१२)।

८३. बकवार—सं० वक्रद्वार = टेढा द्वार, किले में प्रवेश का घूघस या मुख्य बड़ा द्वार। सं० वक्र >प्रा० वक्क, वक (पासद्द ९१४)। साकम—सं० संक्रम (= पुल) >प्रा० संकम, सक्कम>साकम = जल पर से उतरने के लिए काष्ठ आदि से बाँधा हुआ मार्ग (पासद्द० १०३६)। खाई के ऊपर जो पुल बनाया जाता था उसके लिए संस्कृत में पारिभाषिक शब्द संक्रम था। कौटिल्य ने भी इसका इसी अर्थमें प्रयोग किया है।

बाँध—'अ' प्रति और 'ख' प्रति का यही पाठ है। बाँध = पाल, तालाब का ऊँचा किनारा। 'क' प्रति में बोध पाठ है। यदि वह मूल पाठ हो तो साकम इत्यादि के प्रसंग में बोध भी स्थापत्य संबन्धी कोई

अति बहुत वाट विवट्ट वट्टहि भुलथि बड्डियो चेतना ॥ ८४ ॥

८४ [अ] अति बहुत वाट [क] अति बहुत भाँति। भुलेओ वड्डेओ। [ख] बहुत वट्ट । हहह । उचेतणा ।

८४-८५. दाँयें-बायें घूमनेवाले मार्गों में (आवट्ट-वट्ट विवट्ट वट्ट) बड़े चतुर भी होश भूल जाते थे। नगर के विभिन्न भागों

शब्द होना चाहिए। वर्णरत्नाकर (पृ० ९) में आस्थानमण्डप का वर्णन करते हुए वोह शब्द भी आया है।

पोखरि—जलाशय। सं० पुष्कर>प्रा० पोक्खर=कमल। कमलों से भरी हुई वापी या जलाशय जिसे सं० पुष्करणी या नलिनी भी कहते हैं। प्राचीन नगरोंमें अनेक पुष्करणी या जलाशयों का होना नगर शोभा का आवश्यक अंग समझा जाता था। बाणने उज्जयिनीके वर्णनमें लिखा है कि पक्की पाल बाँधकर बनाए हुए, कुवलय कमलोंसे भरे हुए अनेक सरोवर उस पुरीमें थे।

नीक णीर निकेतना—श्री बाबूराम सक्सेना और शिवप्रसाद सिंह दोनों ने 'नीकनीक निकेतना' पाठ रक्खा है। ख प्रति के अनुसार 'णीक णीर निकेतना' पाठ है, और वही यहाँ संगत है। उसका अर्थ होगा—सुन्दर नीर निकेतन अर्थात् जलगृह या समुद्रगृह जो जलाशय के बीच में या भीतर बनाए गए हों।

नीक—दे० णिक्क=सुनिर्मल, सुन्दर (णायाधम्मकहा सुत्त, पासद्द० ४८४)।

८४. वाट=रास्ता, मार्ग। सं० वर्त्म>प्रा० वट्ट।

आवट्ट वट्ट विवट्ट वट्ट—श्री बाबूरामजी के संस्करण में 'अति बहुत भाँति विवट्ट वट्टहि' पाठ है और पाद-टिप्पणी में वट्ट पाठान्तर दिया है। वस्तुतः यहाँ पाठ-संशोधनकी समस्या इस प्रकार है। मूल संस्कृत

सोपान तोरण यन्त जोवण जाल जालओष खण्डिआ ॥ ८५ ॥

८५ [अ] यन्त्र जोलल । जलऊरोषा वो षण्डिआ ।
[क] तोरन यन्त्र जोलन । [ख] जन्त जोरण ।

में सीढ़ियाँ (सोपान), बड़े द्वार (तोरण) यन्त्र धारा गृह (जन्त-जोल्न), जाली के झरोखे (जाल ओष), और गुप्त द्वार थे ।

शब्द आवर्त-विवर्तके प्राकृतमें आवत्त-विवत्त और आवट्ट-विवट्ट ये दो रूप होते हैं (पासह० १५२, ९९८, ९९९)। संयोगसे विद्यापतिने कीर्तिलतामें तीनों शब्द रूपोंका प्रयोग किया है—

१—आर्वत विवर्त रोलहों, नअर नहिं नर समुद्रओ। (२। ११२)

२. आवत्त विवत्ते पअ परिवत्ते जुग परिवत्तन आना। (४।११४)

इस प्रकार यह लगभग निश्चित ज्ञात होता है कि यहाँ अति बहुत्त वट्टका मूल पाठ आवट्ट-वट्ट ही था। विवट्ट-वट्ट तो स्पष्ट ही है।

आवट्ट वट्ट—दाहिने हाथ घूमने वाले मार्ग। (सं० आवर्त वर्त्म) विवट्ट वट्ट—आवट्ट से उल्टे अर्थात् बाईं ओर घूमने वाले मार्ग। अतएव पूरी पंक्ति का अर्थ होगा—दायें बायें घूमने वाले मार्गोंमें बड़े भी होश भूल जाते थे।

८५. सोपान = नगर के विभिन्न स्थानों में बनी हुई सीढ़ियाँ। विशेष रूप से जलाशय, प्राकार, आस्थान मंडप में सोपान का दृश्य भव्य होता था।

तोरण—सं० तोरण = नगर एवं भवनों के बड़े द्वार।

जंत-जोवण = यंत्र धारागृह, पानी के फव्वारे वाला स्थान।

प्रसंग में यही अर्थ यहाँ संगत है। श्री बाबूराम सक्सेना की प्रति में

धअ धवलहर घर सहस पेखिअ कनअ कलसहि मण्डिआ।। ८६ ।।

---

८६ [अ] धवलगृहरसअसहसे । [ख] कलसह्नि ।

---

८६. वहाँ ध्वजा से युक्त राजप्रासाद (धवल हर) अन्य सहस्रों भवनों के बीच में स्वर्ण-कलश से मण्डित दिखायी पड़ता था ।

यंत्र-जोलन पाठ है और जोलन शब्द का 'ख' प्रति में पाठान्तर जोरण है, और 'अ' प्रति में जोलल है किन्तु इन सभी का अर्थ स्पष्ट नहीं । यदि जोलण का संबंध 'झूलण' से हो तो यंत्र जोलण का अर्थ होगा यंत्र के झूले । किन्तु यह अर्थ कम संभाव्य है । प्राकृत में एक शब्द आउज्जोवस है जिस का अर्थ है—'पानी की कल' (दे० नाममाला पृ० ४५४) । इस पद में आउ शब्द का अर्थ पानी या जल है । दे० नाममाला (१।६१) में आउ का अर्थ जल दिया हुआ है । ऐसी दशा में जंत-जोवण मूल पाठ अधिक संभव जान पड़ता है ।

जोवण—दे० जोवण = यंत्र, कल (पासद्द० ४५४) ।

जाल-ओष = गवाक्ष-विशेष, कारीगरी वाले छिद्रों से युक्त घर का भाग (पासद्द० ४४३) । श्री बाबूराम जी के संस्करण में जाल-जाल ओष पाठ आया है । इसमें एक मात्रा से छंद भंग होता है । श्री शिवप्रसाद सिंह ने जाल गाओख पाठ रक्खा है । जाल-ओष का वही अर्थ है जो जाल गाओष का, अर्थात् जाल गवाक्ष, झरोखा या गोख ।

खण्डिया = छोटा द्वार । खंडी, देशी शब्द = छोटा गुप्तद्वार, किले का छिद्र (हे०२।२७, पासद्द० ३३८) ।

८६. धअ = ध्वजा सं० ध्वज > प्रा० धय > अव० धअ (पासद्द० ५६४, ५६८) ।

धवल हर = धवल गृह, राजप्रासाद ।

थल कमलपत्त पमान नेत्तहि मत्त कुञ्जर गामिनी ॥ ८७ ॥
चौहट्ट वट्ट पलट्टि हेरहि सथ्थ सथ्थहि कामिनी ॥ ८८ ॥

---

८७ [अ] कुंजर ।
८८ [अ] सच्छ सच्छहि । [क] लिपि लेखक ने 'सथ्थ सथ्थहि' काटकर 'साछ-साछहि लिखा है [शा] सथ्थ ही है ।

८७-८८. स्थल कमल के समान नेत्रोंवाली एवं मस्त हाथी की सी गतिवाली स्त्रियों के झुण्ड के झुण्ड चौराहोंपर और मार्गों में घूमकर कटाक्षपात करते थे ।

कनअ = सं० कनक > प्रा० कणय > अप० कणय, कणग = स्वर्ण (पासद्द० २७५) ।

कनअ कलशहिं = स्वर्ण कलश जो शिखरके ऊपर लगाए जाते हैं । धवल गृह के ऊपर कनक कलश लगानेका उल्लेख कादम्बरी में भी आया है। मंडिआ = सं० मण्डित > प्रा० मंडिय = भूषित ।

८८. चौहट्ट = सं० चतुर्हट्ट > प्रा० चौहट्ट = चोहट्टा, मुख्यबाजार, चौराहा ।

पलट्टि = घूमकर, पलटकर । सं० पर्यस्त > प्रा० पलट्ट । धातु पलट्ट = पलटना, घूमना ।

हेरहिं = दे० हेर = देखना, ताकना(पासद्द० ११९८) ।

सत्थ सत्थहिं = झुण्ड के झुण्ड । यहाँ नेपाल दरबार की प्रति में यही मूल पाठ था जिसे 'क' प्रति के लेखक ने पहले लिखकर फिर उसे काटकर साछ साछहि पाठ बनाया। ऐसा श्री बाबूराम सक्सेनाजी की प्रति से विदित होता है । श्री हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल दरबार की मूल प्रति से जो प्रतिलिपि बनाई थी, उस में भी 'सत्थ' पाठ ही है। वस्तुतः यही विद्यापति का मूल पाठ था । पजटइ खेल्लइ हसइ हेरइ सत्थ सत्थहिं जाइया

कप्पूर कुंकुम गंध चामर नअन कज्जल अंबरा ॥ ८६ ॥
वेवहार मुल्लहिं वणिक विक्कण कीनि आनहि वब्वरा॥ ६० ॥
सम्मान दान विवाह उच्छव गीअ नाटक कव्वहीं ॥ ६१ ॥

---

८९ [अ] कंचन । [ख] कनय कलस (नअन कज्जल की जगह) ।
९० [क] आनहि । [ख] वब्वरा इसमें नहीं है ।
९१ [अ] सम्माण दाण विआह । गीह । नाट कव्वहीं ।

८९-९० कपूर, केसर, धूप (गन्ध) चँवर, नेत्रोंका काजल और कपड़े वणिक् लोग व्यापार के लिए मूल्य लेकर बेचते थे और कुटुम्बी किसान खरीद् कर लाते थे ।

९१-९२. सब लोग सम्मान, दान, विवाह, उत्सव, गीत,

(२।९३) पंक्ति में यही पाठ सुरक्षित है ।

सत्थ—सं० सार्थ > प्रा० सत्थ = व्यापारियों का झुण्ड । प्राणि-समूह (पासद्द० १०७८) ।

८९. कुंकुम = केसर ।

अंबरा = सं० अम्बर > प्रा० अंवरा = वस्त्र ।

९०. वेवहार—सं० व्यवहार > प्रा० ववहार = व्यापार, धंधा ।

मुल्ल—सं० मूल्य > प्रा० मुल्ल = कीमत, दाम ।

विक्कण—सं० विक्री > प्रा० विक्कण = विक्री करना, बेचना ।

कीनि = खरीदकर । सं० क्री > प्रा० कीण, कीणइ (पासद्द० ३१२) = खरीदना, मोल लेना ।

आनहिं = लाते थे ।

वब्वरा = कुटुम्बी किसान । दे० वावड (वावडो कुटुम्बिम्मिः, देशी नाममाला ७।५४) अर्थात् कुटुम्बी अर्थमें 'वावड़' शब्द प्रयुक्त होता है ।

९१. कव्व—सं० काव्य > प्रा० कव्व ।

आतिथ्य विनअ विवेक कौतुक समय पेल्लिअ सव्वहीं ॥ ९२ ॥
पज्जटइ खेल्लइ हसइ हेरइ सत्थ सत्थहिं जाइआ ॥ ९३ ॥
मातंग तुंग तुरंग ठट्टहि उवटि वट्ट न पाइआ ॥ ९४ ॥

---

९२ [अ] समअ । [ख] सव्वह पेलही ।
९३ [अ]—हेरइ जव्व जत्ताहि जाइआ ।
[ख] करहि पेलहि हसइ हेरहि जव्व जत्तह आंइआ ।
९४ [अ] घट्टहि (ठट्टहिं की जगह) ।

नाटक, काव्य, आतिथ्य, शिक्षा, विवेक और खेल तमाशे में समय व्यतीत करते थे ।

९३. झुण्ड के झुण्ड मनुष्य घूमते हुए, खेलते हुए, हँसते हुए और देखते हुए आ-जा रहे थे ।

९४. हाथी और ऊँचे-ऊँचे घोड़ों के झुण्ड के कारण चलते-फिरते रास्ता नहीं मिलता था ।

---

९२. पेल्लिअ—सं० पूरय् (= पूरा करना) का धात्वादेश पेल्ल (पेल्लइ, पासद्द० ७६०) । प्राकृत में पेल्ल धातु के चार अर्थ हैं—

(१) सं० क्षिप् का धात्वादेश पेल्ल = फेंकना ।
(२) सं० प्रेरय् ,, ,, = प्रेरित करना ।
(३) सं० पीडय् ,, ,, = दबाना ।
(४) सं० पूरय् ,, ,, = पूरा करना, भरना ।

यही चौथा अर्थ यहाँ इष्ट है ।

९३. पज्जटइ—सं० पर्यटति > प्रा० पज्जटइ > अव० पज्जटइ ।
खेल्लइ—सं० खेल > प्रा० खेल्ल = खेलना (पासद्द० ३५२) ।
सत्थ सत्थहिं—देखिये २।८८ ।

९४. ठट्टहिं—दे० थट्ट = समूह, यूथ, झुण्ड ।

२।१८ [गद्य]

अवरु पुनु । ताहि नगरन्हि करो परिठव ठवेन्ते ॥९५॥
शत संख्य हाट बाट भमन्ते, शाखा नगर शृंगाटक आक्रीडन्ते ॥९६॥

---

९५ [अ] अवर पुनु। ठवंते। [क] पुनु। [ख] प्रतिमें पुनु नहीं है। नगरं।
९६ [अ] आक्रीडन। [क] शृंगाटंक। [ख] शृंगाटकं।

---

९५. और भी। उस नगर की प्रतिष्ठा में इनकी स्थापना की गई थी—

९६-९९. सैकड़ों बाजार, घूमते हुए रास्ते, शाखा नगर,

(दुद्धर तुरंग थट्टा = मुँहजोर घोड़ों के झुण्ड, पासह० ५५०)।

उवटि = चलफिरकर, चलते फिरते हुए। सं० उद्वर्तय् > प्रा० उद्वट्ट > अव० उवट = चलना फिरना (पासह० २२९)।

९५. करो = का, की।

परिठव—यह शब्द चौथे पल्लवमें भी आया है। वहाँ इसका रूप परिठम है।

सं० प्रतिष्ठापन > प्रा० परिट्ठवणा = प्रतिष्ठा (पासह० ६८३)। परिट्ठवका ही अपभ्रंश रूप परिठव है (पासह० ६८४)।

ठवन्ते—सं० स्थापय > प्रा० ठव = स्थापना करना, ठावइ, ठावेइ (पासह० ४६१), ठवइ, ठवेइ (पासह ४६०)। कृदन्त रूप ठवन्ते, ठवेन्ते (बहुवचन)। श्री बाबूराम सक्सेना की प्रति में ठवेन्ते पाठ है और शिव प्रसाद सिंह ने ठवन्ते रक्खा है। दोनों पाठ शुद्ध हैं।

९६. शाखानगर—राजधानी के अतिरिक्त जनपद के दूसरे नगर शाखा नगर कहलाते थे। किन्तु बड़ी राजधानी के विस्तृत मोहल्ले स्वयं एक-एक शाखा नगर के समान जान पड़ते थे। बाणभट्ट ने उज्जयिनी का

गोपुर, वकहटी, वलभी, वीथी, अटारी, ओवरी, रहट, घाट, ॥९७॥

---

९७ [अ] बीथी बलभी। [क] बलभी वीथी। [ख] वहरी (वकहटी)।
[अ] अट्टारी। ओवांरी। रहट्ट। [क] सोवारी। [ख] सोवरी (ओवरी)।

चौराहे, अखाड़े, द्वार (गोपुर), बाँकीहटी या सराफा (बकहटी), मंडपिका (वलभी), नगर मार्ग (वीथी), अट्टालिका (अटारी),

---

वर्णन करते हुए वहाँ के करोड़पति पद्मपति नागरिकों के महाभवनों की उपमा शाखा नगरसे दी है (सशाखा नगरेव महाभवनैः, कादम्बरी, उज्जयिनी वर्णन, वैद्य संस्करण पृ० ५२)।

शृंगाटक—नगर का त्रिकोण मार्ग जहाँ तीन बड़े रास्ते मिले हों, चौराहा या मुख्य चौक। प्राकृत में इसका रूप 'सिंहाडय' या 'सिंहाडग' होता है, किन्तु 'शाखा नगर शृंगाटक आक्रीडन्ते' इस वाक्य में विद्यापति ने संस्कृत शब्दावली को स्वीकार किया है। इस से उस युग की भाषा शैली में विकसित होती हुई एक विशेषता का परिचय मिलता है। वह थी—अपभ्रंश की प्रतिक्रिया के रूप में संस्कृत शब्दावली का अधिकाधिक प्रयोग। चौदहवीं शती से ही यह प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी।

आक्रीडन्ते = आक्रीडन, अखाड़े।

९७. गोपुर = नगरका प्रधान द्वार।

वकहटी—बाँकी हट्टी या सर्राफा। पहले वकवार शब्द आ चुका है। उस में संस्कृत वक्र से वंक > वक्क > वक इस क्रमसे अवहट्ट वक का विकास हुआ था, वही वक शब्द यहाँ भी है। मध्यकालीन नगर वर्णन में अनेक हाटों का उल्लेख किया जाता था। पृथ्वीचन्द्र चरित में

चौरासी हाटों के नामों का उल्लेख है। यहाँ वकहटी का तात्पर्य सराफा बाजार से ज्ञात होता है। वही सब हाटों में उत्तम हाट माना जाता था। उज्जयिनी के वर्णन में बाण ने और हाटों का नाम न गिनाकर नमूने के रूप में मुक्ता, प्रवाल, मरकत, मणि राशि और चामीकर-चूर्ण से भरे हुए सोन-हट्टी या सराफा बाजार का ही उल्लेख कर दिया है। मध्यकाकीन नगरों के ये वर्णन वर्णक ग्रन्थों से लिये जाते थे। ज्योतिरीश्वर ठकुर के वर्णरत्नाकर के प्रथम कल्लोल में आदर्श नगर वर्णन दिया हुआ था, किन्तु उसका अधिकांश खंडित है। यहाँ विद्यापति ने तीन वर्णक एक साथ रख दिए हैं। 'अवरु पुनु' की भूमिका के साथ दूसरा एवं 'अवि अवि अ' के साथ तीसरा वर्णक दिया गया है।

वलभी = मंडपिका। सं० वलभिका।

बाणभट्ट ने उज्जयिनी के वर्णन में लिखा है कि नगरी में स्थान स्थान पर केलों की वाटिकाओं के बीच बीच में हाथी दाँत की वलभिकाएं बनी हुई थीं (अविरल कदलीवन कलिताभिः अमृतफेनपुंज पाण्डुराभिः, दिशि दिशि दन्त वलभिकाभिः धवलीकृता)। बाण ने अन्यत्र कामदेवगृहदंतवलभिका अर्थात् कामदेव के मन्दिर में बनी हुई हाथी-दाँत की वलभिका का उल्लेख किया है (कादम्बरी, वैद्य संस्करण पृ० १८४)। अमर कोश के अनुसार कूटागार और वलभी दोनों पर्याय-वाची शब्द थे। वलभी का तात्पर्य किसी भी पटावदार मंडप या कमरे से था, अतएव वलभी का एक अर्थ अटारी भी लिया जाता था। 'निवासजीर्णवलभी धनमदपिशाचिकानाम् (कादम्बरी पृ० १०५) में बाणभट्ट ने वलभी का अर्थ गृहोपरि भाग लिया है। कालिदास ने उज्जयिनी का वर्णन करते हुये 'भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम्' (मेघदूत, १।३८) इस पंक्ति में अटारी के अर्थ में ही वलभी शब्द का प्रयोग किया है। भवभूति के अनुसार वलभी महल के ऊपर का मंडप या कमरा होता था जिस में वातायन या गवाक्ष की जाली भी बनी

रहती थी (भवन वलमी तुंग वातायनस्था, मालती माधव १।१८)। कुमारदास ने महलों के सौध अर्थात् रानियों के ऊपरी मंजिल के निवास स्थान में बनी हुई वलमी के विटंक या वेदिका का उल्लेख किया है (जानकी हरण १।९)। विद्यापति ने इस सूची में वलमी के अतिरिक्त अटारी का अलग उल्लेख किया है। अतएव यहाँ वलभी का वही अर्थ अधिक संगत है जो बाणभट्ट ने उज्जयिनी वर्णन के प्रसंग में लिया है अर्थात् स्तम्भों पर बनी हुई मण्डपिका। चकहटी और वीथी के बीच में पठित वलमी का वही अर्थ यहाँ अधिक समीचीन है।

वीथी—नगर मार्ग। विशेषतः बाजार की गलियों को वीथी कहा जाता था। धवलगृह के भीतर बने हुये गलियारे जैसे रास्तों के लिये भी वीथी शब्द का उल्लेख हर्ष चरित में आया है। वस्तुतः वलमी और वीथी ये स्थापत्य के शब्द थे और एक से अधिक अर्थों में प्रयुक्त किए जाते थे।

ओवरी—यहाँ बाबूराम सक्सेना के संस्करण का मूल पाठ सोवारो है। उन्हों ने ख प्रति के अनुसार सोवरी पाठान्तर टिप्पणी में दिया है किन्तु हर प्रसाद शास्त्री के संस्करण में नेपाल दरबार की प्रतिलिपि पर आश्रित ओवारी पाठ है। बीकानेर की 'अ' प्रति के ओवारो पाठ से इसका समर्थन होता है। हमारी सम्मति में 'ओ' को ही भ्रम से 'सो' पढ़ लिया गया है। सोवारी या सोवरी का कोई संगत अर्थ इस प्रकरण में नहीं लगता। मूल शब्द ओबरी था जिसे व और ब में भेद न करके ओवरी लिखा गया। ओबरी साहित्य का प्रसिद्ध शब्द था। संस्कृत अपवरक > प्रा० अववरक = छोटा घर, कोठरी (मुद्राराक्षस, पासद्द० १०४) > अववर अ > ओवरा > ओबरा, स्त्री ओबरी। मध्यकाल में पति-पत्नी के शयनगृह के लिये यह शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगा था। हेमचन्द्र ने अपवरक के इस विशेष अर्थ का उल्लेख किया है (गर्भागारेऽपवरको वासौकः शयनास्पदम्, अभिधानचितामणि ४।६१)। जायसी ने ठीक

कौसीस, प्राकार, पुर विन्यास कथा, कहओ का ॥९८॥

---

९८ [अ] प्रकार। कहओं [ख] कौसीस प्राकार प्रभृति। 'कथा' पाठ नहीं है। [क] प्रकार कहओ का।

कोठरी (ओवरी), अरघट्ट (रहट), नदी तीर पर बनी हुई सीढ़ियाँ और चबूतरे (घाट), किले की दीवार के ऊपर बने

इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है (ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा, अगर पोति सुख नेत ओहारा, पदमावत ३३६।५), अर्थात् शयनगृह में शीतल ओबरी थी जो अगर से पुती हुई थी और जिस में रेशमी नेत नामक वस्त्र के परदे थे (देखिए संजीवनी टीका पृ० ३३६)। भोजपुरी लोक गीतों में ओवरी प्रचलित शब्द है। वह उस एकांत कमरे के लिये प्रयुक्त होता है जो परिवार की नव विवाहिता स्त्री के लिये नियत रहता है।

रहट—सं० अरघट्ट > प्रा० अरहट्ट = पानी निकालने का चरखीनुमा यन्त्र विशेष (पासह० ९०)।

घाट—नदी तट पर बनी हुई सीढ़ियाँ और चबूतरा। सं० घट्ट > प्रा० घट्ट।

९८. कौसीस = कंगूरा। किले की दीवर के ऊपर बनी हुई छोटी छोटी बुर्जियां। वर्णरत्नाकर में इसे ही कजुसिस लिखा है (पृष्ठ ९)। सं० कपिशीर्ष > प्रा० कविसीस > अव० कौसिस, कौसीस। पदमावत में भी इस शब्द का प्रयोग है—'कंचन कोट जरे कौसीसा (४०।६); फूटे कोट फूट जस सीसा, ओदरहिं बुरुज परहिं कौसीसा। कपिशीर्षक भारतीय दुर्ग निर्माण का अति प्राचीन पारिभाषिक शब्द था। कौटिल्यके अर्थ शास्त्र में इसका प्रयोग आया है।

प्राकार = परकोटा।

जनि दोसरी अमरावती का अवतार भा ॥९९॥
अवि अवि अ। हाट करेओ प्रथम प्रवेश ॥१००॥

हुए कंगूरे (कौसीस), और परकोटा। नगर बसाए जाने का हाल क्या कहूँ ? मानो दूसरी इन्द्रपुरी का अवतार हुआ हो।

१००-१०२. और भी। बाजार में प्रवेश करते ही पहले अष्टधातु के घड़ने की टंकार और कंसेरों के स्थान में फैले हुए

---

९९ [अ] जणु (जनि)। करो। अवतार मानमा।

१०० [अ] करे। [ख] में 'अ' नहीं है। प्रथम हाट करे प्रवेश। धातुक।

---

९९. जनि = जैसे। अप० जणि = इव, जैसे (हे० ४।४४४, पासह० ४।१३)।

अमरावती—'वर्णक समुच्चय' के अनुसार नगर की उपमा अमरावती, अलकापुरी आदि से दी जाती थी। (श्रीभोगीलाल सांडेसरा संपादित वर्णक समुच्चय, पृ० ४१)।

१००. अवि अवि अ—सं० अपि > प्रा० अवि = और भी, समुच्चय बोधक अव्यय।

अ—सं० च > प्रा० अ। यहाँ से नगरविन्यास का तीसरा वर्णक शुरू होता है।

१०१. अष्टधातु—आठ तरह की धातुओं को मिलाकर बनायी हुई एक विशेष धातु जो बर्त्तन आदि ढालने के काम में आती है। सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा, जस्ता, सीसा, लोहा, पारा (स्वर्णं रूप्यं च ताम्रं च रंगं यशदमेव च, सीसं लोहं रसश्चेति धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः)।

अष्टधातु घटना टाङ्कारे कँसेरी पसरां कांस्य क्रेङ्कार ॥१०१॥
प्रचुर पौरजनपद संभार संभिन्न ॥१०२॥

---

१०१ [अ] टांकार। कसेरी पसरा कास्य क्रेंकार। [ख] टंकार (टाङ्कारे)। कसेर क पसार कासेक क्रयकार।

१०२ [ख] पद संभार सभीन। [श] संभिन्न।

काँसे के बर्त्तनों की क्रेंकार ध्वनि हो रही थी। अनेक पुरवासी पैरों को समाँल-समाँल कर रख रहे थे।

घटना—घड़ना। सं० घटन > प्रा० घडण = घड़ना, कृति, निर्माण (पासद्द० ३८३)।

टाङ्कार = टंकार, टंग, टंग का शब्द।

कंसेरी—प्रा० कसेरी, कंसेरी = कसेरों का बाजार कंसेरा—काँसे का बर्त्तन बनानेवाला। सं० कांस्यकार > प्रा० कंसयर > अप० कंसेर + क = कंसेरा। संस्कृत कांस्य से प्राकृत में कंस और कस दोनों रूप होते हैं। हिन्दी कंसेरा में भी वही रूप है।

पसरां = फैलाव। सं० प्रसर > प्रा० पसर। इस अंश का ख प्रतिके अनुसार यह पाठान्तर है—कसेर क पसार काँसे क क्रयकार अर्थात् कसेरों के प्रसार या बाजार में कांसे के बर्त्तन के क्रयकार या ग्राहक थे।

१०२. प्रचुर = अनेक।

पौरजन = पुरवासी।

पद संभार संभिन्न = पैरों को सँभाल कर रख रहे थे।

संभिन्न = देशी आघात (गउडवहो, ६३४, टीका; पासद्द० १०६१)।

घनहटा, सोनहटा, पनहटा, पक्वानहटा,
मछहटा करेओ सुखरवकथा ॥१०३॥

---

१०३ [अ] मत्स्यहटा। करो मुखरव०। [ख] में पक्कानहटा के उपरांत दमहटा और है। मछहटाके उपरांत 'कपरहटा', 'सवुणहटा' पाठ और है। करी। बोल (कथा)।

१०३-१०५. जौहरी बाजार (घनहटा), सोनी बाजार (सोनहटा), मद्य का बाजार या दरीबा (पनहटा), पकवानों के हाट (पक्वान हटा), और मछली बाजार (मछहटा) के सुख-

---

१०३. धनहटा—मुनि जिनविजय द्वारा संपादित, श्री माणिक्यचंद्र सूरि कृत पृथ्वीचंद्र चरित्र (संवत् १४७८) में नगर वर्णन के अंतर्गत चौरासी हाटों की सूची दी गई है जिसमें एक कंसारा हाट है जिसका वर्णन ऊपर आ चुका है। उसमें आरंभ में ये तीन नाम आए हैं—सोनीहटी, णाणावटहटी, जवहरहटी। कीर्तिलता की सूची में सोनहटी तो स्पष्ट ही सोनीहटी है। धनहटा, णाणावटहटी के समकक्ष ठहरता है। गुजराती में णाणक या नाणा रुपये-पैसे को कहते हैं। रुपये-पैसे का लेन-देन करने वाले साहूकार णाणावट कहलाते थे। धनहटा, सोनहटा आदि मिलकर जौहरी बाजार या सराफा बाजार कहलाता था। जायसी ने इसे ही सिंहल के वर्णन में कनकहाट कहा है—कनकहाट सब कुँहुकुँहु लीपी, बैठ महाजन सिंहल दीपी। (३७।२)। कनकहाट या जौहरी बाजार को ही आजकल सराफा कहा जाता है। जौहरी बाजार के सदस्य महाजन कहलाते थे।

पनहटा = पान का बाजार। पृथ्वीचंद्र चरित्र की सूची में तंबोली, चूनरा (चूना बनाने वाला), फोफलिया (पूगीफल बेचने

कहन्ते होइअ भूल, जनि गंभीर गुग्गुंरावर्त कल्लोल ॥१०४॥
कोलाहल, कान भरन्ते मर्यादा छाँडि महार्णव उँठ ॥१०५॥

---

१०४ [अ] कहन्ते कहत्ते ।

१०५ [ख] प्रतिमें 'होइअ-झूल जनि गम्भीर गुर्ग्गुरावर्त्त कल्लोल कोलाहल कान भरते' इतना पाठ नहीं है ।

कारी शब्दों की कथा कहते हुए अर्थात् वहाँ की बात चीत गप्प-शप्प का वर्णन करते हुए ऐसा शोर होता था, मानो हाथी के हर्ष से गर्जन करने का (गुग्गुंरावर्त) गम्भीर शब्द हो जिसकी तरंगों का कोलाहल कानों में गूँज रहा हो। अथवा, मानों समुद्र अपनी स्वाभाविक मर्यादा या शान्त स्थिति छोड़कर बड़ी लहरों वाले ज्वार से युक्त हो गया हो।

वाका) इन तीन हाटों का उल्लेख है।

मछहटा = मछली बाजार।

करेओ = के।

सुखरव = सुखकारी शब्द, भले लगने वाले शब्दों की कथा कहते हुए अर्थात् वहाँ की बात-चीत या गप्प-शप्प का वर्णन करते हुए।

१०४. झूल = आन्दोलन, शोर। सं० शब्द 'आन्दोल' का प्राकृत धात्वादेश झुल्ल (पासइ० ४५८)। प्राचीन हिन्दी में शोर के लिये आन्दोल से बना हुआ अँदोरा शब्द जायसीकृत पद्मावत (घरी एक सुठि भयउ अँदोरा १२२।७) और कुतुबन कृत चित्रावली (देखि सखी सब कीन्ह अँदोरा ४७२।१) में प्रयुक्त हुआ है।

गुग्गुंरावर्त = गड़गड़ाहट, हाथी का हर्ष से गर्जन करना।

सं० गुलगुलायित > प्रा० गुलगुलाइय।

कल्लोल = तरंग।

मध्यान्हे करी वेला संमद्द साज सकल पृथ्वी चक
करैओ वस्तु बिकाएँ आए वाज ॥१०६॥
मानुस क मीसि पीसि वर आँगे आँग ॥१०७॥

---

१०६ [अ] मध्याह्न करी बेला। [ख] 'संमद्द साज'के स्थानमें 'महामांस अस्मद्द वाज'। 'चक्र' नहीं है।
[अ] करो वस्तु बिआए आए। 'वाज' [अ] प्रतिमें नहीं है।
१०७ [अ] राजमानुस करी मीसि पीसि।
१०८ [अ] उगर। आनका। [ख] पिआग आग वर ('वर आँगे आँग' के स्थान पर)।

---

१०६. दोपहर के समय भीड़-भाड़ सज जाती थी। सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल की उत्तम वस्तुएँ वहाँ बिकने के लिये आती थीं।

१०८. मनुष्यों के झुंड आपस में मिलकर टकराते थे।

---

१०६. संमद्द—सं० संमर्द = भीड़-भाड़।
साज = अच्छी लगती थी, सज जाती थी।
पृथ्वीचक्र = पृथ्वी-मंडल।

वाज = सं० वर्य > प्रा० वज्ज = श्रेष्ठ, उत्तम (पासद्द० ९१७)। बाज का दूसरा अर्थ पहुँचना, जाना भी है। आए वाज = आ पहुँचती थीं।

१०७. मीसि = मिलना सं० मिश्र > प्रा० मिस्स, मीस।
पीसि = टकराना।
वर आँगे = मस्तक। सं० वरांग, उत्तमांग = सिर।

उँगर आनक तिलक आनकाँ लाग ॥१०८॥
यात्रा हूतह परस्त्रीक वलया भाँग ॥१०९॥
ब्राह्मण क यज्ञोपवीत चाण्डाल हृदय लूर,

---

१०९ [अ] पात्रहूतह । वलआ भांग । [ख] पात्रहुते (यात्राहूतह)। वलय ।

११० [अ] चांडाल का आग-ल । वेश्यान्हि पयोधरे । जतिन्हि क । [ख] चाण्डाल के आगलूर । वेश्या क ।

१०८-१०९. भीड़ में एक का तिलक दूसरे को लग जाता था। यात्रा में सामने से आती हुई परस्त्री का कंकण टकराने से मौल जाता था।

११०. ब्राह्मण का जनेऊ चाण्डाल के वक्षस्थल पर लटक जाता था।

---

१०८. उँगर = समूह में। सं० उत्कर > प्रा० उक्कर = समूह, संघात (पासद्द० १७४)।

आनक = अन्य का, दूसरे का।

यात्राहुतह—यात्रा = आने में, यात्रा में।

हूतह—दे० हुत्त = अभिमुख, सन्मुख (दे० नाममाला ८।७०, हे० २।१५८; भविसयत्त कहा, पासद्द० ११९६)। यात्रा में सामने से आती हुई परस्त्री का कंकण टकराने से भग्न हो जाता था। भांग—सं० भंग > प्रा० भंग = माँगना, खंडन, मौलना।

११०. लूर—सं० लुठ > प्रा० लुड > अप० लुर = लुढ़कना लोटना, (पासद्द० ९०३)। श्री बाबूराम जी के संस्करण में लूर का मूलपाठ लूल है। वह भी सं० लुठ धातु के प्राकृत रूप लोल सिद्ध होता है।

वेश्यान्हि करो पयोधर जतीके हृदय चूर ॥११०॥
घने सञ्चर घोल हाथि, बहुत वापुर चूरि जाथि ॥१११॥
आवर्त विवर्त रोलहो, नअर नहि समुद्रओ ॥११२॥

---

१११ [अ] घन संचरे घोल हाथि कति ।
[ख] जतीके । घोर । अनेक (बहुत के स्थान पर) ।

११२ [अ] रोलहों । नगर नहि नर समुद्दओ । [ख] रोर हो (रोलहों) । [क] और [श] प्रतिमें 'समुद्र' के स्थान पर 'समु' ही है ।

वेश्या के पयोघर से टकराकर यती का हृदय चूर हो जाता था, अर्थात् उसके पर्क से यती का मन काम वासना से क्षुब्ध हो उठता था ।

१११. अनेक हाथी-घोड़ों के चलने से बहुत से बेचारे कुचल जाते थे ।

११२. आने जाने (आवर्त विवर्त्त) के कोलाहल से से ऐसा जान पड़ता था, मानों नगर नहीं, मनुष्यों का समुद्र हो ।

---

१११. सञ्चर—सं० सं + चर = चलना, गति करना (पासद्द० १०४३) वापुर = बेचारा, दीन । दे० वप्पुड (हे० ४।३८३)

११२. आवर्त विवर्त = आवट्ट – विवट्ट = दायें-बायें आना-जाना । (देखिये कीर्तिलता २।८४) ।

रोलहो—कोलाहल, कलकल आवाज ।

२।११ [छप्पय]

बहुलै भाँति वणिजार हाट हिण्डए जवे आवथि ॥११३॥
खने एके सवे विक्कराथि सवे किछु किनइते पावथि ॥११४॥
सव दिसँ पसरु पसार रूप जोव्वण गुणे आगरि ॥११५॥
वानिनि वीथी माँढि वइस सए सहसहि नागरि ॥११६॥

---

११३ [अ] भाँति । हिंडए जव ।

११४ [अ] खण । सव्वे । किणइते । [ख] में 'बहुले भाँति वणि-जार हाट हिण्डए जवे आवथि । खने एके सवे पिक्कणथि' तक पाठ नहीं है । सवै ।

११५ [अ] दिस । जोघण । [ख] यौवन ।

११६ [अ] माडि ।

११३-११८. बहुत प्रकार के व्यापारी बाजार में घूमने के लिये जब आते थे तो एक क्षण में सब बिक जाता था और सब कोई कुछ न कुछ खरीदने के लिये पा जाता था। सब दिशाओं में पसारा फैला था। रूप, यौवन और गुणों में अग्रणी स्त्रियाँ और शत सहस्र नागरी स्त्रियाँ नगर के रास्तों को विभूषित करके बैठी थीं। उनसे बोलने के बहाने सब उनसे कुछ बात करते थे।

---

११३. वणिजार—सं० वाणिज्यकार (—लेख पद्धति पृ० ५१।२१, गायकवाड़ ग्रन्थमाला, बड़ौदा) > प्रा० वाणिज्जआरय = वणजारा, व्यापारी। हिण्डेए = घूमना। सं० हिण्ड > प्रा० हिण्ड = भ्रमणकरना (पासद्द० ११९२)।

११४. किनइते पावथि = खरीदने के लिये पा जाता था।

११५. आगरि = अग्रणी।

११६. वानिनो = स्त्रियाँ। सं० वाणिनी = वनिता (रघुवंश ६।७५,

सम्भाषण किछु बेआजइ तासओ कहिनी सब्ब कइ ॥११७॥
विक्कणइ वेसाहइ अप्प सुखे डीठि कुतूहल लाभ रह ॥११८॥

२।२० [दोहा]

सव्वउँ केरा रिज नयन तरुणी हेरहिं वंक ॥११९॥

---

११७ [अ] सम्भाषणे । कहिणी । सब्वे । [ख] किछर विआज करी । उन्हसँ (तासओ) ।

११८ [अ] विक्कणउ वेसाहउ अप्पु सुख दिट्ठि० ।

[ख] विक्कणिअ बेशाहि । डिठि कुतोहर कम्यवरह ।

११९ [अ] सव्वउ । रिजुनयण । हेरइ । [ख] सब्बोहु के वारिजु०

[शा] सव्वऊँ केरा वारिज० ।

आत्मसुख के लिये स्वयं बिक जाते थे या उन्हें मोल ले लेते थे अर्थात् या तो स्वयं उन पर मुग्ध होकर उनके वशीभूत हो जाते थे या अपने पर मोहित करके उन्हें अपने वश में कर लेते थे। इस आदान प्रदान में दृष्टि की प्रसन्नता का लाभ ही उनके हाथ लगता था।

११९-१२०. जब युवतियाँ तिरछी दृष्टि से देखती थीं तो

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीणाम्)।

माँडि = मंडित करके, भूषित करके।

सए = शत।

११७. बेआज = बहाना करके।

११८. वेसाहइ = मोल लेना।

अप्प—सं आत्मन् > प्रा० अप्प।

११९. रिज—सं रिध > प्रा० अप० रिज्झ = रीझना, प्रसन्न होना, (रिज्झइ, पासद्द० ८८४)।

चोरी पेम पिआरिओ अपने दोस ससंक ॥१२०॥

२।२० [रड्डा]

वहुल बम्हण वहुल काअथ ॥१२१॥
राजपुत्त कुल वहुल, वहुल जाति मिलि वइस चप्परि ॥१२२॥
सव्वे सुअन सवे सधन, णअर राअ सवे नअर उप्परि ॥१२३॥
जं सवे मंदिर देहली धनि पेक्खिअ सानन्द ॥१२४॥

---

१२० [अ] दास ससंक । [ख] उप्पने ।

१२१ [अ] वंभण । काअथ । [ख] वंभण । कायस्थ ।

१२२ [अ] वसइ चप्परि । [ख] वैसु ।

१२३ [अ] सवे । ससेख धन । नअर राय । [ख] नयन ।

१२४ [अ] जं सर मंदिर देहरी । पेक्खिअ । [ख] जंसह । देहरिअ । लेखिअ ('पेक्खिअ' पाठ के स्थान पर ।)

सभी के नेत्र प्रसन्न होते थे। प्रिया के प्रति चोरी से प्रेम उत्पन्न करने के दोष से सशंकित रहते थे।

१२१-१२५. बहुत से ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत तथा अन्य बहुत सी ज्ञातियों के लोग सट कर बैठे थे। सभी सज्जन थे, सभी धनवान् थे। नगर का राजा सब के ऊपर था। सब घरों की देहलियों पर जो स्त्रियाँ सानन्द दिखाई पड़ती थीं उनके मुख मंडल के

---

१२०. पिआरिओ—सं० प्रियतरा > प्रा० पिआरी = प्यारी, प्रिया।

१२२. चप्परि = दबाकर, आक्रांत करके। सं० $\sqrt{}$ आक्रम का धात्वादेश चप्प = आक्रमण करना, दबाना। (कीर्तिलता २।१०)।

१२४. जं—सं० यत् > प्रा० जं = जो कोई।

तसु केरा मुख मंडलहि घरे घरे उग्गिअ चन्द ॥१२५॥

२।२२ [गद्य]

एक हाट करेओ ओल, औकी हाट करेओ कोल ॥१२६॥
राजपथ क सन्निधान संचरन्ते अनेक देखिअ वेश्यान्ह करो निवास।१२७।

---

१२५ [अ] मुख मंडलहि । उग्गिअ चंद । [ख] तिसु । मण्डलह । घर । उग्गिम ।

१२६ [अ] करे ओले । करे कोले ।
[ख] एक हाट के ओर । औका हाट के कोर ।

१२७ [अ] करो (क की जगह) । संचरैते ।
[ख] के । संचरन्ते पाठ नहीं है ।

रूप में मानो घर-घर चन्द्रमा उदित हुआ था ।

१२६-१३३. उन हाटों में एक हाट सबसे सुन्दर बना हुआ था । उसके भीतर पण्य स्त्रियों का शृंगार हाट बनाया गया था ।

---

१२६. ओल—सं० अतुल > प्रा०, अप० अउल > ओल (अव०) = सुन्दर, अनुपम । विद्यापति में अन्य स्थल पर भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है—प्रथम प्रेम हरि जत बोलल, आदर ओल न भेल । (सुभद्र झा, विद्यापति गीत संग्रह २४।१) ।

औकी हाट—पण्य स्त्रियों का बाजार, शृंगार हाट ।

औकी—सं० अवक्रीता > प्रा० अवक्किया > अव० औकी = पण्य स्त्री ।

कोल = गोद में, उत्संग में, अभ्यन्तर ।

सं० क्रोड > प्रा० कोल = उसके भीतर ।

एक हाट करेओ ओल औकी हाट करेओ कोल ।

उन हाटों में एक हाट सब से सुन्दर बना हुआ था, उसके भीतर

जन्हि के निर्माणे विश्वकर्मंहु भेल बड़ प्रयास ॥१२८॥
अवरु वैचित्री कहओं का ? ॥१२६॥
जन्हि केस धूप धूम करी रेखा ध्रुवहु उँप्पर जा ॥१३०॥
काहु काहु अइसनो संक, ओकरा काजर चाँद कलंक॥१३१॥
लज्ज कित्तिम कपट तारुन, धन निमित्ते धरु पेम ॥१३२॥

---

१२८ [अ] निम्माणे । विस्सकम्माहु । [ख] जे करे । बड़ि ।
१२९ [अ] विचित्र्य कथा कहओ ।
१३० [अ] जाहि करी । धूप धूमध्वज । रेषा । उपर ।
[ख] केशध्वज धूम करी रेखा ध्रुव उपर आ ।
१३१ [अ] ऐसनेउ संकेत करे काजरे । [क] काहू काहु । अइसेनओ सङ्कत करे काजरे चान्द । [ख] अैसनो संकओ करा काजर चाँद ।
१३२ [अ] निमित्त धर ।

राजपथ के निकट चलने पर अनेक वेश्याओं के घर दिखाई पड़ते थे जिनके निर्माण में विश्वकर्मा को भी बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। और विचित्रता क्या कहूँ ?। जिनके (उन वेश्याओं के) केश संस्कार की धूप की धूम रेखा ध्रुवतारे से भी ऊपर जाती थी। कोई कोई ऐसी कल्पना करते थे कि उस धुएँ के काजल (कालिमा) के कारण ही चन्द्रमामें कलंक है। उनकी लज्जा अस्वाभाविक थी और तारुण्य बनावटी था। धन के लिए प्रेम करती थीं और लोभ

पण्य स्त्रियों का शृंगार हाट बनाया गया था। विद्यापति की क्लिष्ट किन्तु अर्थवती पंक्तियों में यह पंक्ति एक है। चौकी हाट, इस पारिभाषिक शब्द को न समझने के कारण इसका अर्थ पूर्व टीकाओं में भ्रान्त रहा।

१३१. सङ्क = कल्पना।

लोभे विनम्र सौभागे कामन, बिनु स्वामी सिन्दूर परा
परिचय अपामन ॥१३३॥

२।२३ [दोहा]

जं गुणमन्ता अलहना गौरव लहइ भुवंग ॥ १३४ ॥

---

१३३ [अ] लोभ विनयं असौभागे। परामरिस परिजन अपामन। [ख] लोह (लोभकी जगह)। सोह जा कामिणि। बिनु सामि सेंदूर परम रस। परिअण अपावणी।

१३४ [अ] गुण मंता। भुअंग। [क] तुअंग (भुवंग के स्थान पर)। [ख] वणवंरा (गुणमंता)। अलहनेउ। लहहि।

के कारण विनम्र रहती थीं। सौभाग्यकी कामना करती थीं। बिना स्वामी के उनकी माँग का सिन्दूर परित्यक्त और अपवित्र सा पड़ा था।

१३४–१३५. जहाँ [वेश्या मन्दिर में] गुणवान् व्यक्ति कुछ नहीं पाते वहाँ विट (भुवंग) गौरव प्राप्त करते हैं। वेश्या के

---

१३३. सोभागे कामन = सौभाग्य की कामना है।

परिचय—सं०परित्यज् > अव० परिचअ = परित्याग करना, छोड़ना।

अपामन—सं० अपावन > अव० अपामन = अपवित्र। सिन्दूर परा परिचय अपामन—स्वामी द्वारा डाला गया सिन्दूर पतिव्रता नारी के सौभाग्य का चिह्न होता है। अतः वह आदर की वस्तु है, किन्तु वेश्या की माँग में पड़ा सिन्दूर परित्यक्त और अपवित्र इस लिये है कि वह पति के न होने पर भी डाला गया है।

१३४. भुवंग—सं० भुजंग = विट, गुंडे।

अलहना = नहीं पाने वाले।

वेसा मन्दिर धुअ वसइ धुत्तह रूअ अनङ्ग ॥ १३५ ॥

२।२४ [गद्य]

तान्हि वेश्याह्नि करो सुखसार मण्डंते, अलकातिलका पत्रावली खण्डंते ॥१३६॥

---

१३५ [अ] मन्दिर । अनंग । [क] धूअ । [ख] वशहि (वसइ) । धूत सरुअ अनङ्ग ।

१३६ [अ] वेश्या नागरह्नि । मुखसार मण्डंते । तिलक ।

[ख] ताहि वेश्यागारहि । मण्डले । तिलक । खण्डले ।

घर में निश्चय ही धूर्तों के रूप में कामदेव बसता है ।

१३६. वे वेश्याएँ सुखशाला (सुखसार) सजाती थीं तथा पत्रावली में भाँति-भाँति की आकृति के कटाव बना कर, अपने शरीर के कपोल, स्तन आदि अंगों पर अलका-तिलका या विशेषक चित्र चंदन, गोरोचन, कस्तूरी आदि से लिखती थीं ।

---

१३५. धुत्तह—सं० धूर्त > प्रा० धुत्त = विट ।

रूअ—सं० रूप > प्रा० रूअ ।

१३६. सुखसार = सुख शाला, सुख मन्दिर । इसे ही सुख वास और फारसी में खुर्रम गाह कहते थे ।

मण्डन्ते = सजाती थीं, भूषित करती थीं ।

अलका तिलका या अलक तिलक = मुख पर गोरोचना, चन्दन आदि से विरचित अलंकरण अलका तिलका कहलाता था । प्राचीन बँगला भाषा में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है—बिन्दु बिन्दु गोरोचना शोभा करे अति । अलका तिलका रेखा अर्द्ध-अर्द्ध पाति । (कृत्ति-

दिव्याम्बर पिन्धन्ते, उभारि उभारि केशपास बन्धन्ते ॥१३७॥
सखिजन प्रेरन्ते, हँसि हेरन्ते ॥१३८॥

---

१३७ [अ] दिव्यांबरं। पिधंते। केस। बंधंते।
[ख] पध्यन्ते। 'उभारि....बन्धन्ते' नहीं है।
१३८ [अ] प्रेरंते हसि हेरंते।

१३७-१३८. वे दिव्य वस्त्र पहनती थीं, उभार-उभार कर केश-पाश बाँधती थीं और सखियों को दूती के रूप में भेजती थीं। हँसकर कटाक्ष करती थीं।

वास कृत रामायण, किष्किंधा कांड, २००)। मैं इस उल्लेख के लिये श्री रामनाथ त्रिपाठी लिखित 'कृत्तिवासी बंगला रामायण और रामचरित मानस का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक अप्रकाशित पी-एच० डी० निबंध का आभारी हूँ।

पत्रावली = वे खाके जो मुख या शरीर पर चित्रात्मक अलंकरण लिखने के काम आते थे। प्रायः स्त्रियाँ पत्तों में भाँति-भाँति की आकृति काटकर अपने शरीर के कपोल, स्तन आदि अंगों पर अलका तिलका या विशेषक चित्र चंदन, गोरोचना, कस्तूरी आदि से लिखती थीं।

खण्डन्ते = काटती थीं। पत्रावली में भाँति-भाँति की आकृतियाँ काटना। इसे फारसी में खाके काटना या अँग्रेजी में स्टैन्सिल कटिंग (Stencil Cutting) कहते हैं।

१३७. पिन्धन्ते—सं० पिनद्धा > प्रा० पिणद्ध = पहनना (पासद्द० ७३९)। इसका शतृ प्रत्ययान्त रूप पिन्धन्त है।

१३८. सखीजन प्रेरन्ते—सखियों को दूती के रूप में भेजती थीं।

हेरन्ते—दे० हेर धातु = देखना, निरीक्षण करना (प्राकृत पैंगलम्, पासद्द० ११९८)।

सआनी लानुमी पातरी पतोहरी तरुणी, तरट्टी वन्ही विअक्खणी ॥१३६॥

१३९ [अ] लोनुमी। वेह्नी विअखणी। [ब] लोनी। पातली। तरंदी। वेली। [श] लानुमी। वेन्ही।

१३९-१४०. सयानी, लावण्यमयी (लानुमी), तीक्ष्ण (पातरी), क्षीण कटिवाली (पतोहरी), युवती (तरुणी), प्रगल्भा (तरट्टी), सुन्दर वर्ण या कीर्तिवाली (वन्ही), चतुर (वि-

१३९. सआनी—सं० सज्ञान>प्रा० सयाण (पासद्द० ११०१, १०३३)>अव० सआन, सआनी।

लानुमी = लावण्यमयी।

पातरी—सं० पत्रल = तीक्ष्ण, तेज। (पासद्द० ६५६)

पतोहरी—सं० पत्रोदरी>पतोअरी>अव० पतोहरी = पतले पेट वाली, जिनका मध्य भाग कृश हो।

तरट्टी—दे० शब्द, प्रगल्भ स्त्री (कर्पूर मंजरी; झाणेन दुट्ठदि चिरं तरुणी तरट्टी; पासद्द० ५२९)।

वन्ही—सं० वर्णिनी = सुन्दर वर्ण या कीर्तिवाली सं० वर्ण> प्रा० वण्ण = यश, कीर्ति, प्रशंसा श्लाघा। वन्ही के दो पाठान्तर और हैं। शास्त्री जी की प्रति में वेन्ही और ख प्रति में वेली पाठ है। इन में वेन्ही और वन्ही तो एक ही शब्द ज्ञात होते हैं। वेली का अर्थ है—क्रीड़ा करनेवाली, रमण करनेवाली। सं० रम का धात्वादेश वेल्ल; वेल्लिका, वेल्लिआ = रमणी (पासद्द० १०२६)। वन्ही, वाणिनी या वर्णिनी से उत्तम स्त्री अर्थ सिद्ध होता है।

परिहास पेषली सुन्दरी सार्थ जबे देखिअ, तबे मन करे तेसरा लागि
तीनू उपेल्खिअ ॥१४०॥
तान्हि केस कुसुम बस, जनि मान्य जनक लज्जावलम्बित ॥१४१॥

---

१४० [अ] पेशली । देखिअअ । मनकर 'चारि पुरुषार्थ' पाठ अधिक है । उपेल्खिअ । [ख] पेसली । साथ जब देखिअहि । चारि पुरुषार्थ तिसरा लागि उपेखिअहि ।

१४१ [अ] तन्हि का केसु । मान्य जन । लज्जावलंबित ।
[ख] तिन्ह । जनु लज्जविणवित ।

अल्खणी) और मंजु परिहास करने वाली (परिहास पेषली), सुन्दरियों के समूह को जैसे देखते थे, वैसे ही मन में तीसरा (तृतीय पुरुषार्थ काम) लग जाता था अर्थात् काम उत्पन्न हो जाता था और अन्य तीनों (धर्म, अर्थ, मोक्ष) की उपेक्षा हो जाती थी ।

१४१-१४२. उनके केशों में बँधे पुष्प ऐसे लगते थे, मानों

---

१४०. परिहास पेषली—श्री बाबूराम सक्सेना और शिवप्रसाद सिंह की प्रति में परिहास पेषणी पाठ है । दे० पेषण का अर्थ है—काम, कामकाज, प्रयोजन (दे० ६।५७), अथवा सं० प्रेषण > पेषण = कार्य में नियुक्त करना, लगाना, । परिहास पेषणी—परिहास में लगाने वाली । किन्तु ख प्रति के अनुसार परिहास पेषली पाठ अधिक समीचीन है । जो संस्कृत 'परिहास पेषली' का रूप है । परिहास पेषली—सुन्दर परिहास करनेवाली, मंजु परिहास करनेवाली ।

तेसरा—धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों में तीसरा काम संज्ञक पुरुषार्थ ।

मुखचन्द्र चन्द्रिका करी अधओगति देखि अन्धकार हँस ॥१४२॥
नयनाञ्चल सञ्चारे भ्रूलता भङ्ग ॥१४३॥
जनि कज्जल कल्लोलिनी करी वीचि विवर्त बड़ी बड़ी शफरी तरङ्ग ॥१४४॥

---

१४२ [अ] अधवो गति । हस । [ख] अधोगत ।
१४३ [अ] नअनांचल संचारे भ्रूलता क भंग । [ख] णयनांजने क भ्रूलता क भंजै गेणु ।
१४४ [अ] करे । बिवर्ते । वडी वडी । तरंग ।
[ख] 'करी' नहीं है । सफरी करो ।

शिष्ट जनोंके लज्जा से झुके हुए मुखचन्द्र की चन्द्रिका की अधोगति देखकर अंधकार हँस रहा हो ।

१४३-१४४. पलकों (नयनाञ्चल) के संचार से भृकुटी की भंगिमा ऐसी प्रतीत होती थी मानो काजल की नदी के बीच भँवर युक्त लहरों में उछलती हुई बड़ी-बड़ी शफरी मछलियाँ हों ।

---

१४२. अंधकार हँस—केश अंधकार के समान, पुष्प हास के समान हैं । अंधकार क्यों हँसता है ? इस पर उत्प्रेक्षा की गई है । अंधकार और चाँदनी में बैर है । चाँदनी की अधोगति को देखकर अंधकार हँस रहा है । भले लोगों ने वेश्याओं का श्रृंगार देखकर लज्जा से मुख नीचा कर लिया । इसी पर कवि द्वारा उत्प्रेक्षा की गई है कि उनके मुख रूपी चंद्र की चन्द्रिका की अधोगति हो गई ।

१४३-४. कल्लोल = तरंग ।

कल्लोलिनी = नदी ।

तरंग = उछल रही हो, तरंगित हो रही हो ।

नयनाञ्चल = दृगंचल, पलक ।

अति सूक्ष्म सिन्दूर रेखा निन्दन्ते पाप, जनु पञ्चशर करो
पहिल प्रताप ॥१४५॥
दोखे हीनि, माझ खीनि, रसिके आनलि जूँआ ॥१४६॥
जीति पयोधर केर भर भागए चाह ॥१४७॥
नेत्र करे त्रितिय भाग तीनु भुअण साह ॥१४८॥

---

१४५ [अ] रेषा निंदते । जनि । पंचसर । [ख] जनु । को ।
१४६ [अ] दोषें । माह दूरवोनि रसिक । आनत्थि । [ख] आण ।
१४७ [अ] करे भारे भागए । [ख] पयोंधर करे भार भागै चाह ।
१४८ [अ] तृतीय भागे । भुवन । [ख] णेत्र करे त्रितिअ ।

१४५-१५१. सिन्दूर की अत्यंत पतली रेखा उनके पापमय जीवन की निंदा करती हुई ऐसी लगती थी मानों वह कामदेव की कृपा का प्रथम चिन्ह हो। दोषहीन, क्षीण कटिवाली, रसिकों ने जिन्हें मानो जूए में जीत लिया था, अर्थात् अपना सर्वस्व दाँव पर रखकर जिन्हें प्राप्त किया था, पयोधर के भार से जिनका क्षीण मध्यभाग मानों टूट जाना चाहता था, (ऐसी वे वेश्याएं) नेत्रों

नयनाञ्चल कज्जल कल्लोलिनी के समान, उनकी चंचलता वीचि विवर्त अर्थात् भँवरयुक्तलहरों के समान, और भ्रूलता भंगिमा बड़ी-बड़ी शफरी तरंगों के समान थी।

शफरी तरंग = शफरी मछलियों का तरंगित होना अर्थात् उछलना जल में-से उछलती हुई शफरी मछलियाँ कुटिल भ्रूलता के समान थीं।

१४७. भागए—सं० भग्न > प्रा० भग्ग > अप० भाग। चाह—सं० वाञ्छ का धात्वादेश चाह = चाहना, इच्छा करना।

भागए चाह = टूट जाना चाहती थी, भग्न हो जाना चाहती थी।

१४८. साह—शासन करना, वश में करना।

सँसर बाज, राअन्हि छाज ॥१४९॥
होइ अइसनओो आस, कइसे लागत आँचर बतास ॥१५०॥
तान्हि करी कुटिल कटाक्ष छटा कन्दर्पशरश्रेणी जओो नागरन्हि
काँ मन गाड़, गोवोलि गमारन्हि छाड़ ॥१५१॥

---

१४९ [अ] सुसरे बाजा। [ख] सुशर बाज। रायह्न छाज।

१५० [अ] काहु काहु अइसनवो। [ख] अनेक हो अैसनेउ आसनो आस कैसहु लागिहि आचर कवर तास।

१५१ [अ] ताहि। करि। सदर्प्प कंदप्प सब श्रेणी। जउ। नागवल्लिका। का मन गाउ। गो वोसि गमारहु छाडि।
[ख] जे करे। क्षटे संदर्प्प कन्दर्प। सर स्नूनोर। के। गवारहि।

के तीनों भागों (श्वेत, रक्त, कृष्ण) से मानो तीनों लोकों को वश में करना चाहती थीं। उनके यहाँ सस्वर वाद्यों से राग सुशोभित होता था। किसी को ऐसी आशा होती थी कि किस प्रकार उनके अंचल की हवा लगे। उनकी कुटिल कटाक्ष छटा ही कामदेव के बाणों की पंक्ति थी जो गँवार ग्वालों को छोड़कर नागरिकों (रसिकों) के मन में गड़ जाती थी।

सं० साध > प्रा० साह = वश में करना (पासद्द० ११२३)।

१४९. सँसर—सं० सस्वर > प्रा० सँसर।

बाज—सं० वाद्य > प्रा० वज्ज > अप० बाज = बाजा।

राअन्हि—सं० राग > प्रा० राय, राअ० = राग, गीत (हे० १।६८)।

छाज—सं० राज का धात्वादेश छज्ज (हे० ४।१००) = शोभना, शोभित करना।

१५०. बतास = हवा।

१५१. गोवोलि = गायों को हाँकने वाले।

२।२५ [दोहा]

सव्वउँ नारि विअक्खनी, सव्वउ सुस्थित लोक ॥ १५२ ॥
सिरि इमराहिम साह गुणे नहि चिंता नहिं शोक ॥ १५३ ॥

२।२६

सब तसु हेरि सुहित होअ लोअण ॥ १५४ ॥
सब तहुँ मिलए सुठाम सुभोअण ॥ १५५ ॥

---

१५२ [अ] सव्वउ । णारि । सव्वउ सुत्थित । लोअ । [ख] सुथिर ।
१५३ [अ] इबराहिम साहि । णहि । सोक । [ख] सिरी इमराहिम साहि ।
१५४ [अ] तहु । हो । लोअन ।
१५५ [अ] तहुँ । सुठामहि भोअन ।

१५२-१५३. सभी नारियाँ चतुर थीं, सभी लोग सुखी थे। श्री इब्राहिम शाह के गुणों के कारण किसी को न चिन्ता थी, न शोक।

१५४-१५५. यह सब देख कर नेत्र सुखी होते थे। वहाँ सर्वत्र सुन्दर निवास स्थान और अच्छा भोजन मिलता था।

वोल—सं० गम् का धात्वादेश वोल = चलना, गमन करना। (पासद्द० १० २९; हे० ४।१६२)। गोवोलि = गायों के साथ घूमने वाला अर्थात् ग्वालिया। शिवप्रसाद सिंह की प्रति का पाठ गोवोलि है। किन्तु श्री बाबूराम सक्सेना की प्रति का गोवोलि पाठ ही शुद्ध है।

१५४. सुहित—सं० सुखित > प्रा० सुहिअ > अव० सुहित = सुखी।

१५५. सुठाम—सं० स्थान > प्रा० ठाय, ठाण, ठाम (पासद्द० ४६१)।

खन एक मन दए सुनओो बिंअक्खण ॥ १५६ ॥
किछु वोलओो तुरुकाणओो लक्खण ॥ १५७ ॥
२।२७ [भुजंग प्रयात छन्द]
ततो वे कुमारो पइट्ठे वजारी ॥ १५८ ॥
जहि लक्ख घोरा मअंगा हजारी ॥ १५९ ॥

---

१५६ [अ] मण । सुनउ । विअक्खण ।
१५७ [अ] वोलउ । तुरकानेउ ।
१५८ [अ] तदो । वइट्ठे वजारो । [ख] तदो । वइठो ।
१५९ [अ] जही । लख्ख । हजारो । [ख] कही (जहि) ।
हयारो (हजारी) ।

---

१५६. हे विचक्षण! एक क्षण मन लगा कर सुनो। १५७. अब मैं तुरुकों के कुछ लक्षण कहता हूँ।

१५८-१५९. तब वे दोनों कुमार बाजार में प्रविष्ट हुए जहाँ लाखों घोड़े और हजारों हाथी थे।

---

१५७. तुरुकाणओो—फा० तुर्क की जमा का बहुवचन तुरुकाण। (स्टाइनगास, फा० कोश, पृ० २९६)। हि० तुर्काण = तुर्कमान, तुर्क। तुर्कों के लिये जायसी में भी यह शब्द आया है—ढीली सब हेरेउँ तुरुकाणू (६०४।३); ढीली नगर आदि तुरकाणू, साहि अलाउद्दीन सुल्तानू, (पद्मावत, पृ० ४५६।६)।

१५८. वे = दोनों। सं० द्वे > प्रा० बे, वे (हे० ३।११९) वि = सं० द्वि > प्रा० बि, वि (पासद्द० ९५१)।

१५९. मअंगा = हाथी। सं० मातंग > प्रा० मायंग > अव० मअंग + क = मअंगा।

कहीं कोटि गन्दा कहीं वादि वन्दा ॥ १६० ॥
कहीं दूर रिक्काविए हिन्दु गन्दा ॥ १६१ ॥
तही तथ्थ कूजा तवेल्ला पसारा ॥ १६२ ॥

---

१६० [अ] कही चोटि । मंदा । कही वारि वंदा ।
[ख] कही बैठ वंदा कही वोट विंदा ।
१६१ [अ] कही । दुर । निक्काविए हिन्दुमंदा ।
[ख] कही दूर निक्कारिअहि ।
१६२ [अ] कही तस्त कूजा । [ख] कही (तही)। तस्थ । तवोला ।

१६०-१६५ कहीं पर तरह-तरह के गुप्तचर (गन्दा) थे, कहीं फरियादी (वादि) और कहीं गुलाम (वन्दा) थे । कहीं तुर्क लोग हिन्दुओंको गेंद की तरह मारकर दूर भगा रहे थे। कहीं तई (तही), तश्तरी (तथ्थ), सुराही (कूजा), तौला अथवा कुंडा (तवेल्ला)

---

१६०. गन्दा—गोयन्दः = गुप्तचर (स्टाफा० ११०७) ।

वादि—सं० वादी = फरियादी । अथवा यह वाँदी का भी अवहट्ट रूप हो सकता है जैसे फा० बन्दा का वन्दा है ।

वन्दा = नौकर, गुलाम । फा० बन्दः (स्टाइन्गास, फा० कोश पृ० २०२) ।

१६१. रिक्काविए = रीता करते थे, निकालते थे । सं० रिक्त > प्रा० रिक्क (पासद्द० ८८३) । रिक्क से नाम धातु रिक्काविइ = रीता किया हुआ ।

गन्दा = गेंद । सं० गन्दुक > प्रा० गेन्दुअ (हे० १।५७; पासद्द० ३७५) > अव० गेन्दा, गन्दा । यहाँ गन्दा का जो 'गंदीला' अर्थ टीकाकारों ने किया है वह असंगत है । कवि का आशय है कि तुर्क लोग हिन्दुओं को गेंद की तरह मार कर भगा रहे थे ।

१६२. तही—हि० तई = थाली के आकार की चौड़ी कड़ाही ।

कही तीर कम्माण दोक्काणदारा ॥ १६३ ॥
सराफे सराहे भरे वे वि बाजू ॥ १६४ ॥

१६३ [ब] कही।
१६४ [ब] सराफे सराफे। भवे। वे। दिवाजु। [स] सरावे सरावे। [शा] सराफो सराफें। लखै ('वे वि' के स्थान पर)।

फैले हुये थे। कहीं तीर कमान बेचने वाले दुकानदार थे। दोनों तरफ श्लाघनीय (सराहे) सराफे के बाजार भरे थे। वहाँ हीरा

(शब्द सागर पृ० १३४३)। सं० तापिका। तापिका शब्द हर्षचरित में प्रयुक्त हुआ है। (तलक-तापक-तापिका-हस्तक-ताम्रचरु-कटाह-संकट-पिटक-भारिकैः, सप्तम उच्छ्वास पृ० २११, निर्णय सागर-संस्करण)। शंकर के अनुसार तापिका = काकपालिका यत्र तैलादिना भक्ष्याः पाच्यन्ते।

तश्थ—फा० तश्त, तश्तरी (स्टाइनगास फा० कोश, पृ० ३०२)।

कूज़ा—फा० कूजः = लम्बी गर्दन वाली सुराही (स्टाइनगास फा० कोश पृ० १०६१)। हिन्दी में कूजा, कुजा, इस रूप में यह शब्द प्रचलित है। कूजे या कुजे की मिश्री वह मिश्री है जो मिट्टी के कूजे में चासनी डालकर बनाई जाती है।

तवेल्ला = तौला, कूंडा या भगोने जैसा बर्त्तन।

१६३. दोक्काणदारा = फा० दूकान + दार। अरबी—दुक्कान > फा० दुकान, दूकान (स्टाइनगास फा० कोश पृ० ५३०, ५४५)।

१६४. सराफे = सराफा बाजार (सोनहट्टी, जौहरी बाजार)।

तौलन्ति हेरा लसूला पेआजू ॥ १६५ ॥
खरीदे खरीदे बहूता गुलामो ॥ १६६ ॥

---

१६५ [अ] तौलन्त हे लसूणा पिआजु । [स] तउलंत । लसूणा ।
[शा] फेरा (हेरा) ।

१६६ [अ] खरीबे खरीबे । बहुत्तो गुलामो [स] पहूचो पहूचो ।
गुलावो (गुलामो) ।

(हेरा) लहसुनिया (लसूला),फीरोजा (पेआजू) तौला जा रहा था।
१६६-१६७.बहुत से गुलाम ये वस्तुयें खरीद-खरीद कर ले जा

सराहे—सं० श्लाघ>अप० सराह (पासह० ११०२) = प्रशंसा करना ।

वेवि = दोनों, वि-सं० अपि>प्रा० अवि = वि (हे० २।२१८; पासह० ९५१) ।

वाजू = तरफ । फा० बाज़ू>सं० बाहु = भुजा तरफ (स्टाइनगास फा० कोश, पृ० १४५) ।

१६५. हेरा = हीरा ।

लसूला—लहसुनिया (एक प्रकार का संग या उपमणि), अंग्रेजी कैट्स आइ (Cat's eye) ।

पेआजू = फीरोज़ा । अंग्रेज़ी टरक्वाइस (Turquoise) तुर्क > तुर्किस > फ्रे० तुरक्वॉज । फारसी पीरोज़ा पीरोज़ (स्टाफा० कोश पृ० २६५) इस शब्द के फारसी रूप पीरोज़ और फीरोज़ दोनों होते हैं । (स्टाफा० कोश पृ० ९४४) ।

१६६. वहूता—सं० प्रभूत>प्रा० बहुत्त (हे० ३।२३३; पासह० ७८२)>अव० बहूत ।

तुरुक्को तुरुक्कें अनेको सलामो ॥ १६७ ॥
वसाहन्ति षीसा पइज्जल्ल मोजा ॥ १६८ ॥
भमे मीर वल्लीअ सइल्लार षोजा ॥ १६६ ॥
अबे बे भणन्ता सराबा पिबन्ता ॥ १७० ॥

---

१६७ [अ] तुरुक्के तुरुक्के । अलेको सलामो । [शा] तुरुक्को तुरक्के [ख] तुरुकँइ तुरुकँइ । अलेको ।

१६८ [अ] वेसाहन्त । खीसा । मइलज्ज । [ख] वीसाखंत्त । पइजल ।

१६९ [अ] मल्ली (वल्लोअ) । सॅलाव । [क] सीर (मीर के स्थान पर) । [ख] सेलार ।

१७० [अ] सरावा पिअंता [ख] पिअन्ता ।

रहे थे। तुर्क-तुर्क से परस्पर अनेक सलाम ले रहे थे। १६८. कहीं बटुवे (खीसा), जूते (पइज्जल) और मोज़े खरीदे जा रहे थे। १६९-१७०. मीर, वली, सालार और ख्वाजे 'अबे बे' कहते हुए और शराब पीते हुए घूम रहे थे।

---

१६८. वसाहन्ति = खरीदते थे।
षीसा = बटुवे।
पइजल्ल = जूता। फा० पैज़ार।
मोजा—सं० मोचक, फा० मोज़ः (स्टाफा० कोश पृ० १३४४)।
१६९. वल्लीअ = वली।
सइल्लार = सालार।
षोजा = ख्वाजा।

कलीमा कहन्ता कलामे जिअन्ता ॥ १७१ ॥
कसीदा कढन्ता मसीदा भरन्ता ॥ १७२ ॥
कितेबा पढन्ता तुरुक्का अनन्ता ॥ १७३ ॥

---

१७१ [अ] कलिमा कहंता। [ख] कलामे जियन्ता कलीमा पढन्ता।
१७२ [अ] भमंता (भरन्ता)।
१७३ [अ] कितेबा पढंता। तुलुक्का। [ख] कतेवा।

हाफिज़ कलमा कह रहे थे, कुछ कविता (कसीदा) पढ़ रहे थे, कुछ मसजिदों में भरे हुए थे और कुछ कुरान शरीफ पढ़ रहे थे, इस प्रकार अनेक तुर्क वहाँ दिखाई पड़ रहे थे।

---

१७१. कलीमा = अरबी कलिमा।

कलामे जिअन्ता = कुरान मजीद से जीने वाले, अर्थात् हाफ़िज़ जिन्हें कुरान कंठस्थ रहता है।

१७२. कसीदा—अरबी० क़सीदा, अंग्रेजी ओड (ode) = कविता।

कढ़ंता = पढ़ते हुए। प्रा० कड्ढ = पढ़ना, उच्चारण करना (हे० ४।१८७; पासद्द० २७४), सं० कृष् का धात्वादेश कड्ढ (हे० ४।१८७) = पढ़ना, उच्चारण करना। (पासद्द० २७४ के अनुसार कड्ढ धातु के कई अर्थों में एक यह अर्थ भी सम्मिलित है।) भोजपुरी में 'कढावा कढाओ' अर्थात् गीत उच्चारण करो, अभी तक कहा जाता है।

मसीदा = मसजिद।

१७३. कितेवा = किताब अर्थात् क़ुरान शरीफ।

२।२८ [छपद]

अति गह सुमर षोदाए षाए ले भाँग क गुण्डा ॥१७४॥
विनु कारणहि कोहाए वयन तातल तम कुण्डा ॥१७५॥
तुरुक तोषारहि चलल हाट भमि हेडा मंगइ ॥१७६॥

---

१७४ [अ] अति । सुमरु । खोदाए । गूडा । [ख] सुमरि ।
१७५ [अ] कारण । वअन । कुण्डा । [ख] कारणन्हि । कोहाए [रिसाइ] । तव कूडा ।
१७६ [अ] तुषारहि । हेरा । चाहइ । [ख] हाट—भै हेरा चाहै ।

---

१७४. तुर्क अत्यन्त तल्लीनता से खुदा को याद कर पीछे भाँग का गोला खा लेता है ।

१७५. बिना कारण ही जब क्रोध करता है तब उस समय उसका मुख तप्त ताम्र कुण्ड की भाँति लाल हो जाता है ।

१७६. तुर्क घोड़े पर सवार हो बाजार में घूमकर अपना हेडा नामक कर वसूल करता है ।

---

१७४. गह—सं० ग्रह > प्रा० गह = तल्लीनता, आसक्ति (पासद्द० ३६५) ।

गुण्डा—फा० गुंदा = खमीरी आटे का फूला हुआ गोला (स्टा० २९९) ।

१७५. कोहाए—सं० क्रोध > प्रा० कोह (पासद्द० ३३६) = क्रोध करना । उससे नाम धातु कोहाए । सं० क्रुद्ध धातु से प्रा० कुज्झ धातु होती है । उससे कोहाना नहीं बन सकता ।

वएन—सं० वदन = मुख > प्रा० वयन, वअण > अप० वएन ।

तातल—सं० तप्त > प्रा० तत्त > अव० तात > मैथिली तातल ।

तमकुण्डा = ताँबे का कुण्ड या चौड़ा बर्तन । सं० ताम्रकुण्ड ।

१७६. तोषारहिं = घोड़े पर। हाट—घोड़ों का बाजार। इसे ही मुसलमानी काल में नख़्ख़ास भी कहने लगे। मध्य कालीन नगरों में नख़्ख़ास नामक बाजार होते थे। लखनऊ, काशी आदि में नख़्ख़ास बाजार के नाम अभी बच गए हैं। तुषार हाट इस प्राचीन शब्द को हटाकर नख़्ख़ास (स्टाफा० १३९१) यह अरबी शब्द प्रचलित हो गया।

तोषारहिं—संस्कृत साहित्य में तुषार देश के घोड़े के लिये यह विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था। पीछे प्राचीन हिन्दी में घोड़े के पर्याय अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

हेडा—यह शब्द मध्यकालीन भाषा में प्रयुक्त होने लगा था। याज्ञवल्क्य की टीका में हेडावुक घोड़े के व्यापारी के रूप में प्रयुक्त हुआ है। त्रिकाण्डशेष कोश में भी हेडावुक शब्द इस अर्थ में आया है (२।९।२७)। हारावली कोश में इसी अर्थ में हेकावुक शब्द दिया है (हारावली २०१ (बाटलिंक० ७।१६५९)। हेडावुक से हिन्दी में 'हेडाउ' और प्राचीन गुजराती में 'हेडाऊ' शब्द (जिम हेडाऊ तुरंगम पाल्हइ, भोगीलाल संडेसराद्वारा सम्पादित वर्णक समुच्चय, पृ० ९६) उस प्रकार के बंजारे व्यापारियों के लिए प्रयुक्त होने लगा जो घोड़े बैल आदि लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान में उन्हें बेचने जाते थे। हेडा का अर्थ पशुओं का झुंड था। लेखपद्धति ग्रंथ के संवत् १२८८ में लिखित एक लेख में 'पाट हेडा' यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, (लेख पद्धति, गायकवाड़ ग्रंथमाला पृ० ५३)। वहाँ सम्पादक ने हेडा का अर्थ पशुओं का झुंड किया है (वही, टिप्पणी, पृ० १२४)। मूल में 'पाटहेडा हेतोः शस्त्रघातं विदधाति', उल्लेख है; अर्थात् 'पाट हेडा' के लिए शस्त्र-द्वारा किसी पर हमला करे तो उसे राज दण्ड से युक्त किया जाय। 'पाटहेडा' शब्द में पट्ट शब्द पट्टा या अधिकार-पत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'पाटहेडा' का अर्थ

आडी डीठि निहारि दवलि दाढी थुक वाहइ ॥१७७॥

१७७ [अ] अडा (आडी)। दाटी। [ख] दवलि (दवरि)। दारही (दाढी)।

१७७. जब वह तिरछी दृष्टि से देखता है तो उसकी सफेद दाढी पर थूक बहता है।

हुआ = हेडा या बिक्री के लिये आए हुए पशुओं के झुंड पर हेडा नामक कर। मध्यकाल के शिला लेखों से ज्ञात होता है कि हेडाउ व्यापारी या पशुओं के बंजारे जब नगर में अपना झुंड लेकर पहुँचते तो उन्हें कुछ कर देना पड़ता था। वही हेडा कहलाता था। बाजार में इस प्रकार के कर वसूल करने का पट्टा राज्य की ओर से व्यक्ति विशेष को दे दिया जाता था। ऐसे कर को पट्टहेडा या पाटहेड़ा कहते थे। उसी का यहाँ विद्यापति ने उल्लेख किया है कि तुर्क घोड़ों के बाजार में घूमकर अपना हेडा नामक कर वसूल करता था। बजारों के हेडे आदि प्रयोगों में हेड या हेडा पशुओं के झुण्ड के लिए राजस्थानी, कौरवी आदि बोलियों में प्रयुक्त होता है।

१७७. आडी—तिरछी।

डीठि—सं० दृष्टि>प्रा० डिट्ठी>अव० डीठि। दवलि = धवल, सफेद। 'दवलि दोआरहिं चारिआ', इस वाक्य में भी धवल के लिए दवलि प्रयुक्त हुआ है।

थुक—सं० थूत्कृत (पासद्द० ५५२)>प्रा० थुक>अव० थुक = थूक।

वाहइ—सं० वर्ष>प्रा० वरिस का अप० आदेश वह (मार्कण्डेय कृत प्राकृत सर्वस्व १२१; पासद्द० ९३७) = बरसना। अर्थ की दृष्टि से

सव्वस्स सराब षराब कइ ततत कबाबा खा दिरम ॥१७८॥
अविवेक क रीती कहओ का पाछा पएदा ले ले भम ॥१७६॥

---

१७८ [अ] सव्वे सरावे। खराब। कइत कइ। तरमा वाद रम।
[ख] कँ—तत कइत खा वादि रम।

१७९ [अ] कबीबी कहओ का पाछा [ख] अवि येका कवि करइ का, कय दाया क्षेलेइ भम (स्याही उड़ जाने से पाठ अस्पष्ट है)।

---

१७८. अपना सर्वस्व (सम्पति, जायदाद) शराब में गवाँ देता है और धन (दिरम) गरमा-गरम (ततत) कबाब खाने में नष्ट कर देता है।

१७९. उसके अविवेक के विषय में क्या कहूँ ? पीछे प्यादा लिये हुए घूमता है।

चाहइ प्रयोग सर्वथा उपयुक्त और संगत है। तुर्क तिरछी दृष्टि से देखकर अपनी सफेद दाढ़ी पर थूक बरसाता या बहाता था।

१७८. सव्वस्स—सं० सर्वस्व = सब कुछ, सब धन या सम्पत्ति। दिरम = धन, नगदी। अरबी दिरहम = रुपया पैसा (स्टाफा० ५१६)। 'अविवेक की रीति' में उनके दुराचार की ओर संकेत है।

ततत—गरमा गरम। सं० तप्ततप्त > प्रा० तत्तत्त, > अव० ततत।

कबाबा—अरबी कबाब = गोश्त के भूने हुए टुकड़े।

२।२९-३० [छपद]

जमरा खाइ लै भाँग भाग रिसिआइ खाण है ॥ १८० ॥
दौरि चीरि जिउ धरित समिण सालण आणौ भणौ ॥ १८१ ॥

पंक्ति १८० से १८५ तक) एक पद्य कई प्रतियोंमें नहीं मिलता, [क] और [अ] प्रति में नहीं होने से इसकी टीका भी नहीं मिलती। केवल [ख] प्रति में यह पद्य है और इतना ही नहीं, और भी कुछ है जो स्याही के उड़ जाने से अस्पष्ट है।

१८० भाग (भाँग)। रिसियाइ।

१८१ धरित्र।

---

१८०. यवन जब भाँग खा लेता है तो पीछे क्रोधित होकर खाँ साहब बन जाता है।

१८१. दौड़ो, मारो-काटो, जीवित पकड़ो, सालन ले आओ, इस प्रकार ऊटपटांग प्रलाप करता है।

---

१८०. भाग = पीछे। दे० मग्गो (= पश्चात्, पीछे) > अव० भाग (दे० नाम माला, टीका ११४, मगा = पश्चात् ;

मग्गो पच्छा = मग्गो पश्चात्, दे० नाममाला ६।१११; पासह० ८२५)।

खाण है = खाँ साहब हो जाता है।

१८१. दौरि = दौड़ कर।

जिउ = जानवर। सं० जीव 7 प्रा० जिअ > अप० जिउ।

धरित = पकड़ता है। सं० धृ > प्रा० अप० धर = पकड़ना।

समिण—सं० समानी > प्रा० समाणी = ले आना, लाना।

सालण—हि० सालन = मांस, मछली की मसालेदार

पहिल नेवाला खाइ जाइ मुँह भीतर जबहीं ॥ १८२ ॥
खरण यक चुप मै रहइ गारि गाडू दे तबहीं ॥ १८३ ॥

१८३—गारि गाडु ।

१८२-१८३. पहला ग्रास खा लेने पर जब उसे मुँह के भीतर निगलने लगता है तो एक क्षण चुप रह कर शीघ्रता से ग्रास को सटकने के लिए गडुये (बधने) से मुँह में पानी उड़ेलता है ।

तरकारी ।

अणै—सं० अनय > प्रा० अणय > अव० अणै = अनीति, अन्याय ।

अणै मणै = अनीति की बातें कहता है, ऊटपटांग बकता है । "दौड़ो, मारो-काटो, जीवित पकड़ो, सालण ले आओ", इस प्रकार का ऊटपटांग प्रलाप करता है ।

१८२. नेवाला = ग्रास, कौर ।

जाइ—सं० यापय > प्रा० जाव = गमन कराना, गुजारना (पासद्द० ४४२) ।

१८३. रहइ = जल्दीसे, वेग से । सं० रमसा > प्रा० रहइ = वेग से (पासद्द० ८७९) ।

गारी = गारना । सं० गालय = प्रा० गाल, गालयइ = गारना, छानना, गिराना, पीना ।

गाडू = गडुआ । प्रा० गड्डुक, गड्डुअ – गडुआ लोटा । वस्तुतः वैदिक कद्रुक से लोकमें इस शब्द की परम्परा आई । वै० सं० कद्रुक (ऋ० १०।१४।१६) > कद्दुअ > गड्डुअ > गाडुअ > गाडू ।

गारि गाडू—गडुये या बधने से मुँह में पानी डाल लेता है ।

ताकि रहै तसु तीर लै वैठाव मुकदम वाहि घै ॥ १८४ ॥

१८४—ताकी ।

१८४. मुकद्दम उसे देखकर जल्दी से भुजा पकड़कर एक किनारे ले जाकर बैठाता है ।

१८४. ताकि = समझकर, देखकर, अनुमान करके । इसका शुद्ध पाठ ताकि, ताकना धातुका पूर्वकालिक क्रिया का रूप होना चाहिए ।

सं० तर्क > प्रा० अप० तक्क, तक्केइ (पासद्द० ५२४) = तर्क करना, अनुमान करना, अटकल लगाना । पूर्व कालिक क्रिया—तककि, ताकि ।

रहै—जल्दी से, वेग से । सं० रभसा > प्रा० रहइ = वेग से (पासद्द० ८७९) ।

तीर—किनारे, एक ओर ।

लै = पकड़ कर । सं० ला > प्रा० ले = लेना, ग्रहण करना, पकड़ना । लेइ = पकड़ कर (हे० ४।२३८; पासद्द० ९०५) ।

तीर लै = एक तरफ लेकर, किनारे ले जाकर ।

मुकदम—अरबी मुकद्दम = एक विशेष उच्च अधिकारी जो मुसलमानी काल के नगर शासन में नियुक्त किया जाता था । (स्टाइफा० १२९२)

वाहि = भुजा । सं० बाहु > प्रा० बाह (पासद्द० ७८४) > अव० वाह, वाहि । वर्णरत्नाकर में 'वाह' इस रूप का प्रयोग हुआ है (वर्णरत्नाकर पृ० ४५) ।

घै = पकड़ कर । सं० ग्रह् > प्रा० गह, घत्त = ग्रहण करना, पकड़ना (पासद्द० ३६५, ३८३) ।

जौ आनिअ आन कपूर सम तबहु पिआजु-पिआजु पै ॥ १८५ ॥
गीत गरुवि जाषरी मत्त भए मतरुफ गावइ ॥ १८६ ॥

---

१८६ [ख] गीरं गर जाकरिअ मत्त मैं मुतुरुक गावहि ॥
[अ] गीति । जाकरी । मत्ता भए

---

१८५. यदि उसे कपूर के समान श्वेत भात भी लाकर दिया जाय तो भी प्याज प्याज ही चिल्लाता है ।

१८६. प्रधान नर्तकी (गरुवि जाषरी) मस्त होकर प्रशंसा (मतरुफ) के गीत गाती है ।

---

१८५. आन—सं० अन्न > प्रा० अण्ण = भक्ष्य पदार्थ, चावल का भात > अव० आन ।

कपूर सम = कपूर के समान श्वेत ।

पै = इतने पर भी, तब भी । सं० प्रति > अप० पइ, लक्ष्य सूचक अव्यय (पासद्द० पृष्ठ १२६५)

१८६. गरुवि = बड़ी, श्रेष्ठ । सं० गुर्वी > प्रा० गरुवी । (पासद्द० २६३) गरवी, बड़ी, श्रेष्ठ ।

जाषरी = नट्टिनी, नाचने वाली । सं० यक्ष > प्रा० जक्ख > अव० जाख से स्त्री लिंग में डी प्रत्यय जोड़कर जाखडी, जाखरी बना ।

गरुवि जाषरी—प्रधान नर्तकी । राज दरबारों में जो सबसे श्रेष्ठ नर्तकी होती थी उसे मध्यकालीन परिभाषा में महाणच्चणी कहा जाता था । खजुराहो के मन्दिर शिल्प में नृत्ययुक्त शिलापट्टों पर महाणच्चणी का अंकन हुआ है । उसी के लिए यहाँ गरुवि जाखरी यह पारिभाषिक संज्ञा प्रयुक्त हुई है ।

चरष नाच तुरुकिनी आन किछु काहु न भावइ ॥ १८७ ॥

---

१८७ [अ] चरख नाचत तुरुष्किणी । [ख] तुरुकुनिअ ।

---

१८७. तुरुकिनी चरष नाच (नृत्य विशेष) नाचती है। उसके सिवाय और कुछ किसी को अच्छा नहीं लगता।

मतरुफ—प्रशंसा गान। प्रधान नर्तकी मस्त होकर मतरुफ गाती है।

१८७. चरष नाच—विशेष नृत्य का नाम जिसमें चक्राकार घूम-घूम कर नृत्य का प्रदर्शन किया जाय।

चरष = चक्र, घूमता हुआ गोला। मुसलमानी दरवेशों के घूम-घूम कर फिरकीदार नृत्य को फारसी में चर्ख कहते हैं (स्टाफा० ३९०)। इसी नृत्य से सूफियों को हाल या तन्मयता प्राप्त होती है। नर्तकी-द्वारा चर्ख नाच प्रतीकात्मक साभिप्राय नृत्य था। फारसी में चर्ख आकाश मंडल का पर्याय है। इसे ही चर्खे अकबर या चर्खे पीर भी कहते हैं जो संस्कृत के ब्रह्म चक्र के समतुल्य हुआ। ब्रह्मचक्र के भ्रमण का उल्लेख उपनिषदों में आया है। उसी के अनुरूप फारसी परम्परा में आकाश रूपी चक्र, आसमान के चर्ख के घूमने की कल्पना की गई थी अर्थात् आकाश के नक्षत्र, ग्रह, तारे, सब भगवान के ध्रुव आसन के, जो आकाश में स्थित है, चारों ओर घूमते हुए परिक्रमा कर रहे हैं। इसी भाव को चर्ख नाच में प्रदर्शित किया जाता था। राजस्थान में गनगौर के उत्सव में पातरियाँ (वेश्यायें) गौर के चारों ओर घूमर डालकर अर्थात् चारों तरफ चक्कर देकर नृत्य करती हैं। गुजराती गरबा में भी इसका सादृश्य है।

आन—अन्य, दूसरा।

सअद सेरणी विलह सव्व को जूठ सव्वे खा ॥ १८८ ॥
द्वोआ दे दरवेस पाव नहि गारि पारि जा ॥ १८९ ॥

---

१८८ [अ] सई अद । सव्वं । खाए । [ख] सइद । सिरणि । कर (को) ।

१८९ [अ] दोआ । पावे । [ख] दूआ । [शा] द्वाआ ।

---

१८८. सैयद शीरनी बाँटता है, सब कोई उसका उच्छिष्ट खाते हैं ।

१८९. फकीर (दरवेश) दुआ देता है और जब कुछ नहीं पाता तो गाली देकर जाता है ।

---

१८८. सअद = सैयद, मुसलमानी धर्म गुरु। सैयद मुसलमानी धर्म में वे पूज्य या पुरोहित व्यक्ति होते हैं जिन्हें मोहम्मद साहब की पुत्री फातिमा और उनके पति अली का वंशज समझा जाता है (स्टा-फा० ७१५) ।

सेरणी = प्रसाद । फा० शीरीनी = मिठाई (स्टाफा० ७७५) हिन्दी की बोलियों में यह शब्द प्रसिद्ध है, जैसे अंधा बाँटे शीरनी फिर फिर घरकों कू दे ।

विलह = बाँटना । सं० विलभ् > प्रा० विलह । सं० लभ > प्रा० लह = लेना, पाना । विलह = देना, बाँटना ।

जूठ सव्वे खा = जूठ—जूठा—उच्छिष्ट । सं० जुष्ट > प्रा० जुट्ठ (पासद्द० ४५९) = सेवित । वह जिसका सेवन कर लिया गया हो, जिसमें से कुछ लेकर खा लिया गया हो। सैयद के पास प्रसाद चढ़ाने के लिए लोग शीरनी या मिठाई ले जाते हैं। वह उसमें से कुछ लेकर रख लेता है, या खा लेता है, अतः जो बच रहता है वह उसका जूठा कहा गया है ।

मषदूम नरावइ दोम जञो हाथ ददस दस णारश्रो ॥ १६० ॥

---

१९० [अ] मखदूम नवावइ । जउ । दोस । तारवो ।
[ख] लवावँ (नरावइ) । डूग (दोम) जह । णारओ ।

---

१९०. मख़दूम नरकपति के समान माना जाता है । जब वह प्रेतात्माओं को बुलाकर हदस (अँगूठी के नग में प्रेतात्माओं का दर्शन कराना) द्वारा उन्हें जल्दी जल्दी दिखाता है तो देखने वालों को डर लगता है और उन्हें पीड़ा पहुँचती है ।

---

१८९. द्वोआ—ख प्रति में दूआ पाठान्तर है । दोनों का अर्थ आशीर्वाद है ।

दरवेश—फकीर । फा० दरवेश ।

पारि जा—हिन्दी, पारना = गिराना, डालना (हि० शब्दसागर २०९०) सं० पत् = गिरना > प्रा० पड् । सं० प्रेरणार्थक पातय = गिराना > प्रा० पाड (पाडेइ) = गिराना, पाड़ना (पासह० ७११) ।

गारि पारि जा—गाली देकर चला जाता है ।

१९०. मषदूम—अरबी मख़दूम, मुसलमानी धर्म गुरु जो भूत प्रेत आदि की साधना करते हैं और जिनके विषय में यह माना जाता है कि प्रेत आत्मा उनके बुलाने से आ जाती हैं (स्टाफा ११९५) ।

नरावइ—सं० नरकपति > प्रा० णरयवइ, णरअवइ, णरावइ > अव० नरावइ = नरकपाल । वह व्यक्ति जिसे नरक के जीवों का अधिपति समझा जाता है । उनकी यातनाओं को वह नियमित करता है । इन्हें आसेविया भी कहते हैं (तु० नलदलन ५०।७, कतहूँ असवैया असवै डारी) ।

इन्हें नरयपाल भी कहते हैं (सं० नरक पाल)। नरय पाल = वह परमधार्मिक देव जो नरक के जीवों की यातना करते हैं। (पउम चरिउ २६५११८।२३७; पासद्द० ४७३)। विद्यापति ने यहाँ मुसलमानी और हिन्दू दोनों परम्पराओं के शब्द रख दिये हैं। वस्तुतः जो मख़दूम की शक्ति समझी जाती थी वही नरक पति या नरक पाल की थी।

दोम = सन्ताप देना, पीड़ा पहुँचाना, यातना देना। सं० दू धातु का प्राकृत धात्वादेश दूम = सन्ताप करना, परिताप करना, दुमइ, दुमेइ (हे० ४।२३, पासद्द० ५८७)। इसी का प्रेरणार्थक रूप दोम = सन्ताप पहुँचाना, परिताप कराना, यातना देना। तात्पर्य यह कि मख़दूम जब नारकीय आत्माओं को बुलाकर हृदस में उन्हें दिखाता था तो देखने वाले को उन यातनाओं से मन में भय और पीड़ा पहुँचती थी।

जओ—सं० यतः > प्रा० जओ > अव० जओ = क्योंकि, जिस कारण से, जब।

हाथ—शीघ्र, जल्दी (देशी नाम माला ८।५९, हत्थं हल्लफलिअं हुलिअं त्रयो प्येते शीघ्रार्थाः अर्थात् हत्थ, हल्लफलिअ, हुलिअ ये तीन शब्द शीघ्र या जल्दी के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इनमें हल्लफलिअ से ही हिन्दी का हड़बड़ी शब्द बना है। हत्थ शब्द का विद्यापति ने यहाँ प्रयोग किया है। हेमचन्द्र की सहायता के विना इस शब्द का ठीक अर्थ यहाँ जानना प्रायः असम्भव ही था। 'हाथ हृदस दस नारओ' इस वाक्य में शीघ्रतावाची हत्थ > हाथ का प्रयोग ही संगत है। क्योंकि हृदस करने वाले जब प्रेतात्माओं का दर्शन कराते हैं तो अत्यन्त शीघ्रता करने को कहते हैं, अर्थात् देखने वाले के सामने अंगूठी के नग में हृदस करने वाले के कथनानुसार प्रेतात्माएँ जल्दी-जल्दी आती हैं और ओझल हो जाती हैं। चतुर्थ पल्लव में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

षुन्दकारी हुकुम कहओ का अपनेओ जोए परारि हो ॥ १९१ ॥

---

१९१ [अ] खुंदकारी हुकम का कहओ। 'कहओ' के बाद 'का' पाठ नहीं है। अपनिवो। [ख] खोदका दीक हुकुम—अब कहो। अण किउ (का अपने ओ)।

---

१९१. काज़ी (षुन्द कारी) के हुक्म के विषय में क्या कहूँ ? (उसके उटपटांग न्याय से) अपनी स्त्री भी परायी हो जाती है।

ददस = प्रेतात्माओं को बुलाकर अंगूठी के नग आदि में उनका दर्शन कराने की प्रक्रिया। मूल शब्द अरबी भाषा में 'हदस' है जिसका अवहट्ट या मैथिली में ददस रूप विद्यापति ने दिया है। हदस = अदृश्य वस्तु को शीघ्रता से दृश्य करना (स्टाफा० ४१३)। आज भी यह शब्द प्रेतात्माओं को बुलाकर दर्शन कराने की क्रिया रूप अर्थ में मुसलमानों में प्रयुक्त होता है। इसे ही हाज़िरात भी कहते हैं (स्टाफा० ४०८)। लोक में इससे निकला हुआ हजिरात शब्द चलता है।

दस = दिखाता है। सं० दर्शय > प्रा० दस्स > अव० दस = दिखाना।

णारओ = नरक के जीव, प्रेतात्मा। सं० नारक > प्रा० णारय = नरक का जीव (पासद्द० ४७८)। यहाँ श्री बाबूराम सक्सेना जी की प्रति में 'ख' प्रति का पाठ 'नारओ' पाद-टिप्पणी में दिया हुआ है, वही वस्तुतः मूल पाठ था। जब इस पंक्ति का शुद्ध अर्थ ओझल हो गया, तब अर्थ को सरल बनाने के लिए द्वारओ यह अप-पाठ प्रचलित हुआ। वस्तुतः कीर्तिलता की यह पंक्ति ग्रन्थ भर में सबसे अधिक क्लिष्ट और

२–३१ [वाली छन्द] ।

हिन्दू तुरके मिलल वास ॥१९२॥
एकक धम्मे अओका उपहास ॥१९३॥
कतहु बाँग कतहु वेद ॥१९४॥

---

१९२ [अ] हिन्दू तुलुक । [ख] तुरुक मिललइ ।
१९३ [अ] धम्मे । अओका कहास । [ख] औकाक । हास ।
१९४ [अ] बांग । [ख] कहहु । कहहु ।

१९२-१९३. हिन्दू और तुर्क हिले-मिले बसते हैं। एक का धर्म अन्य के उपहास का कारण बन जाता है।

१९४. कहीं मुसलमान बाँग देते हैं, कहीं हिन्दू वेद पाठ करते हैं।

अस्पष्ट थी। मखदूम, नरावइ, दोम, हाथ, ददस, दस, नारओ, इसके ये सातों शब्द पारिभाषिक विशिष्ट अर्थ रखने वाले हैं।

१९१. खुन्दकारी = न्याय करने वाला क़ाज़ी।

जोए = स्त्री। सं० युवति > प्रा० जुवई, जुउइ, जोइ > जोय।

परारि—सं० परकारिता > प्रा० परआरिआ > अव० परारि = पराई।

मूल पाठ परारि था उसे शिवप्रसाद सिंह ने अनधिकृत रूप से पराई कर दिया।

१९३. अओका = इसका। जैसा श्री शिवप्रसाद सिंहने लिखा है इस शब्दका प्रयोग वर्णरत्नाकर (पृष्ठ ४५) में आया है। इसकी व्युत्पत्ति अपर और अपरकसे संभव नहीं है। इसके मूलमें इदम् शब्दका रूप है। उसीके अव्यय रूप 'अतः'से प्राकृतमें 'अओ' होता है।

कतहु मिसिमिल कतहु छेद ॥१६५॥
कतहु ओझा कतहु षोजा ॥१६६॥
कतहु नकत कतहु रोजा ॥१६७॥

---

१९५ [अ] विसमिल । कतहुँ । [ख] विशमिल । कहहु ।
१९६ [अ] खोजा । [ख] कहहु । वोझा । कहहु ।
१९७ [अ] कतहुँ । [ख] कहहु । नखत । कहहु ।

---

१०५. कहीं (मुसलमानोंमें) बिसमिल्ला कहकर पशुओं को मारा जाता है, कहीं (हिन्दुओं में) उनकी बलि दी जाती है ।

१९६. कहीं पंडित (ओझा) रहते हैं, कहीं ख्वाजा ।

१९७. कहीं तिथि विशेष पर उत्सव मनाया जाता है, कहीं रोजा ।

---

१९५. मिसिमिल = विसमिल्ला या बिसमिल्ला उल रहमाने रहीम कहकर धार्मिक कार्यके लिये पशुका ज़िबह करने या मारनेका अर्थ है । ख प्रतिका पाठ विशिमिल है ।

छेद = छेदना, काटना, बलि देना ।

१९६. ओझा = सं० उपाध्याय > प्रा० उवज्झाय, उवज्झाअ > उअज्झा > ओझा = पंडित । षोजा—फा० ख्वाजा: = ख्वाजा, धर्म का जानने वाला मुल्ला या अध्यापक ।

१९७. नकत = उत्सव, नक्षत्रके अनुसार मनाया जाने वाला उत्सव जिसे क्षण भी कहते हैं ।

रोजा—फा० रोज़: = व्रत, उपवासका दिन (स्टाफा० ५९४) । फारसीमें भी मूलतः यह शब्द संस्कृत रुच, रोचस्से बना है ।

कतहु तम्बारु कतहु कूजा ॥१९८॥

१९८-१९९ [अ] में यह पूरी पंक्ति नहीं है और [ख] प्रतिमें भी।

---

१९८. कहीं ताँबे का पात्र (तम्बारु) प्रयोग में लाया जाता है, कहीं कूजा।

---

१९८. तम्बारु = ताँबेका घड़ा या लोटा। सं० ताम्र > प्रा० तम्ब (पासद्द० ५२४) = ताँबा। तम्बारु में आर की ध्वनि मूल किस शब्दसे है, इसपर विचार करते हुये ज्ञात होता है कि इसमें वही वारक शब्द था जो जवारा (अंकुरित जौ से भरा हुआ घड़ा) शब्दमें है। घटवाची वार शब्द संस्कृत, पालि, प्राकृत तीनों भाषाओंमें प्रचलित था।

सं० वार—वारक = लघु कलश (मोनियर विलियम्स संस्कृत कोश पृ० ९४४)। पालि वार = जलपात्र (जातक ४।४९२; उदकवार, धम्मपद, अट्ठकथा १।४९; स्टीड, पालि कोश)। एजेंटनने बौद्ध लौकिक संस्कृतमें भी वार शब्दका उल्लेख किया है। जैसे पानकवार—(दिव्यावदान ३४३।१, एजेंटन, बौद्धमिश्रसंस्कृत कोश)। पासद्द० के अनुसार प्राकृतमें वारक, वारग और वारय तीनों रूप चलते थे (पासद्द० ९४५)। प्राकृत वारयसे वारअ बनेगा और फिर वारा। ताम्रवारक < तम्बवारय > तम्बआरअ > तम्बारा। किन्तु ह्रस्व उकारान्त तम्बारु रूप है। अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दीमें ह्रस्व उ प्रथमा विभक्तिमें जुड़ता था, जैसे रामु। अतएव ताम्रवार > तम्बआर > तम्बार, तम्बारु हुआ। वार या वारक शब्दका अस्तित्व लोकभाषामें भी पहिचाना जा सकता है। बुन्देलखण्डमें जवारा उस चौड़े मुँहके घड़ेको कहते हैं जिसमें जौके अंकुर उगाए जाते हैं। स्त्रियाँ जवारे सिरपर रखकर दशहरेकी उत्सव यात्रामें नाचती-गाती निकलती हैं। बुन्देलखण्डकी ओर यह

कतहु नीमाज कतहु पूजा ॥१९९॥
कतहु तुरुक वरकर ॥२००॥
बाँट जाइते वेगार धर ॥२०१॥

---

२०० [अ] तुलुका। वलकर। [क] वरकइ। [ख] कहहु।
[श] वरकर।

२०१ [अ] वाट। जाएते। [ख] जात वेगारि।

---

१९९. कहीं नमाज पढ़ी जाती है तो कहीं पूजा होती है।

२००-२०१. कहीं तुर्क बल पूर्वक रास्ते जाते हुए मनुष्यों को बेगार में पकड़ लेता है।

प्रथा अभी तक है। जायसीने भी छोटे कलशके अर्थमें वार शब्दका प्रयोग किया है —कुमुदिनी कण्ठ लागि सुठि रोई, पुनि लै रोग वार मुख धोई। (पद्मावत ५८१।१, देखिये संजीवनी व्याख्या)।

कूजा—(देखिये कीर्तिलता २।२६।१६२)।

१९९. नीमाज—फा० नमाज़ = प्रार्थना। यह मूल शब्द फारसीमें अरबीसे नहीं किन्तु संस्कृत परम्परा (सं० नमस्) से लिया गया था। पैगम्बर, बहिश्त, रोज़ा, नमाज़ ये चारों शब्द फारसीमें सं० परम्पराके हैं। अरबोंने ईरानको युद्धमें विजित किया किन्तु वे स्वयं ईरानी संस्कृतिसे दूरतक प्रभावित हो गए।

२००. वरकर—बलात्कार, बलप्रयोग या जबरदस्ती करके। तुक की दृष्टि से अ प्रति का वरकर पाठ लिया गया है। शास्त्री जी का भी वही पाठ है। बाबूराम जी की प्रति में वरकइ है जो संभवतः छापे की भूल है।

घरि आनए बाँभन बरुआ ॥२०२॥
मथाँ चढ़ावए गाइक चुडुआ ॥२०३॥
फोट चाट जणेव तोर ॥२०४॥

---

२०२ [अ] आनिअं । वामन । वलूआ । [ख] आणे । वरुअ ।
२०३ [अ] मथा । चराइअ । चरूआ । [ख] चढ़्णावें । चरुआ ।
२०४ [अ] जनौअ तोर । [क] तोड । [ख] जणेव तोर ।

२०२-२०३. उसका अन्याय यहाँ तक बढ़ा हुआ है कि ब्राह्मण के लड़के को घर से पकड़ ले आता है और उसके सिर पर गाय का चमड़ा लदवा कर ले चलता है ।

२०४-२०५. उसका तिलक मिटा देता है, जनेऊ तोड़

---

२०२. घरि आनए = पकड़ लाकर ।

बरुआ = लड़का । सं० वटुक > प्रा० वडुअ, वडुआ > प्रा० वरुआ ।

२०३. चढ़ावए—सं० आरुहका प्राकृत धात्वादेश चढ़ (हे० ४। २०६) चढइ = चढ़ना, आरूढ़ होना । प्रेरणार्थक—चढावइ = चढ़ाता है (पासद्द० ३१८) ।

गाइक = गायसका ।

चुडुआ—देशी चुडुप्प = खाल (पासद्द० ४१२) ।

२०४. फोट = तिलककी बिंदी । सं० स्फुट > प्रा० फुट्ट (= विकसित होना, खिलना, पासद्द० ७७२) । उसीसे हिन्दी फुटक = दही आदि की बूँद । चंदनकी श्वेत टिकलीके अर्थमें उसीसे निकला हुआ फोट शब्द है ।

चाट—दे० चट्ट = चाटना, चट्टेइ ।

जणेव—सं० यज्ञोपवीत > प्रा० जण्णोवईय ।

उपर चढावए चाह घोर ॥२०५॥
धोआ उरिधाने मदिरा साँध ॥२०६॥

२०५ [अ] चरावए । वाह (चाह के स्थान पर)।
[ख] चहरावँ ।
२०६ [अ] साध । [ख] धुआ वरीधाने । साधीअ ।

डालता है और उसके ऊपर घोड़ा चढ़ा देना चाहता है ।

२०६. कहीं ब्राह्मण के घर से यज्ञ या व्रत-उपवास के लिये धोये हुए उरिधान नामक चावल तुर्क बलपूर्वक छीन लेता है और उन्हें मदिरा बनाने जैसे निकृष्ट काम में लाता है ।

२०५. घोर—सं० घोट > प्रा० घोड़ (पासह० ३८८)।

२०६. धोआ—सं० धौत > प्रा० धोअ (पासह० ६०५)। धोई हुई दाल आदि के लिए हिन्दी में धोआ शब्द प्रयुक्त होता है ।

उरिधाने—उरिधान शब्द से तृतीया एक वचन । इसमें ख प्रति का पाठ धुआ वरिधाने है । उरिधाने, वरिधाने दोनों शुद्ध हैं और एक ही अर्थ के वाचक हैं । सं० वरक = एक विशेष प्रकार का चावल जो यहाँ अभिप्रेत है । जंगल में जो धान वर्षा में स्वयं जम जाते हैं और शरद में पक कर झड़ जाते हैं उन्हें लोक में कुधान्य या निकृष्ट धान समझा जाता है, किन्तु व्रत, उपवास में उन्हें ही काम में लाने का विधान है । अतएव वे मुनि अन्न कहे जाते थे । तिन्नी, सावाँ जैसे धानों की गिनती इसी में है । सुश्रुत के अनुसार कुधान्यों की सूची में श्यामाक (सावाँ) और नीवार (तिन्नी) के अतिरिक्त वरक का पृथक् उल्लेख किया गया है (कुधान्य विशेषाः—कोरदूषक श्याम नीवार शान्तनु वरक

देउर माँगि मसीद बाँध ॥२०७॥
गोरि गोमठ पुरिल मही ॥२०८॥
पएरहु देना एक ठाम नहीं ॥२०९॥

२०७ [अ] देउरि भांगि । मसीदह ।
[ख] फोरि (भाँगि के स्थान पर) । बाधिअ ।
२०८ [अ] गोमठे । पुरलि ।
२०९ [अ] धर (देना के स्थान पर) । नही ।
[ख] पयरउ । धरह । ठाउ ।

२०७. कहीं मंदिर को तोड़कर मसजिद बनाता है ।
२०८. कब्र और मकबरों से पृथ्वी भर गई है ।
२०९. एक पैर रखने के लिए भी स्थान नहीं है ।

वरकोद्दालक प्रयंगु मधूलिका नन्दीमुख कुरुविन्द गवेधुक सरबरक तोदपर्णी मुकुन्दक वेणुयव प्रभृतयः, सुश्रुतसूत्रस्थान ४६।२१) । ब्राह्मण के घर से यज्ञ या व्रत-उपवास के लिए धोये हुये उरिधान नामक चावल तुर्क बलपूर्वक छीन लेता है और उन्हें मदिरा बनाने जैसे निकृष्ट काम में लेता है ।

साँध—साँधना, अचार आदि की तरह डालकर उठने के लिए रख देना । सन्धान = मद्य, सुरा (पासह० १०५२)।

२०७. देउर = मन्दिर । सं० देवकुल > प्रा० देउल (हे० १।२७१, पासह० ५८८) > अव० देउर ।

माँगि = तोड़कर । सं० भग्न > प्रा० भग्ग (= खण्डित, पासह० ७९५) = भाँगना = तोड़ना ।

बाँध = बाँधना, निर्माण करना ।

हिन्दु बोलि दुरहि निकार ॥२१०॥
छोटेओ तुरुका भभकी मार ॥२११॥

---

२१० [अ] हिन्दू । दूर । [ख] हीदु रोटेहु का ।
२११ [अ] छोटहो । तुलुको ।

---

२१०. तुर्क अपमान या गाली के रूप में 'हिन्दू' कहकर दुत्कारता और निकाल देता है ।

२११. छोटा भी तुर्क क्रोधित होकर ताड़न करता है ।

---

२०८. गोरि = कब्र । फा० गोर = कब्र, मृतक समाधि (स्टाफा० ११०१) ।

गोमठ = गूमट, गुम्बज, मकबरा । फा० गुम्बद, गुम्बज़ (स्टाफा० १०९८) ।

पुरिल = भर गई । सं० पूरय > प्रा० पूर (पासद्द० ७५६) > अव० पुर, पुरइ (पासद्द० ७५०) = भरना, पूर्ति करना ।

२०९.पएरहु = एक पैर भी देने के लिए जगह नहीं रही । पएर = पदतल < पयअल, पयल, पइल, पएर ।

२१०. बोलि—सं० कथय का धात्वादेश बोल्ल (हे० ४।२, पासद्द० ७९१) । उसी का कृदन्तरूप बोलि = कह कर । हिन्दू बोलि—अपमान और गाली के रूप में 'हिन्दू' कह कर दुत्कारता और निकाल देता है । मुसलमानों के आगमन के प्रारम्भिक काल में यहाँ के निवासियों के लिये 'हिन्दू' शब्द उन्होंने अपमान के लिये प्रयुक्त किया था । स्टाइन-गास के अनुसार हिन्दू शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं—काला, नौकर, गुलाम, लुटेरा, काफिर (स्टाफा० १५१४) । इन अपमानों के कारण हिन्दू शब्द लगभग गाली ही बन गया था ।

दुरहि = दुरना = दुत्कारना ।

२।३१ [दोहा]

हिन्दुहि गोट्टओ गिलिए हल तुरुक देखि होअ भान ॥२१२॥
अइ सेओ जसु परतापे रह चिर जीअउ सुरुतान ॥२१३॥

२१२ [अ] हिंदुहि । गोटेयो । तुलुक । हो भाण ।
[ख] ओ हिन्दु, बोलि गिरि चहै । देषि हो ।
२१३ [अ] ऐसेओ । वसह (रह) । चिरे जीवओ सुरतान ।
[ख] अइसो । जस (जसु) । है (रह) । जीअउ ।

२१२. तुर्कों को चलते हुए देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों वे हिन्दुओं के समूह को निगल जाना चाहते हैं ।

२१३. यद्यपि तुर्क स्वभाववश अत्याचारी हैं किन्तु सुल्तान के प्रताप से वे ऐसा नहीं कर पाते और सब लोगों का कल्याण रहता है । इस लिये सुल्तान चिरजीवी हों ।

२११. ममकी = ममकना, अत्यन्त क्रोधित होना । सं० वाष्प > प्रा० वप्फ + कृ > अव० ममक्क ।

मार = ताड़न करना । सं० मारय > प्रा० मार (पासद्द० ८५१)। इसके दो अर्थ हैं—

(१) ताड़न करना (२) हिंसा करना । यहाँ पहला अर्थ ही अपेक्षित है ।

२१२. गोट्टओ = समूह । सं० गोष्ठी (मंडली) > प्रा० गोट्ठि > अव० गोट्ठ, गुट्ट ।

गिलिए—गिल = निगलना, सटकना, भक्षण करना । सं० गॄ > प्रा० गिल (गिलइ, पासद्द० ३७०) ।

हल = चल रहा है । दे० हल्ल = हिलना, चलना । (हल्लन्ति, पासद्द० ११८७) ।

२।३३ [दोहा]

हट्टहि हट्ट भमन्तओ दूअओ राज कुमार ॥२१४॥
दिठ्ठि कुतूहल कज्ज रस तो पइट्ठ दरबार ॥२१५॥

---

२६४ [अ] हट्टहि हट्टहि । भंमत । दूअ । राअकुमार ।
[ख] हट्टह हट्ट । भवन्तओ । दूयो ।
२६५ [अ] वसे (रस) ।
[ख] डीठि कुतोहर । लम्य हरै (कज्ज रस के स्थानपर) । तौ पइठे दरवार ।

२१४-२१५. एक हाट से दूसरे हाट में घूमते हुए दोनों राजकुमार दरबार देखने के कौतूहल वश और अपनी फरियाद सुनाने के लिए तब राजदरबारमें प्रविष्ट हुए।

---

२१३. अइ—सं० अति > प्रा० अइ = बहुत, अत्यधिक । सेओ—सं० श्रेयस् > प्रा० सेय = कल्याण (पासद्द० ११६८) । कवि का आशय है कि यद्यपि तुर्क इतना अत्याचार करते थे, पर सुल्तान के प्रताप से वे ऐसा न कर पाते थे और सब लोगों का अत्यंत कल्याण रहता था, इस-लिए सुल्तान चिरजीवी हों ।

२१५. कज्ज = आवेदन; न्यायालय या राजा के सामने फरियाद । सं० कार्य > प्रा० कज्ज का यह एक पारिभाषिक अर्थ भी था। कार्य = अदालती फरियाद । (स्वैरालापे स्त्री वयस्यापचारे कार्यारम्भे लोकवा-दाश्रये च । कः श्लेषः कष्टशब्दाक्षराणां पुष्पापीडे कण्टकानां यथैव ॥ पद्मप्राभृतकम्, श्लोक १८) । कार्यारम्भका अर्थ यहाँ लिखित फरियाद या अदालती अर्जी-दावा है । पादताडितकम् में अर्जी देने वाले वादी या फरियादी लोगों को कार्यक कहा गया है । अधिकरणगतोऽपि क्रोशतां

२।३४ [पद्मावती छंद]

लोअह सम्मद्दे बहु विहरद्दे, अम्बर मण्डल पूरीआ ॥२१६॥

२१६ [अ] विहवद्दे । अंबर मंडल ।

२१६. लोगों की भीड़-भाड़ में बहुत आने-जाने वालों से वस्त्रों के बने हुए मण्डल नामक गोल तम्बू भर रहे थे।

कार्यकाणाम् । कालिदास ने भी कार्य शब्द इस अर्थमें प्रयुक्त किया है। बहिर्निष्क्रम्य ज्ञायतां कः कः कार्यार्थीति (मालविकाग्निमित्र, ऑप्टे, मॉनियर विलियम्स सं० कोश)। रस—सं० रस√>प्रा० रस = चिल्लाकर कहना ।

कज्ज रस = अपनी फरियाद कहने के लिए ।

तो = तब । सं ततः>प्रा० तओ (पासद्द० ५२३)>अव० तो ।

२१६. लोअह = लोगों के । सं० लोक>प्रा० लोअ (पासद्द० ९०६) । सम्मद्दे = सम्मर्द से, भीड़-भाड़ से ।

विहरद्दे—प्रा० विहरन्ते = विहार करते हुए । सं० वि + हृ->प्रा० विहर = गमन करना, आना-जाना । अम्बर मण्डल = वस्त्र का बना हुआ मण्डल नामक तम्बू । यह पाँच शामियानों से मिलकर बनता था और चार खम्भों पर खड़ा किया जाता था । बीच में एक शामियाना लगाकर उससे जुड़े हुए चार तरफ चार शामियाने लगते थे । अगल-बगल के चारों शामियानों को कभी उठा देते और कभी गिरा देते तो वे पर्दे का काम देते थे और बीच के शामियाने की छत के बराबर खिलवत खाना या एकान्त स्थान बन जाता था । कभी चारों शामियानों को ऊपर खींच लेते या कभी उसे एक ही ओर से खोलते तो कमरा जैसा जान पड़ता था (आईन अकबरी, आईन

आवन्त तुरुक्का षाण मुलुक्का, पञ्च भरे पत्थर चूरीआ ॥२१७॥
दुरुहुन्ते आआ वड वड राआ दवलि दोआरहीं चारीआ ॥२१८॥

२१७ [अ] आवत्ते तुरुष्का । खान मलिक्का । भटे । पत्थर ।
[ख] आवंथि । मल्लिक ।

२१८ [अ] दूरहोंत्ते । आवा । वडदउ । रावा । दुआरहि वारिआ ।
[ख] ते दुरुहुति । दुआरे । वारिआ (चारीआ) ।

२१७. आते हुए तुर्कों के खान और मलिक-सरदारों के पैरों के बोझ से पत्थर भी चूर-चूर हुए जा रहे थे ।

२१८. दूर-दूर से बड़े-बड़े राजा आए थे और धवलगृह या महल के द्वार पर ही चक्कर लगा रहे थे, अर्थात् भीतर प्रवेश न पाते थे ।

सं० २१, फ़र्राशख़ाना, ब्लोख़मैन कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ५६) । विद्यापति ने आगे भी केवल मण्डल नाम से इस तम्बू का उल्लेख किया है—वारिग्गह मण्डल दिग आखण्डल पट्टन परिठम भाणा (कीर्तिलता पल्लव ४) ।

२१७. मुलुक्का = राजा, मालिक, सरदार । अरबी मलिक का बहुवचन मुलूक (स्टाफा० १३११) > अव० मुल्लुक, मुलुक्का ।

पञ्च भरे = पद भार से, पैर के बोझ से ।

२१८. दुरुहुन्ते = दूर से ।

दवलि दोआरहीं = धवल द्वार या महल का द्वार । कीर्तिलता में पहले भी धवल के लिए दवलि प्रयुक्त हुआ है—दवलि दाढी थुक वाहइ (कीर्तिलता, २।१७७) । धवलगृह के द्वार को बाण ने 'हर्षचरित'

चाहन्ते छाहर आवहि बाहर गालिम गणए ण पारीआ ॥२१९॥
सब सइअदगारे विथ्थरि थारे पूहविए पाला आवन्ता ॥२२०॥

---

२१९ [अ] चाहंते । छाहर आवइ । न । [ख] चाहर ।
२२० [अ] सब्व । समदगारे । वित्त विथारे । पुहवी । आवंता ।
[ख] वीथवी थारे । पुहमी (पुहविए) ।

---

२१९. चहेते छोकरे महल से बाहर आते थे । उन गिलमान (नौजवान दासों) की गिनती नहीं हो सकती थी ।

२२०. सब सैयद कहलाने वाले बड़े रोब-दोब से बिथुरे हुए थे । पृथ्वी पाल राजा लोग आ रहे थे ।

में गृहदेहली कहा है । वहाँ गृह धवलगृह का ही संक्षिप्त संकेत है । ऐसे ही यहाँ केवल धवल धवलगृह के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

चारीआ—गमन करते थे, घूमते थे । सं० चार>प्रा० चार=गति, गमन, भ्रमण, परिभ्रमण । अथवा चारी, आ इनको पृथक् पृथक् भी ले सकते हैं । सं० चारिन्>प्रा० चारी, चारि=चलने वाला, गमनशील, भ्रमणशील (पासद्द० ४०४) । सं० आगत>प्रा० आअ>अव० आ= आये हुए थे । ख प्रति का पाठ वारिआ है जिसका अर्थ होगा कि बड़े-बड़े राजा धवल गृह के द्वार तक आकर प्रवेश करने से रोक दिये जाते थे ।

२१९. चाहन्ते=चाहते, चहेते, लाड़ले, प्रेम पात्र ।

छाहर=सुन्दर । सं० छाया (=कांति, शोभा)>प्रा० छाया (पासद्द० ४२१), छाहा (पासद्द० ४२२) इसी से अप० में ड प्रत्यय लगाकर छाहड, छाहर (=सुन्दर) शब्द बना । गालिम=नौ जवान लड़के । अरबी गुलामका बहुवचन गिलमान=लड़के, छोकरे, बन्दे (स्टाफा० ८९३) । उसी से देश्य भाषा या अव० में गालिम शब्द रूप प्रचलित हुआ ।

दरबार बइट्ठे दिवस भइट्ठे वरिसहु भेट्ट न पावन्ता ॥२२१॥

२२१ [अ] वरिसे । ण पावंता । [ख] वरिसन्हि । भेंट ।

२२१. दरबार में बैठे हुए दिन बीत जाते थे, बरसों भेंट नहीं हो पाती थी ।

२२०. सइअदगारे = सैयद विरुद धारण करने वाले, सैयद कहलाने वाले । अरबी सैयद—मुहम्मद साहब की वंश परम्परा में उत्पन्न सम्मानित व्यक्ति जो उनकी पुत्री फातिमा और उसके पति अली से अपना सम्बन्ध मानते हैं (स्टफा० ७१५)। इसमें गार फारसी का प्रत्यय जुड़ा है । किसी वस्तु के आधिपत्य या कर्त्तृत्व का सूचक प्रत्यय है (स्टाफा० १०७२) ।

विथ्थरि—विथुरे हुए थे । सं० विस्तृ > प्रा० वित्थर = फैलना, बढ़ना (पासद्द० ९७८) ।

थारे—गर्वीले, गर्विष्ठ, अरमानी, रोबदाब वाले । सं० स्तब्ध > प्रा० थड्ड (पासद्द० ५५०) > थड्ड > थाड > थार + अ = थारा, थारे ।

पुहविए पाला = पृथ्वीपाल, राजा । सं० पृथ्वी > प्रा० पुहवी (पासद्द० ७५५)। पुहइ, पुहई, पुहवि, पुढवि, पुहुवी ये सब रूप प्रा० अप० में होते हैं ।

२२१. बइट्ठ—सं० उपविष्ट > प्रा० उवविट्ठ, उवइट्ठ > बइट्ठ (अप०)। भइट्ठ = बीत जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं । सं० भ्रंश > प्रा० भ्रंश = नष्ट होना (पासद्द० ८००) । सं० भ्रष्ट > प्रा० भट्ट (= नष्ट) > अव० भइट्ठ ।

भेट्ट = मुलाकात । दे० मिट्ठ = भेंटना (पासद्द० ८०८), संज्ञा मिट्टा > भेंट ।

उत्तम परिवारा षाण उमारा महल मजेदे जानन्ता ॥२२२॥
सुरतान सलामे लहिअइ लामे, आपें रहि रहि आवन्ता ॥२२३॥

---

२२२ [अ] खाण जानन्ता । [ख] उत्तमि । जे जहि मलम जाणंता ।

२२३ [अ] नहइ अलामे । आपि । बहि बहि । आवंता ।

[क] लहिअइ लामे । [ख] लहिअै माने । रहि उठि (द्वितीय रहि के स्थान पर) ।

---

२२२. ऊँचे खानदान के खान और उमरा लोग शाही महल (महल-मजीद) में कुछ जान-पहचान रखते थे ।

२२३. सुलतान को सलाम करने के लिए उन्हें एक लहमा भर मिलता था । वे एकान्त में भेंट करने के लिए उत्कण्ठा से आते रहते थे ।

---

२२२. उमारा—अरबी उमराअ, अमीर की जमा, राजा लोग (स्टाफा० ९९) ।

मजेदे = श्रेष्ठ, प्रतिष्ठित (स्टाफा० ११८०), जैसे कलाम मजीद । महल मजेदे = अरबी महल मजीद, बड़ा महल, शाही महल ।

जानन्ता—जानते थे, परिचय रखते थे । कवि का आशय है कि यों तो राजदरबार में बहुत से दर्शनार्थी प्रतीक्षा करते रहते थे पर श्रेष्ठ परिवारों के खान उमराव मजीद महल या शाही महल में परिचय रखते थे, अतएव उन्हें सुल्तान से भेंट करने का अवसर शीघ्र मिल जाता था ।

२२३. लहिअइ—क प्रति में लहिअइ पाठ है वही मूल ज्ञात होता है । लामे = क्षण (अरबी लहमा), पलभर समय । लहिअइ लामे अर्थात् मुलाकात के लिये क्षणभर पाते थे ।

साअर गिरि अन्तर दीप दिगन्तर जासु निमित्ते जाइआ ॥२२४॥

---

२२४ [अ] अंतर । दिगंतर । जाईआ । [ख] दीपन्तर ।

२२४-२२५. समुद्र, पर्वत, द्वीप और देशान्तर से जिसके

आपें रहि रहि आवन्ता = आप से रह रह कर आते थे। आपें—सं० आत्मना > प्रा० अप्पना। इसके अतिरिक्त यह अर्थ भी संभव है —एकान्त में भेंट करने के लिये उत्कंठा से आते थे।

आपें—सं० अर्पय > प्रा० अप्प = अर्पण करना, भेंट करना, अप्पेइ (हे० ११६३; पासद ७०) आपें = भेट के लिये। रहि— एकांत। सं० रहस् > प्रा० रह (पासद० ८७८)। आपें रहि = एकांत में भेंट करने के लिये। बादशाह से दो प्रकार की भेंट होती थी, एक दरबार आम (बाह्य आस्थान मंडप) में और दूसरी दरबार खास (आभ्यन्तर आस्थान मंडप) में। वस्तुतः दरबार खास की मुलाकात ही घनिष्ठ सम्बन्ध की सूचक थी और उसी के लिये लोग उत्कंठित रहते थे। कवि का तात्पर्य यहाँ उसी से है।

रहि—सं० रभस > प्रा० रहस (पासद० ८७८), रह (पासद० ८९८) = उत्साह, उत्कंठा, हर्ष।

२२४. साअर—सं० सागर = समुद्र। प्रा० सायर > अव० साअर। जाइआ = सं० याचक > प्रा० जायअ > अव० जाइअ (पासद० ४४१)। वहाँ याचित से भी जाइअ व्युत्पत्ति दी है। कवि का आशय है जिसके कारण या हेतु से याचक बन कर सब एकत्र हुए थे।

सब्बओ बटुराना राउत राणा तथ्थि दोआरहिं पाइआ ॥२२५॥
इअ रहहिं गणन्ता विरुद भणन्ता भट्टा ठट्टा पेख्खीआ ॥२२६॥

---

२२५ [अ] सब्बउ । बटुराणा । तत्थि । दुआरहि । [ख] बटुराना । तथि दूआरे पारिआ ।

२२६ [अ] इअहि । गणंता । विरुदि भणंता । घट्टा (ठट्ट) । देखिआ । [ख] रहि को (रहहि) । देखी आ ।

कारण सब लोग याचक बन कर एकत्र हुए थे । उस महल के द्वार पर सब रावत और राणा पायक बन कर खड़े थे ।

२२६. यहाँ उत्कण्ठा पूर्वक सोचते हुए और विरुद गान करते हुए भाटों के समूह दिखाई पड़ते थे ।

---

२२५. बटुराना = एकत्र होना । सं० वर्त्म > प्रा० वट्ट (= रास्ता, पासद्द० ९१९) । सं० उत्स्था > प्रा० उट्ठ (= उठना, खड़े होना पासद्द० १९०) अर्थात् मार्ग में खड़े होना । वट्ट उट्ठण > वट्टोट्ठण > (प्रा०) वट्टुट्ठण > वटुराना, वटुरना, बटुराना । राउत = रावत—एक विशेष सम्मानित उपाधि । राजा के अति निकट संबंधी और विश्वास पात्र सरदार रावत कहे जाते थे । सं० राजपुत्र > रायउत्त > राअउत्त > राउत्त, रावत । तथ्थि—वहाँ । सं० तत्र > प्रा० तत्थ (पासद्द० ५२७) पाइआ = पायक । सं० पदातिक > प्रा० पाआइअ > अव० पाइअ, पाइआ । रावत और राणा वहाँ महल के द्वारपर पायक बन कर खड़े थे ।

२२६. इअ = यहाँ । सं० इतः > प्रा० इओ > अव० इअ । रहहिं = उत्कंठा से, उत्सुकता से । सं० रभस > प्रा० रहस (पासद्द० ८७६) > रह = औत्सुक्य, उत्कंठा (पासद्द० ८७८) । गणन्ता—सं० √ गणय > प्रा० गण = विचार करना, सोचना । विरुद = पदवी, यश । पासद्द० ७८६

आवन्ता जन्ता कज्ज करन्ता मानव कमने लेक्खीआ ॥२२७॥
तेलंगा वंगा चोल कलिंगा राआ पुत्ते मण्डीआ ॥२२८॥
निअ भासा जम्पइ साहस कम्पइ जइ सूरा जइ पण्डीआ ॥२२९॥

---

२२७ [अ] आवंता । जंता । करंता । लेखीआ । [ख] आरंता जाता काज । कवणे (कमने) ।
२२८ [अ] वाअहि । दूते । मण्डीआ ।
[ख] चोर (चोल के स्थान पर) । रायन्ह इति ।
२२९ [अ] जंपे । कंपइ । [ख] साधस (साहस) । तता सूरायन्ह ।

---

२२७. दरबारी कार्यके लिए आने-जाने वाले मनुष्योंका लेखा कौन कर सकता है ?

२२८. तैलंग, वंग, चोल, कलिंग देशों के राजपुत्र वहाँ सुशोभित थे ।

२२९. चाहे शूर हों, चाहे पण्डित, सब अपनी भाषा में कुछ अर्दास करने के लिए डर से काँप रहे थे ।

के अनुसार विरुद शब्द का प्रयोग केवल एक बार प्राकृत साहित्य में आया है (सन्मति सूत्र गाथा, १४१) । ज्ञात होता है कि विरुद शब्द की व्युत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत में सं० विरुत से हुई । विरुद (= शब्द, ध्वनि, पक्षी की आवाज) > महाराष्ट्री प्रा० विरुअ (पासद्द० ९९४), शौरसेनी विरुत > हिन्दी विरुद ।

२२७. कमने = किसने । ख प्रति में कवणे पाठ है । लेक्खीआ = लेखा किया, हिसाब किया । प्रा० लेक्ख = लेख, हिसाब (पासद्द० ९०५) ।

२२८. मण्डीआ = मण्डित, भूषित ।

राउत्ता पुत्ता चलए बहुत्ता आँतरे पाँतरे सोहन्ता ॥२३०॥

---

२३० [अ] चलइ। अंतरे। पटले। साहंता। [ख] भवहि (चलइ स्थान पर)।

---

२३०. अनेक रावत पुत्र अन्तर-प्रान्तर (बस्ती और निर्जन स्थानों) से सुशोभित होते हुए आये थे।

---

२२९. जम्पइ—सं०जल्प>प्रा० जम्प (पासद्द० ४२८, जप्प, पासद्द० ४३४)=बोलना, कहना।

साहस=डर से। 'ख' प्रति में साधस पाठ है वह संस्कृत साध्वस के अधिक निकट है।

जइ=यदि, चाहे। चाहे सूर चाहे पंडित दोनों डरसे काँप रहे थे।

पण्डीआ—सं० पंडित>प्रा० पंडिअ>अप० पंडीअ, पण्डीआ (प्राकृत पैंगलम्, पासद्द० ६१६)।

२३०. आँतरे पाँतरे—श्री बाबूराम जी की प्रति में 'अंतरे पटरे' पाठ है जो क प्रति का पाठ रहा होगा। ख प्रति का कोई पाठान्तर भी टिप्पणी में नहीं दिया गया है। विद्यापति ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग पहले एक साथ किया है (कीर्तिलता २।६१,६२)। ऐसी स्थिति में आँतरे पाँतरे पाठ ही मौलिक जान पड़ता है और उसे यहाँ मूल में रखा गया है। आँतरे पाँतरे=बस्ती के बीच में और विजन स्थानों में।

सोहन्ता—सं० शोभय>प्रा० सोह=शोभायुक्त करना, सुन्दर बनाना (पासद्द० ११७८)। कवि का आशय है कि रावतों के अनेक पुत्र अन्तर प्रांतर को सुशोभित करते हुए संग्राम के लिये बाहर जाते थे।

संगाम सुहव्वा जनि गन्धव्वा रूव्वे पर मन मोहन्ता ।।२३१।।

२।३५ [छपद]

ओहु षास दरबार सएल महि मण्डल उप्परि ।।२३२।।

---

२३१ [अ] संग्राम । सुभव्वा । रूअे । मण । मोहंता । [ख] सुभंवा (सुहव्वा) । रूपे (रुव्वे) ।

२३२ [अ] एहु । खास । मंडल । [ख] वसइ (सएल) ।

---

२३१. वे संग्राम में ऐसे सुन्दर जान पड़ते थे मानों गन्धर्व हों, जो अपने रूप से ही शत्रुओं का मन मोह लेते थे ।

२३२. वह दरबारखास सम्पूर्ण पृथ्वीमंडल के ऊपर था ।

वे लोग संग्राम में गंधर्वों के समान रूप से ही पराया मन मोह लेते थे । अर्थात् उनके दर्शनमात्र से ही शत्रु उनके वशीभूत हो जाते थे, युद्ध की आवश्यकता ही न होती थी ।

२३१. सुहव्वा = सं० सुभव्य > प्रा० सुहव्व (पासद्द० ११५५) = सौभाग्ययुक्त । सुहव (पासद्द० ११६५) > अव० सुहव्व । पर = पराया, दूसरे का, शत्रु का ।

२३२. षास दरबार = दरबारखास । बादशाह का वह दरबार जिसमें वे कुछ चुने हुए व्यक्तियों के साथ भेंट करते थे । इसकी शोभा दरबार आम से भी अधिक होती थी जैसी दिल्ली के लाल किले में शाहजहाँ के दरबार खास की है । इसे संस्कृत में आभ्यान्तर आस्थान मंडप या भुक्त्वास्थान मंडप भी कहा जाता था ।

सएल—सकल > प्रा० सयल (पासद्द० ११०१) > अव० सएल

उत्थि आपन वेवहार रांक ले राअहु चप्परि ॥२३३॥
उत्थि सत्तु उत्थि मित्त उत्थि सिर नवइ सव्व कइ ॥२३४॥
उत्थि साति परसाद उत्थि भए जाए भव्व कइ ॥२३५॥

---

२३३ [अ] रंक । राहु ।
२३४ [अ] उत्थि (तीनों स्थानों पर) । लवइ । कर ।
२३५ [अ] सौह सर (भव्वकइ के स्थान पर) । [ख] भेजा सौहदर ।

---

२३३. वहाँ गरीब भी अपनी फरियाद ले जाकर राजा पर हावी हो जाता था ।

२३४. वहाँ शत्रु हो चाहे मित्र, सभी के सिर राजा के सामने झुकते थे ।

२३५. वहाँ सुख और सर्वत्र प्रसन्नता थी । वहाँ जाने से सब सांसारिक भय दूर हो जाता था ।

---

२३३. चप्परि = आक्रमण करना, हावी होना, विजयी होना । (देखिए कीर्ति० २।१०) ।

वेवहार = विवाद, मामला, मुकद्मा, झगड़ा, राजदरबार में न्याय के लिये फरियाद । सं० व्यवहार > प्रा० ववहार (पासद्द० ९३४) ।

रांक = रंक, गरीब, दीन ।

२३४. नवइ = सं० नम > प्रा० णम (पासद्द० ४७२; = नमन करना, प्रणाम करना, झुकना ।) > प्रा० णव (हे० ४।१५८; पासद्द० ४७४) > अव० नव, नवइ ।

२३५. साति = सुख । सं० सात > प्रा० सात = सुख (पासद्द० १११३) ।

परसाद—सं० प्रसाद > प्रा० पसाय = (१) प्रसन्नता, (२) कृपा

निअ भाग अभाग विभाग बल ओ ठामहि जानिअ सव्व गए॥२३६॥
एहु पातिसाह सब लोअ उप्परि तसु उप्परि करतार पए॥२३७॥

२३६ [अ] वोठमा जानिअँ सव्वे गए। [ख] आणिअ भाग अभाग विभागण लउठ वाजाचिअ सव्वं।

२३७ [अ] सब उप्परहि (सब लोअ उप्परि)। तसु उप्पर करताल। वए। [ख] ओह पाति साहि सब उप्परिह ओहि उपर करतार पै।

---

२३६. वहाँ जाकर सब कोई अपने भाग्य-अभाग्य के तारतम्य की बाँट जान पाता था।

२३७. वहाँ बादशाह ही सब लोगों के ऊपर था, उससे ऊपर केवल ईश्वर ही सबके स्वामी थे।

(पासद्द० ७१४) > अव० परसाद।

भव्व = संसार। सं० भव। सं० भव्य के प्राकृत में भव्व और भव दोनों रूप होते हैं (पासद्द० ८०१)। उसी के अनुसार सं० भव का ही भव्व रूप लिखा गया है।

भए—सं० भय > प्रा० भय > अव० भए।

२३६. विभाग = अंश बाँट।

२३७. करतार = ईश्वर।

पए = सं० पति > प्रा० पइ = मालिक, रक्षक। अथवा प्रा० पइ > पद्दि (प्रा०) < सं० प्रति = विशेष, प्रशस्त (पासद्द० ६३३)।

अहो अहो आश्चर्य। ताहि दारषोलहि करो दवाल दरवाल औ.॥२३८॥

२३८ [अ] दारबोलहि। दारवालऔ।
[क] दोखालन्हि। दरवालओ।

अर्थ—२३८. अहो, अहो, आश्चर्य। वहाँ द्वार प्रकोष्ठ में (दारखोलहि) चमचमाती तलवारें लिये हुये द्वारपाल नियुक्त थे।

२३८. दारषोलहि—इस शब्द का श्री बाबूराम सक्सेना ने मूल में पाठ 'दोषालन्हि' रक्खा है, किन्तु [ख] प्रति में दारखोलहि है जो श्रेष्ठ पाठ के रूप में यहाँ स्वीकार किया गया है। नीचे एम पेन्विअ दूरदारखोल शब्द पुनः आया है। इससे यह सूचित होता है कि ओ मात्रा द पर न होकर ख पर ही थी। षोल का अर्थ था—खोली या कमरा। पासद० कोश में निशीथ चूर्णिका के आधार पर दे० खोल्ल शब्द का कोटर या गह्वर के रूप में उल्लेख आया है। जायसी ने पद्मावत में खोली शब्द का इसी अर्थ में उल्लेख किया है (जायसी पद्मावत ५५४।६)। मराठी में खोली शब्द कमरे के अर्थ में प्रचलित है (कुलकर्णी, मराठी व्युत्पत्ति कोश, पृ० २१५, घर का एक भाग अपवरक, ओरी)। इससे यह सूचित होता है कि दोषाल निश्चित रूप से अपपाठ है। दोखाल और ख प्रति के दारखोल में अर्थ-संगति की दृष्टि से दारषोल पाठ समीचीन है। दारषोल का अर्थ हुआ = द्वार की खोली अथवा कोठा अर्थात् द्वार प्रकोष्ठ। इसे ही अलिन्द भी कहा जाता था। द्वार प्रकोष्ठ से निकला हुआ हिन्दी का बरौठा शब्द है। उसका भी अर्थ अलिन्द या राजभवन आदि बड़े महलों के द्वार भाग में बने हुए कमरे हैं। इस द्वारषोल शब्दसे मुख सुख या उच्चारण-लाघव में दरषोल हो जाना संभव है। फारसी में द्वार के अर्थ में दर शब्द प्रयुक्त भी होता है।

ओ भेओन दरबार मेआणे दर सदर दारिगह वारिगह निमाजगह षोआरगह षोरमगह ॥२३६॥

२३९ [अ] अल दरमियान दरस्याल दरखास दर दारिगह । खोआर गह खोरमगह ।

[ख] दारखोलहि करो दरबार दरम आण दरखास दर दारिग्गह । श्यामाजगह ।

२३९-२४१. और भी ऐसा था कि भीतर दरबार में सदर दरवाजे से चलकर शाही महल के सामने का लम्बा-चौड़ा मैदान,

दवाल = चमकती हुई तलवार। फा० दुआल = चमचमाती शमशीर या तलवार (स्टाफा० ५३९) ।

दरवाल = दरबान । सं० द्वारपाल > प्रा० दारपाल = दौवारिक, द्वाररक्षक, दरवान । उपदेश पद गाथा की टीका में दार वाल शब्द आया है (पालइ० ५६५) > अव० दरवाल । इस वाक्य का अर्थ यह हुआ—वहां द्वारप्रकोष्ठ में चमचमाती तलवारें लिये हुये द्वारपाल नियुक्त थे ।

ओ = और । सं० अपि > प्रा० अवि, अव, औ, ओ ।

२३९. भेओन = और भी ऐसी बात है । ओ—सं० एवं । मेआणे = भीतर, फा० मीआन, म्यान = अन्दर (स्टाफा० १३५८) ।

दर सदर—राजकुल का मुख्य द्वार, राजद्वार । इसे ही क प्रति में दरखास कहा गया है । वस्तुतः राजकुल या शाहीमहल की रचना का जो विन्यास हिन्दू युग में पाया जाता था लगभग वही मुसलमानी काल में भी अक्षुण्ण बना रहा, केवल नामों में अन्तर आ गया । विद्यापति ने जैसे नगर के वर्णन में वैसे ही राजकुल वर्णन में भी संस्कृत परम्परा तथा फारसी परम्परा दोनों से प्राप्त शब्दावली की सूचियों का उल्लेख

कर दिया है। वस्तुतः उनके समय दोनों प्रकार के शब्द लोक की बोल-चाल में चालू ज्ञात होते हैं। बाण के हर्षचरित तथा अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि राजकुल के दो द्वार होते थे—एक बाहर का सबसे पहला द्वार जिसे राजद्वार या द्वार प्रकोष्ठ या अलिन्द कहते थे। उसे ही विद्यापति ने दारखोल या दरखोल कहा है। इसके भीतर प्रथम कक्ष का लम्बा चौड़ा मैदान होता था और उसके बाद आस्थान मंडप या दरबार आम। फिर राजकुल के मुख्य भाग धवल गृह का द्वार होता था। उसे ही बाण ने गृहावग्रह देहली लिखा है अर्थात् धवल गृह का वह देहली द्वार जहाँ कड़ा पहरा लगता था और आने-जाने वालों की विशेष पूछ ताछ की जाती थी। उसे ही यहाँ दरसदर या दरखास कहा गया है। राजस्थान में उसके लिये खासाड्योढ़ी शब्द प्रच-लित है।

दारिगह—ख प्रति में इसका पाठ दारिग्गह भी है।

फा० दरगाह—यह किले के भीतर शाहीमहल के सामने का लम्बा चौड़ा मैदान होता था (स्टाफा० ५१२)। राजकुल या शाहीमहल के प्रसंग में दो भारी मैदान होते थे—एक किले के सामने बहुत बड़ा भारी खुला हुआ मैदान जिसे बाणभट्ट ने अजिर और विपणि-वर्त्म कहा है (देखिये, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०३, चित्रफलक २५)। इसे ही मुसलमानी काल में उर्दू बाजार कहने लगे। उर्दू का अर्थ सैनिक छावनी था जिसे संस्कृत में स्कंधावार कहते थे। दिल्ली के लाल किले के सामने जो लम्बा चौड़ा मैदान है उसे अभी तक उर्दू बाजार कहते हैं। यह पहला मैदान राजकुल के बाहर था। राजद्वार के अन्दर प्रविष्ट होने पर महल का निर्माण चौक के हिसाब से किया जाता था। शाही महल तीन पाँच या सात चौक के बनाए जाते थे। इनमें से पहला चौक पर्याप्त लम्बा चौड़ा और खुला हुआ होता था। इसे ही फारसी में दरगाह तथा संस्कृत में प्रथम कक्षा कहते

थे। अंग्रेजी महलों में इसे ही फोर-कोर्ट (Forecourt) कहा जाता था। इसी कक्ष या चौक में राजा के ख़ासा घोड़ों और खासा हाथी के लिये एवं चुने हुए रक्षकों के लिये भी स्थान बनाये जाते थे। फारसी दरगाह शब्द से ही उसका अर्थ भी प्रकट है अर्थात् दर या राजद्वार के भीतर का स्थान (गाह = स्थान)।

वारिगह—यह शब्द फारसी बारगाह का भारतीय रूप है। इसका अभिप्राय दरबारे आम से था (स्टाफा० १४२)। इसे ही संस्कृत में सभा, आस्थानमंडप, बाह्य आस्थानमंडप, आस्थानशाला, आस्थान, आस्थानी, आस्थायिका और अपभ्रंश में सव्वावसर (सं० सर्वावसरक) इत्यादि नामों से भिन्न भिन्न युगों में कहा जाता था (अंग्रेजी हाल ऑफ ऑडिएन्स Hall of audience)। ठक्कुर फेरू (अलाउद्दीन खिलजी की टकसाल के अध्यक्ष, १३२७ ई०) ने अपने गणितसार ग्रंथ के वस्त्राधिकार में और ज्योतिरीश्वर ठक्कुर (१३२४ ईस्वी) ने अपने वर्णरत्नाकर में वारिगह का उल्लेख किया है। गुजराती कान्हडदेह प्रबंध में इसका रूप वारगह आया है (कान्तिराम बलदेवराम व्यास सम्पादित, कान्हडदेप्रबंध १।७९,२।१०५)। आईन अकबरी के अनुसार बारगाह एक तम्बू का नाम भी होता था जो राज-दरबार के काम में आता था। बड़े बारगह में दस हजार आदमी तक बैठ सकते थे और उसे एक हज़ार फर्राश एक हफ्ते में खड़ा कर पाते थे (आईन-ए-अकबरी, ब्लौखमैन का अनुवाद, पृ० ५५)। जायसी ने भी वारिगह शब्द का प्रयोग किया है (चितउर सोह वारिगह तानी, ४९५।५)।

निमाजगह—फा० निमाज़गाह = निमाज पढ़ने का स्थान, महल के भीतर की मसजिद जैसी दिल्ली के शाही महलों के साथ किले के भीतर बनी हुई है। इसे ही हर्षचरित में राजकुल के वर्णन में देव-गृह कहा गया है (हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०७)।

षोआरगाह—फा० ख़्वारगाह—आहार मंडप। फा० ख़्वारदन = खाना पीना। उससे बना हुआ संज्ञा शब्द जो केवल समास में प्रयुक्त होता है जैसे यहाँ खोआर गाह शब्द (स्टाफा० ४७९)।

षोरमगह फा० ख़ुर्रमगाह। यह वही है जिसे राजस्थानी महलों में सुख मंदिर कहा जाता है। बादशाह का निजी कमरा जहाँ वे महल में सोते थे, ख़ुर्रमगाह कहलाता था। (ख़ुर्रम = आनन्दपूर्ण + गाह = स्थान स्टाफा० ४५६)। इब्नबतूता के अनुसार मलिक काफूर अपने हजार सितून नामक महल की ऊपरी मंजिल में बने हुये ख़ुर्रमगाह में शयन करता था। इतिहासकार बरनी ने भी काफूर के इस ख़ुर्रमगाह का उल्लेख किया है (होडीवाला, स्टडीज़ इन इन्डो-मुसलिम हिस्ट्री, १९६९, बम्बई, पृ० २०७)। हिन्दू महलों की परम्परा में इसे ही ओवरी, सुखशाला या सुखवासी कहा जाता था। यहाँ राजारानी पति-पत्नी रूप में रहते थे। इब्नबतूता ने इस कमरे के विशेष पर्दों का उल्लेख किया है। जायसी ने भी सिंहल गढ़ में रत्नसेन-पद्मावती के महल में ओवरी में टाँगे हुये नेत के ओहार या रेशमी पर्दों का वर्णन किया है (ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा, अगर पोत सुख नेत ओहारा, ३३६।५)। बाण ने जिसे वासगृह लिखा है वही देशी भाषा में सोवण (८।५८; पासद० ११७७), सोवणगार (= सोवनार), सं० शयनागार कहा जाता था। वर्णरत्नाकर में ज्योतिरीश्वर ने खोरमयुर का वर्णन किया है (पृ० २३)। यह वह ख़ेमा था जो यात्रा में शाही शयनागार या सुखवासी का काम देता था। शाही शामियाने महलों के विशेष भाग के अनुरूप बनाये जाते थे और वैसे ही उनके नाम रक्खे जाते थे। इसीलिये वारिगह, खोरमगाह ये ख़ेमों के नाम भी थे। इसी कारण षोरमगाह को इब्नबतूता ने शाह के शयन का ख़ेमा भी कहा है। स्टाइनगास ने भी षोरमगाह को एक प्रकार का शामियाना लिखा है (स्टाफा० ४५६)।

करेश्रो चित्त चमत्कार देषन्ते सब बोल भल ॥२४०॥
जानि अद्य पर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य कुल ॥२४१॥
ताहि प्रासादन्हि करो वज्रमणि घटित काञ्चन कलश छाज ॥२४२॥

---

२४० [अ] करेवो । देषंते । सबे । [ख] करो । विचित्र (चित्र की जगह) ।

२४१ [अ] जनि । इथिहि ।

[ख] जनु । एथिहि । कर्म ।

२४२ [अ] प्रसादहि । खचित । कलस ।

[ख] ताहि प्रासाद करो मनि घटित कंगूरा ।

दारिगह (दरगाह), बारगाह (वारिगह, दरबारे आम) निमाज़-गाह, ख़्वारगाह (आहार मण्डप, दावत की जगह), खुरमगाह (शाह का निजी महल, सुखमंदिर) आदि स्थानों के अनेक चमत्कारों के देखने वाले सब उनकी ऐसी बड़ाई कर रहे थे मानों आज तक विश्वकर्मा यही कार्य करते रहे हों ।

२४२-२४३. उन महलों के ऊपर हीरों से जटित कंचन-कलश

---

२४०. चित्त = सं० चित्र > प्रा० चित्त > अप० चित्त = विविध, नाना प्रकार के (पासद्द० ४०८) । अनेक प्रकार के चमत्कार देखने वाले कहते थे कि मानो अब तक विश्वकर्मा यही कार्य करते रहे ।

२४२. वज्रमणि = हीरा ।

घटित—सं० √ घटय् > प्रा० घड = मिलाना, जोड़ना संयुक्त करना (हे० ४।५०) । घटित का अर्थ यहाँ जटित या जड़ाऊ है । महल के कांचन कलश पर हीरे का जड़ाव था, यही कवि का अभिप्राय है ।

जन्हि करो माथे सूर्य्य रथ वहल पर्यटन्त सात घोला करो अट्ठाइसओ टाप वाज ॥२४३॥
प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्तिम नदी, कीड़ाशैल, धारागृह यंत्रव्यजन, शृंगार संकेत माधवी मंडप ॥२४४॥

२४३ [अ] जाहि करु । वहल पर्यटन्त । घोला क ।
[ख] जे करे माथे सूर्य प्रर्जटन कर रथ वल व्यासक्त ।
२४४ [अ] प्रमदवन । कृमिम ।
[अ] प्रमोदवन । श्रिंगार संकेत ।

सुशोभित थे, जिनके मस्तक सूर्य के रथ को खींच कर ले जाने वाले सात घोड़ों के अट्ठाइसों टापों से टकराते थे।

२४४-२४७. प्रमदवन, पुष्पवाटिका, कृत्रिम नदी, क्रीड़ा शैल,

छाज = सुशोभित होना। सं० राज > प्रा० छज्ज = शोभना, चमकना (हे० ४।१००, पासद्द० ४१८)।

२४३. वहल—सं० वह > प्रा० वह = ले जाना, ढोना, खींचना (पासद्द० ९३७)।

घोला—विद्यापति ने कीर्तिलता में घोर, घोल दोनों शब्द प्रयुक्त किये हैं।

टाप—घोड़े का पैर। सं० स्थाप्य > प्रा० ठप्प (स्थापनीय, स्थापना के योग्य, पासद्द० ४६०)। बहुत सम्भव है कि इसी से अवहट्ट में टाप शब्द प्रचलित हुआ। वाज = टकराता था। जायसी में भी यह कल्पना आई है (नित गढ़ बाँचि चले ससि सूरू, नाहि त बाजि होइ रथ चूरू, पदमावत ४२।२)।

२४४. प्रमदवन—राजकुल के भीतर बना हुआ उद्यान जिसे बाण ने 'भवनोद्यान' कहा है। राजभवन में उद्यान का बहुत महत्त्व होता

था। इसे ही मुसलिम और राजस्थानी महलों में नजरबाग कहा जाता था। यहाँ इस वाक्य में विद्यापति ने पन्द्रह शब्द दिए हैं जो राजकुल के विशेष भाग या वस्तुओं के वाचक हैं। ये सब संस्कृत परम्परा से आये हुए हैं। प्रत्येक शब्द दो पदों से बना है।

पुष्प वाटिका—यह राजकुल के भवनोद्यान का वह विशेष भाग होता था जहाँ कमल आदि पुष्प लगाए जाते थे। प्रमद वन का यह मध्यवर्ती भाग होता था। सरोवर और देवगृह के आस-पास पुष्पों की विशेष शोभा विरचित की जाती थी। जनक जी के राजभवन में पुष्प वाटिका का विशेष उल्लेख और वर्णन है।

कृत्तिम नदी—यह वही है जिसे बाण ने क्रीड़ा नदिका लिखा है (कादम्बरी, वैद्यसंस्करण, पृ० १८८)। महल के अनेक भागों में इसकी धारा प्रवाहित होने के कारण इसे ही दीर्घिका भी कहा जाता था, जो शब्द संस्कृत साहित्य में राजकुल के वर्णन में प्रायः आता है। कालिदास ने रघुवंश में (१६।१३) दीर्घिकाओं का वर्णन किया है। इसे ही मध्यकाल के शाही महलों में नहर बिहिश्त कहा जाने लगा। ईरानी महलों में भी इस प्रकार की बहते पानी की एक लम्बी नहर बनायी जाती थी देहली के लाल किले के मुगलकालीन महलों की नहर बिहिस्त प्रसिद्ध है। ट्यूडर राजा हेनरी अष्टम के हेम्पटन कोर्ट राजप्रासाद में इसे लौंगवाटर (Long Water) कहा गया है। वह दीर्घिका के अति निकट है (हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०६)।

क्रीड़ा शल—इसे हर्षचरित में क्रीडा पर्वत एवं कादम्बरी में दारु-पर्वतक कहा है। इसकी स्थिति गृहोद्यान के अन्तर्गत सरोवर के समीप होती थी। कृत्रिम नदी या क्रीड़ा नदी का क्रीड़ा पर्वत से सम्बन्ध विरचित करके भवनोद्यान को विशिष्ट आमोद-प्रमोद का स्थान बनाया जाता था। बाण ने कादम्बरी में भवनों के भीतर क्रीड़ा पर्वत का उल्लेख

करते हुए कहा है कि उसके शिखर पर पालतू जीवंजीव पक्षियों के जोड़े स्वच्छन्द क्रीड़ा के लिए छोड़ देते दे।

धारा गृह—इसे यन्त्र धारागृह भी कहा जाता था। राजभवन के ऊँचे भाग में बनी हुई बड़ी द्रोणी या हौज में रहट से जल चढ़ाकर उसे धारागृह या फव्वारे में छोड़ते थे। कालिदास ने रघुवंश में यन्त्र धारा-गृहों का उल्लेख किया है (१६।४९)। कादम्बरी में बाण ने इसे और स्पष्ट किया है 'यन्त्रविशेषविशीर्यमाणपाण्डुरधारासहस्राणि गृहाणि मुक्तानि'। यहाँ यन्त्र विशेष का उल्लेख सूचित करता है कि धारागृहों में नाना युक्तियों से जलधारा को फव्वारे के रूप में परिणत करके चारों ओर धुआँ सा फैलाने का यत्न करते थे। मयूर, कलहंस आदि की सुन्दर आकृतियों से भी धारागृहों को सजाया जाता था (कादम्बरी, एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १९७)। मध्यकाल के राजकीय उद्यानों में सावन-भादों नामक विशेष स्थान बनाए जाते थे जिनमें धारागृह या फव्वारे का भी प्रबन्ध किया जाता था। हेमचन्द्र ने प्राकृत द्व्याश्रय काव्य या कुमारपालचरित काव्य के चतुर्थ सर्ग में ग्रीष्म ऋतु का वर्णन करते हुए राजकीय उद्यान के धारागृह का विशिष्ट वर्णन किया है। उसमें बने हुए जल यन्त्र के पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम भागों से जल का फव्वारा छूटता था और मकर मुखों से एवं पाषाण की पुतलियों के शरीर में बने हुए कर्ण, मुख आदि छिद्रों से निकलता हुआ जल फव्वारे के रूप में वायु में छा जाता था। यह भी उल्लेख है कि शालभञ्जिका नामक स्त्री मूर्तियों के हाथों में उत्कीर्ण घड़ों से बहता हुआ जल क्रीड़ा पर्वत के वृक्षों को सींचता था। दीर्घिका या कृत्रिम नदी एवं धारागृह को सलिल क्रीड़ा या जलकेलि का विशेष साधन बनाया जाता था (कुमारपाल चरित, ४।२५।७७)।

यन्त्र व्यजन—यन्त्र सञ्चालित व्यजन या पंखा। यहाँ यन्त्र से तात्पर्य उस प्रकार की युक्ति से है जिसमें मानव की सहायता के बिना

विश्रामचौरा, चित्रशाली, खट्वाहिंडोल, कुसुमशय्या, प्रदीपमाणिक्य, चन्दकांत शिला ॥२४५॥

२४५ [अ] विश्राम योग [ख] निद्रा (खट्वा के स्थान पर)। सज्जा।

धारागृह, यन्त्र व्यजन, शृंगार गृह, माधवीमण्डप, विश्रामचत्वर,

कार्य किया जा सके, जैसे ऊपर से पानी की बँधी हुई धारा बहाकर किसी पुतली के हाथ में दिया हुआ पंखा घुमाया जा सकता था। बाण ने कादम्बरी के भवनोद्यान में यन्त्र चक्रवाकों का उल्लेख किया है (कादम्बरी वैद्य संस्करण, पृ० २८८)। ये इस प्रकार बनाए जाते थे कि बहते हुए पानी के वेग से कभी पास आ जाते थे और कभी एक दूसरे से पृथक् हो जाते थे। भोजकृत समरांगणसूत्रधार में यन्त्र विधान नाम का एक पूरा अध्याय ही है। उसके अन्तर्गत धारागृह, प्रवर्षणगृह, प्रणालगृह आदि के निर्माण का उल्लेख है (समराङ्गणसूत्रधार ३१।१०९-११७)।

शृंगार संकेत—वर्णरत्नाकर में इसे ही संकेत गृह कहा गया है (पृ० २९)। संकेत का अर्थ है पति पत्नी भाव से मिलन। रघुवंश ४।७८ में भी संकेत का यही अर्थ है (उत्सव अर्थात् वार्षिक मेलेमें एकत्र हुये नवयुवक और नवयुवतिओं में संकेत द्वारा विवाह की जिन जातियों में प्रथा थी, वे उत्सवसंकेत कहलाते थे।

माधवी मण्डप—राजकीय उद्यान में माधवी लताओं को वृक्षों पर चढ़ाकर जो विशेष मण्डप बनाया जाता था। वर्णरत्नाकर में भी माधवी लता मण्डप का उल्लेख आया है (पृ० ३८)। उसी प्रकार के किसी प्राचीन वर्णक से विद्यापतिने यह सूची ली है। कादम्बरी के भवन के वर्णन प्रसंग में बाण ने दीर्घिका, मणिप्रदीप, कदलीगृह; धारागृह, कामदेव गृह, क्रीड़ा पर्वत आदि का उल्लेख किया है।

२४५. विश्राम चौरा—विश्राम के लिए बनाया हुआ चबूतरा या चत्वर। बाण ने कादम्बरी के प्रासाद के पहले तल्ले में कंचन सौध वेदिका का उल्लेख किया है जहाँ राजकुमारी अपनी सखियों, धर्म परिव्राजाओं एवं कलावंतों के साथ मनोविनोद या विश्राम के लिए बैठती थी (कादम्बरी वैद्य संकरण, पृ० २०८, २०९)। राजकुल में धवलगृह का निचला भाग चतुःशाल कहलाता था। उसी चतुःशाल (हि० चौसल्ला) के बीच का खुला हुआ भाग अंगण या आँगन कहा जाता था। उसी में उठने बैठने के लिए वितर्दिका या वेदी बनाई जाती थी। उसे ही कीर्तिलता की सूची में विश्राम चौरा कहा गया है (देखिए कादम्बरी-एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २०५)।

चित्रशाली—सं० चित्रशालिका या चित्रशाला। जैसा नाम से ही प्रकट है इसमें विशेष रूप से चित्र लिखे जाते थे। धवलगृह के ऊपरी तल्ले में सामने की ओर बीच में प्रग्रीवक, एक ओर सौध और दूसरी ओर वास भवन या वासगृह होता था। वासगृह का ही एक भाग शयन गृह था। वासभवन में भित्ति-चित्र बनाए जाते थे। इसी से वह स्थान चित्रशालिका भी कहलाता था। उसी से निकला हुआ चितरसाली शब्द लोक भाषाओं में प्रचलित है (हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०८)। जायसी ने भी चित्रशाली का दो बार उल्लेख किया है। किन्तु दोनों ही बार वहाँ चित्तरसाली का संबंध फुलवारी या पुष्प वाटिका में बने हुए स्थान विशेष से है (जँह सोने कै चित्तरसारी, बैठि बरात जानु फुलवारी। २८२।२, मँदिल मँदिल फुलवारी बारी, बार-बार तहँ चित्तर सारी। ५५४।७)। विद्यापति ने यहाँ जिन पन्द्रह वस्तुओं का उल्लेख किया है वे सब प्रमदवन से ही संबंधित ज्ञात होती हैं। अतएव इस सूची की चित्रशाली भी वही होनी चाहिए जिसका जायसी में उल्लेख है। उसमानकृत चित्रावली से ज्ञात होता है कि राजप्रासाद से लगी हुई वाटिका में एक चित्रशाली या चित्तरसाली

होती थी जिसमें अतिथि ठहराए जाते थे (चित्रावलि की है चित्तसारी बारी माँहि विचित्र सँवारी ८।१।३)। जायसी के अनुसार जिस चित्र-सारी में रत्नसेन की बारात का पान फूल से स्वागत किया गया था वह राजमंदिर के भीतर वाटिका में बनी हुई चित्रशाला ही हो सकती थी, धवलगृह या रनिवास की चित्रशाला या चित्तरसारी नहीं।

खट्वाहिंडोल—वर्णरत्नाकर की सूची में इसे लता हिन्दोल कहा है। यह किसी वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ हिंडोला होता था जिसमें एक झूलती हुई शय्या बनाई जाती थी। गुजरात की संस्कृति में घरों में खट्वा हिंडोल की प्रथा आज भी जीवित है।

हिंडोल—पासद्द० कोश में हिंडोल, हिंदोल दोनों को प्राकृत शब्द माना है। हेमचन्द्र ने हिंदोलय का उल्लेख देशी नाममाला के अन्तर्गत किया है (दे० नाममाला ८।६९)। हिंडोल शब्द हिंड + डोल से बना है। सं० हिण्ड > प्रा० हिण्ड = घूमना, चलना, हिलना (पासद्द० ११९२)। वस्तुतः प्रारम्भ में घूमते हुए झूले के लिए जिसे रहट भी कहते हैं हिंडोल शब्द प्रयुक्त हुआ होगा। वही बाद में सब प्रकार के झूले के लिए प्रयुक्त होने लगा, जैसा खट्वा हिंडोल इस शब्द में है।

कुसुम शय्या = फूलों की सेज। इसे ही कादम्बरी में कुसुम शयन (पृ० २५३) या कुसुम पल्लव स्रस्तर (पृ० २५३) कहा गया है। इसकी रचना कई प्रकार के पुष्पों से की जाती थी, किन्तु कादम्बरी में कमल पुष्पों से बनी हुई विशेष शय्या का वर्णन आया है। उसमें सबसे पहले भूमि पर कमलनालों की तह बिछाई जाती थी। उसके ऊपर कमल के पल्लव फैलाए जाते थे और दोनों के ऊपर कमल पुष्पों का आस्तरण जैसा बनाया जाता था।

प्रदीपमाणिक्य—कादम्बरी भवन का वर्णन करते हुए मणि प्रदीपों का उल्लेख आया है (कादम्बरी पृ० १८४)। जायसी ने

चतुस्सम पल्वल करो परमार्थ पुच्छहि सिआन ॥२४६॥

२४६ [अ] चतुःसम । पल्वल । पुच्छिअ सिआन । [क] पल्लव । [ख] पल्वल करो पुरुषार्थ ।

चित्रसारी, खट्वाहिंडोल, कुसुमशय्या, माणिक्यदीप, चन्द्रकान्त

भी माणिक-दीपों का वर्णन किया है—कनक खम्भ लागे चहुँ पाँती, मानिक दिया बरहिं दिन राती (२८२।४) ॥

चन्द्रकांत शिला—गृहोद्यान में भाँति-भाँति की शिलायें यत्र तत्र बैठने या लेटने के लिए लगाई जाती थी। रघुवंश में कुश की जलक्रीड़ा के प्रसंग में दीर्घिका, धारागृह के अतिरिक्त विशेष प्रकार की शिलाओं का भी उल्लेख है (रघुवंश १६।४९)। कादम्बरी में क्रीड़ा पर्वत पर बने हुए मणिगृह के साथ शिलातल का उल्लेख है। वहीं मुक्ता शिला पट्ट (२०५) और मर कतशिलातल (पृ० २०१) का भी वर्णन है।

२४६. चतुस्सम पल्वल—श्री सक्सेना जी की प्रति में मूल में पल्लव पाठ है किन्तु अ, ख प्रति में पल्वल है, वही शुद्ध है। चतुस्सम एक प्रकार की सुगंधि होती थी जो चन्दन, अगुरु, कस्तूरी और केसर के सम भाग लेकर बनाई जाती थी। इसी लिये इसका यह नाम पड़ा। तुलसी ने चतुस्सम सुगंधि का उल्लेख मानस में किया है (बीथी सींची चतुरसम चौके चारु पुराइ। बालकाण्ड २९६।१०)। जायसी में भी तीन बार यह शब्द आया है—कइ स्नान चतुरसम सारहु (पद्मावत२७६।४); चन्दन चौंप पवन अस पीउ, मएउ चतुरसम कस मा जीऊ (३२३।७); चन्दन अगर चतुरसम भरीं, नए चार जानहुँ अवतरीं (३३२।३)। जायसी से दो शती पूर्व के वर्ण-रत्नाकर में चतुस्सम का उल्लेख है (चतुःसम लए हथ माण्डु, पृ० १३)। उससे लगभग दो शती पूर्व

हेमचन्द ने लिखा था—चन्दनागुरु, कस्तूरी, कुंकुमैस्तु चतुस्समं चन्दनादिनी समान्यत्र च चतुःसमं, अभिधान चिन्तामणि ३।३०३ उससे भी लगभग दो शतीपूर्व राजशेखर ने लिखा था—चतुःसमं यन्मृगनाभिगर्भं स वारिदर्तोः प्रथमातिथेयी (काव्य-मीमांसा, अध्याय १८, पृ० १००, बड़ौदा संस्करण)। अमरकोश में कपूर, अगर, कस्तूरी और कंकोल इन चारों से बनी हुई सुगन्धि को यक्षकर्दम कहा है (अमर० २।६।१३३; कक्कोल = शीतल चीनी)। ज्ञात होता है कि यक्षकर्दम सुगन्धि का ही कालान्तर में चतुस्सम सुगन्धि नाम पड़ा। रामाश्रमी टीका में उद्धृत धन्वन्तरि के प्रमाण के अनुसार केसर, अगर, कस्तूरी, कपूर और चन्दन इन पाँचों में बनी हुई सुगन्धि यक्षकर्दम कहलाती थी।

कीर्तिलता के चतुस्सम पल्वल का आशय छोटी वापियों से है। दीर्घिका या महलों की लम्बी नहर को कहीं कहीं कुछ चौड़ा करके छोटी छोटी वापी या द्रोणियों का रूप दिया जाता था और उनमें विशेष अवसरों पर सुगन्धित जल भरा जाता था। दिल्ली के लाल किले की नहर बिहिश्त में इस प्रकार की वापियाँ या छोटी हौजें कई स्थानों पर बनी हैं। बाणसे ज्ञात होता है कि हलकारी के सोने सेअलंकृत दीर्घिकाओं में सुगंधित जल प्रवाहित किया जाता था (सागरिके गंधोदक जनक दीर्घिकासु विकिररत्नवालुकाम्, कादम्बरी पृ० १४४)। दीर्घिका में बनी हुई वापियों में कहीं पालतू हंस, कहीं सारस, कहीं चक्रवाक रक्खे जाते थे, किन्हीं में कनककमल के साथ रत्नबालुका की शोभा की जाती थी। इस प्रकार राजभवनों में चतुस्सम पल्वल या गन्धोदक वापियाँ बनाने की प्रथा थी।

परमार्थ—सच्चा हाल।

सिआन—सयान = चतुर। सं० सज्ञान > सयाण > सआण > सिआन।

एवाप अभ्यन्तर करी वार्ता के जान ॥२४७॥
एम पेष्खिअ दूर दारषोल महुत्त विस्समिअ सिट्ठ पदिक परिअण
पमानिअ ॥२४८॥

---

२४७ [अ] आभ्यन्तर ।

[ख] ०—हसि पुछि आण एवाप अभ्यन्तरी करी वार्ता कवण जाण ।

२४८ [अ] पेष्खिअ । दाखोल खल । मुहुत्त । विस्सम्मिअ । सिद्ग-पदिक । परिचअ पमानिअ । [ख] विस्सिमिअँ परिअण पमानिअ । [क] और [शा] सिट्ठपदिक परिट्ठए अपमानिअ ।

शिला, और चतुस्सम सुगंधि से भरी हुई वापियों का सच्चा हाल जानने के विषय में चतुर लोग प्रश्न पूछते थे ।

२४८. महल के भीतर की बात कौन जान सकता है ?

---

२४७. एवाप—यों ।

२४८. दारषोल—बाबूराम जी की प्रति में दाखोल छपा है किन्तु यह शब्द पहले आ चुका है (कीर्तिलता २।२४।२२८) जहाँ इसका शुद्ध पाठ दारषोल था जिसका अर्थ है द्वार—प्रकोष्ठ । कवि का तात्पर्य है कि इस प्रकार राजद्वार के भीतर दूर तक या अच्छी तरह देखकर मुहूर्त भर वहाँ विश्राम करके तब महल का भीतरी मर्म जाना जाता था । दूर शब्द का मध्यकाल में एक अर्थ अतिशय, अत्यन्त या अच्छी तरह भी था, वही यहाँ संगत होता है । दूर = अतिशय, अत्यंत (पासद्द०५८७) ।

गुणे अनुरञ्जिअ लोअ सव्व महल को मम्म जानिअ ॥२४६॥

---

२४९ [अ] लोक सत्व । कोटिग जानिअ । [ख] रहस [मम्म]।

---

२४९. इस प्रकार राजद्वार दूर से ही दिखाई पड़ता था। वहाँ मुहूर्त भर विश्राम करके महल के प्रतीहार (सिट्ठ) और पहरे पर नियुक्त पदातियों को विशेष रीति से सम्मान देकर और अपने को प्रामाणिक जताकर और गुणों से प्रसन्न करके महल का भीतरी मर्म या हाल-चाल जानने का सब लोग प्रयत्न करते थे।

सिट्ठ = उत्तम। सं० श्रेष्ठ>प्रा० सिट्ठ (पासद्द०११३९)।

पदिक = पदाति, पैदल।

परिट्ठइअ = परिठव। सं० प्रतिष्ठापय्>प्रा० पइट्ठाव>अव० परिठव = प्रतिष्ठा करना। इसका पाठान्तर ख प्रति में परिअण भी है। परिअण = परिजन, नौकर चाकर। पदिक और परिजन दोनों ही द्वारपर देखे जाते थे। पदिक से तात्पर्य पहरे पर नियुक्त पैदल सेना के सिपाहियों से था और परिजन शाही महल में नियुक्त प्रतिहार आदि नौकर चाकर थे।

पमानिअ....अपने आपको प्रामाणिक जता कर। सं० प्रमाण्य> प्रा० पमाण (पासद्द०६६४)।

२४९. गुणे अनुरंजिय = गुणों से प्रसन्न करके। तात्पर्य यह कि द्वार पर आए हुए लोग महल के बाह्य प्रतिहार और राज भवन के प्रतिहार और पहरे पर नियुक्त उत्तम पदातिक सैनिकों को विशेष सम्मान देकर और अपने गुणों से प्रसन्न करके महल का भीतरी हाल-चाल जानने का प्रयत्न करते थे।

२।३७ [दोहा]

सगुण सआणा पुच्छिअउँ तं पल्लविअउँ आस ॥२५०॥
तो उअसंझहि मज्जु पुर विप्पघरहिं करु वास ॥२५१॥

---

२५० [अ] पुछिअउ । ते पल्लविअउ ।

[ख] पुच्छिअँ जे ।

२५१ [अ] असंझह । मज्जपुर । विप्पघरहि लिअ वास ।

[ख] तहहु असध्या मज्झपुर । लिहु (करु) ।

---

२५०. गुणवान् और चतुर लोगों से पूछने पर आशा पल्लवित हुई ।

२५१. फिर सायंकाल के समय दोनों कुमारों ने नगर के एक बाहरी भाग में ब्राह्मण के घर रात्रि व्यतीत की ।

---

२५१. उअसंझहि—सं० उपसंध्या > उपसंध्यम् = संध्या के निकट आने पर, सायं काल के समय । मज्जुपुर—ख प्रति का पाठ मज्झपुर है । मज्झपुर = पुर के मध्य में । सं० मध्य > मज्ज । श्री बाबूराम जी के संस्करण में मज्जुपुर पाठ है । वह क्लिष्ट पाठ है और हो सकता है वही कवि कृत मूल पाठ रहा हो । सं० मर्यादा > दे० मर्या > अप० मज्जा (पासद्द०८२६) । मज्जुपुर = पुर के मर्यादा भाग या उपांत भाग में । अर्थात् दोनों कुमारों ने नगर के एक बाहरी भाग में ब्राह्मण के घर में रात्रि व्यतीत की ।

२।३८

सीदत्प्रत्यर्थि कान्ता मुखमलिनरुचां वीक्षणैः पङ्कजानां ॥२५२॥
त्यागैर्बद्धाञ्जलीनां तरणिपरिचितैर्भक्तिसम्पादितानाम् ॥२५३॥

२५२ [अ] त्यागै रघंजलीनां ०। [ख] अर्थाञ्जलीनां।

(इस श्लोक में राजा कीर्तिसिंह की प्रशंसा की गई है।) वे असंध्या काल को अपने सद्गुणों और सत्कर्मों से संध्या में परिवर्तित करते हुए चिरकाल तक पृथ्वी की रक्षा करते रहें।

श्लोक के पहले तीन चरणों के दो दो अर्थ हैं। एक संध्या

२५२. सीदत्प्रत्यर्थिं कांता मुख मलिन रुचां—सीदत् प्रत्यर्थि = वे शत्रु जो युद्ध भूमि में हारने एवं राज्य के अपहरण से दुखी हैं। उनकी स्त्रियाँ अपने पतियों की ओर से अपराध क्षमादान की प्रार्थना के लिये कीर्तिसिंह की सभा में आती हैं और उनके म्लान मुख को राजा अपने आस्थान मंडप या सभा में बैठे हुए मध्याह्न काल में देखते हैं। वे मुख ऐसे हैं मानों सायंकाल के कांतिहीन कमल हों।

२५३. बद्धाञ्जलीनाम्—इसका एक अर्थ तो सायंकाल के समय हाथ जोड़ कर सूर्य को प्रणाम करने से है किन्तु दूसरा अर्थ संध्या वंदन के समय की जाने वाली दोनों हाथों को मिलाकर भाँति-भाँति से बनाई जाने वाली मुद्राओं से है। ये मुद्राएँ आठ होती हैं जैसे धेनु मुद्रा, ज्ञान मुद्रा, लिंग मुद्रा, योनि मुद्रा, वैराग्य मुद्रा इत्यादि। इन मुद्राओं की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ दोनों हाथों की अँगुली-अँगूठों के भाँति-भाँति के संयोग से बनाई जाती है। मध्याह्न कालकी संध्या के समय इन मुद्राओं के प्रदर्शन से सूर्य की पूजा की जाती है। बद्धाञ्जलि—अञ्जलि को विभिन्न मुद्राओं की आकृति में बाँधकर।

अन्यद्वाराकृतार्थद्विजनिकरकरस्थूलभिक्षाप्रदानैः ॥२५४॥

२५४ [अ] कर-स्थूल भिक्षा-प्रदानैः ।

काल में घटित होता है दूसरा असंध्या काल में। सायंकाल के समय सूर्यास्त के कारण कांति रहित कमलों को राजा देखते थे

त्याग—(१) दान (२) मोक्षण ।

भक्ति सम्पादित—भक्ति के दो अर्थ हैं = १ श्रद्धा (२) रचना विशेष या विशेष आकृति ।

तरणिपरिचित—(१) सूर्य के निमित्त अर्पित ।
(२) सूर्योपस्थान के लिये कल्पित ।

२५४. अन्यद्वाराकृतार्थ—इसके दो परिच्छेद हैं—

अन्य द्वारा अकृतार्थ (ब्राह्मण अर्थ में) ; अन्यद् वार अकृतार्थ—वार का तात्पर्य उस छोटे से बर्तन से है जिसमें पक्षियों को पानी चुग्गा खिलाया जाता था। (वार = चषक, पान पात्र, पासह० ९३४; वार = लघु कलश, पासह० ९४५) ।

द्विज = (१) पक्षी (२) ब्राह्मण ।

कर = (१) हाथ (२) भूमि कर या वह भूमि जो ब्राह्मणों को दान में दी जाती थी और जिस पर राजग्राह्य कर माफ कर दिया जाता था। ऐसी भूमि को दोहली, अग्रहार या ग्रास भी कहते थे।

स्थूल भिक्षाप्रदान—पक्षियों के अर्थ में स्थूल का अर्थ थूली से है। यह गेहूँ आदि के दानों को पानी में भिगोकर बनाई जाती है। कवि का तात्पर्य यह है कि राजा अपने हाथ से मोर-सुग्गे आदि पालतू पक्षियों को भिक्षा प्रदान करते थे अर्थात् दाना डालते थे। ब्राह्मणों के

कुर्वन् संध्यामसंध्यां चिरमवतु मही कीर्तिसिंहो नरेन्द्रः ॥२५५॥

इति श्रीमट्ठक्कुर श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां
द्वितीयः पल्लवः ॥

---

२५५ [क] कीर्ति० । [ख] किर्त्त ! महिन्द्रः । ख में इस पद्य का पाठ अत्यंत अशुद्ध है ।

किंतु दिन में ही दुःख पाते हुये शत्रुओं की पत्निओं के मलिन हुये कमल सदृश मुखों के दर्शन से वे मानों असंध्या में ही संध्या का अनुभव करते थे ।

संध्या के समय वे श्रद्धा-भक्ति पूर्वक सूर्य के लिए बद्धांजलि नमस्कार करते थे । वे ही असंध्या काल अर्थात् मध्याह्न के समय रचना विशेष रूप में सम्पादित अञ्जलि मुद्राएँ सूर्य के लिये अर्पित करते थे । सायंकाल के समय राजा अपने पालतू पक्षियों के समूह को अन्य प्रकार के भोजन पात्रों के अतिरिक्त स्वयं अपने हाथ से थूली का दाना खिलाते थे । वे ही असंध्या काल अर्थात् मध्याह्न में जिनकी कामनाओं की पूर्ति अन्यत्र नहीं हुई है, ऐसे ब्राह्मणों के समूह को लगान से मुक्त भूमि का पुष्कल दान देकर संतुष्ट करते थे । इस प्रकार राजा के जो चरित्र संध्या काल में हुआ करते थे वे ही श्लेष द्वारा दूसरे अर्थों की व्यंजना से संध्या से अतिरिक्त समय में भी कल्पित किये गये हैं ।

पक्ष में स्थूल भिक्षा का तात्पर्य पुष्कल या अधिक मात्रा में कर मुक्त भूमि प्रदान करने से है ।

●

[तृतीयः पल्लवः]

अथ भृङ्गी पुनः पृच्छति ।

३।१

कण्ण समाइअ अमिअ रस तुज्झु कहन्ते कन्त ॥ १ ॥
कहहु विअक्खण पुनु कहहु तो अग्गिम वित्तन्त ॥ २ ॥

पाठान्तर—

१ [अ] कन्न । अमिअ । तुरु (तुज्झ) । कन्न । [क] कण्ठ । वस (रसके स्थानपर) । [ख] कण्ण । रस ।

२ [अ] कहहि । विअख्खन । कहंहि । वितन्न । [क] कहहिं । कहहिं । किमि (तो) । अग्गे । [ख] कहहु । तो । अग्गिम ।

अर्थ—

१–२. भृंगीने फिर कहा—' हे नाथ, तुम्हारे इस प्रकार कहने से कान में मानों अमृतका रस प्रवेश करता है। हे चतुर स्वामी, उससे आगे का वृतान्त फिर कहो।

टिप्पणी—

१. समाइअ—सं० समाचित > प्रा० समाइअ ।

२. तो—सं० ततः > प्रा० अप० तओ > तो = उसके बाद । विअक्खण = दक्ष, विद्वान् । सं० विचक्षण > प्रा० अप० विअक्खण । वित्तन्त = समाचार, हाल । सं० वृतान्त > प्रा० अप० वित्तन्त ।

३।२ [रड्डा]

रअणि विरमिअ हुअउँ पच्छूस ॥ ३ ॥
तरणि तिमिर संहरिअ, हँसिअ अरविन्द कानन ॥ ४ ॥
निन्दे नअन परिहरिअ, उट्ठि राए पक्खर आनन ॥ ५ ॥

---

३ [अ] रयनि । हुअउ । पचूसर । [क] पच्छूस । रअणि ।
[ख] रइनि ! विरंवेउ । पव्वस ।

४ [अ] हसिअ । इंद अरविंद । [क] संहरिअ । हंसिअ अरविन्द ।
[ख] संहरेउ । हंसेउइन्द ।

५ [अ] निद्द नअण । राय । पक्खतु । आ(न) न । [ख] पक्खारु ।

---

३. रात बीत गई और सवेरा हुआ ।

४. सूर्य ने अन्धकार का नाश कर दिया और कमल बन खिल उठा ।

५. नेत्रों से निद्रा हट गई । राजा ने उठकर मुँह धोया ।

---

३. रअणि, रयनि (अ प्रति) । सं० रजनी > प्रा० रयणि > रअणि रयनि ।

पच्छूस—सं० प्रत्यूष > प्रा० पच्चूस, अप० पच्छूस । बीकानेर की प्रति में 'पचूसर' पाठ है, उसका अर्थ होगा पच्चूह अर्थात् सूर्य का सरण या आगमन । पच्यूह = सूर्य (देशीनाम० ६।५) ।

५. पक्खर—सं० प्रक्षाल > प्रा० पक्खाल । प्रक्षालित > प्रक्खालि अ > पक्खर (= धोया) ।

गइ उज्जीर अराहिअउँ जम्पिअ सकलओ कज्ज ॥ ६ ॥
जइ पहु वडओ पसन्न होअ तओ सिट्ठाअत रज्ज ॥ ७ ॥

३।२ [रड्डा]

तव्वे मन्तिन्ह कि अउ पथ्थाव ॥ ८ ॥

---

६ [अ] अराहिअउ। जपिअ। सकले तु। [क] गइ उज्जीर। जम्पिअ। सकलओ।

[ख] गै उजो पाराधि कै (संभवतः गै उजीर आराधि कै)। जंपेउ सयलउ काज।

७ [अ] जओ पहु वडो। हो तओ। सिट्टाअत। [क] जइ पहु पडओ। होअ तओ सिट्ठाअत। [ख] यै रअउ पभु पसन्न वड तइ वौसिटायत राज।

८ [अ] मन्त्रिन्हि। पत्थाव।

६–७. कीर्तिसिंह जाकर वजीर की सेवा में उपस्थित हुआ और अपना कार्य निवेदन किया—यदि महाप्रभु (बादशाह) प्रसन्न हों तभी राज्य बना रह सकता है।

८–१०. तब मन्त्रियों ने सलाह दी कि बादशाह से साक्षात्

---

६. अराहिअउँ—सं० आराधितवान्=सेवा की, अनुरूप या योग्य ढंग से भेंट की।

जंपिअ=कहा। सं० जल्पित>प्रा० जप्पिअ अप० जम्पिअ।

७. सिट्ठाअत—सं० सृष्ट>प्रा० अप० सिट्ठ=रचित, निर्मित, (पासह ११२१), युक्त, भूषित, प्रतिष्ठित। यदि आप कृपा करेंगे तभी राज्य सकुशल रहेगा।

तयों—सं० ततः>प्रा० तओ>अव० तयों=तभी।

८. पथ्थाव—सं० प्रस्ताव>प्रा० पत्थाव>अव० पत्थावं=सलाह परामर्श।

पातिसाह गोचरिअ, सुभ महुत्त सुष राओ भेट्टिअ ॥ ९ ॥
हअ अम्बर वर लहिअ, हिअ दुष्ख वैराग मेट्टिअ ॥ १० ॥
खोदालम्ब सुपसन्न हुअ पुच्छु कुसलमय वुत्त ॥ ११ ॥
पुनु पुनु पुनु पुनाम कए कित्तिसिंह कह वुत्त ॥ १२ ॥

---

९ [अ] मुहुत्त । सुख राय भेट्टिअ [क] भेट्टअ [ख] गोचरिआ । सुमहुत्त लेइ राय भेट्टिआ ।
१० [अ] हयअंबर । हिअअ । दुःख । वैराग ।
[ख] हय अम्बर वहिअ हिअव दुख वैराग मुकिअ ॥
११ [अ] षोदालम्ब । सुपस [न्न] । भए (हुअ) । पुछु । कुसलमअ ।
[ख] छः खोदालम्म । भै (हुअ के स्थान पर) । सौ (कुसलमय) ।
१२ [अ] केवल दो पुनु । पन्नाम । जो (कित्तिसिह जो वुत्त) ।
[ख] सलाम (पुन्नाम के स्थान पर) । कित्तिसिंघ बोलंत ।

मिलना चाहिए । अच्छे मुहूर्त में सुविधा पूर्वक राजा ने बादशाह से भेंट की और एक घोड़ा और उत्तम वस्त्र नजर में देकर अपने मन की उदासीनता मिटाई ।

११-१२. बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कुशल-क्षेम पूछी । बार-बार प्रणाम करके कीर्तिसिंह हाल कहने लगे ।

---

९. गोचरिअ = गोचर करना, साक्षात् भेंट करना ।
१०. वैराग = विषाद, उदासीनता ।
११. खोदालम्ब, खोदालम्म—फा० खुदा + अ० आलम (= संसार के अधिपति) ।
वत्त—सं० वार्त्त > वत्त (= आरोग्य, पासद्द० ९२४) ।
१२. वुत्त—सं० वृत्त > प्रा० वुत्त = हालचाल ।

३।४ [रड्डा]

अज्ज उच्छव अज्ज कल्लान ॥१३॥
अज्ज सुदिन सुमहुत्त, अज्ज माजे मझु पुत्त जाइअ ॥१४॥
अज्ज पुत्र पुरिसथ्थ पातिसाह पापोस पाइअ ॥१५॥
अकुशल वेविहि एक पइ अवर तुम्ह परताप ॥१६॥

---

१४ [अ] सुमुहुत्त । माए । महु । पुत्तजाइअ । [क] अज्ज माजे मझु पुत्त जाइअ । [ख] अज्ज मय मझु तनय जन्मिअ ।

१५ [अ] पुरिसत्थ । [क] पुल्ल ? ।

१६ [अ] एक्क पए । तुह्म । [ख] कज्ज पै एक तुज्झु परताप ।

---

१३. आज मेरे लिए उत्सव का समय है। आज सब प्रकार कल्याण है।

१४. आज अच्छा दिन और शुभ मुहूर्त है। आज मेरी माँ का मुझे पुत्र रूप में जन्म देना सफल हुआ।

१५. आज पुण्य के प्रताप से मुझे बादशाह के चरणों का सान्निध्य प्राप्त हुआ।

१६-१७. केवल दो ही बातें अकुशल (विपत्ति) की हैं।

---

१३. उच्छव—सं० उत्सव > प्रा० उच्छव।

१४. माजे—सं० माता > प्रा० माआ, माए > अव० माये।

१५. पापोस—फा० पायपोश (= पैरका आच्छादन, जूता, स्टाफा० २३४)।

१६. वेवि—सं० द्वे अपि। सं० द्वि > प्रा० वि।

पइ—सं० प्रति > प्रा० पडि, पइ = पीछे, प्रतिषेध, अतिशय,

अरु लोअन्तर सग्ग गउ गअणराए मझु बाप ॥१७॥

३।५

फरमान भेल-'कज्जोण चाहि', 'तिरहुति लेलि जन्हि साहि' ॥१८॥

---

१७ [अ] अनु लोअंतर। गरु (गउ) गयनराय मझ (मरु ?)।
[ख] पुरह गउ (सग्ग गउ के स्थान पर)।

एक तो आपके प्रताप के ऊपर दूसरे का प्रताप होना और दूसरे मेरे पिता गणेशराय का स्वर्गरूप लोकान्तर में जाना।

१८-१६. बादशाह का हुक्म हुआ—'क्या खबर है।' कीर्तिसिंह ने कहा—'हे जोन्हा शाह! तिरहुत पर कब्जा कर लिया

आधिक्य। आपके प्रताप के आगे दूसरे का अधिक हो जाना अथवा दूसरे के द्वारा आपके प्रताप का प्रतिषिद्ध हो जाना, या आपके प्रताप का ह्रास होना।

१७. सग्ग गउ = स्वर्गगत, मुक्ति प्राप्त ब्रह्मपद को प्राप्त। सं० स्वर्ग > प्रा० सग्ग। अथवा सं० सर्ग > प्रा० सग्ग (= मुक्ति, मोक्ष, ब्रह्म)।

गअण राए—सं० गणेश राज > (पुकारने में) गणकराय > अव० गअणराय > गअणराय, गएणराए।

१८. फरमान—फा० फरमान = हुक्म।

फरमान भेल = हुक्म हुआ, बादशाह ने फरमाया। राजकीय शिष्टाचारके अनुसार बादशाह का कथन फरमान कहलाता था। चाहि = चाह, खबर (हिं० श० सा०)। कहा मानसर चहा सो पाई, पद्मावत ६५,१ जन्हिसाहि = जोन्हाशाह जौनपुर के बादशाह।

'डरे कहिनी कहए आन, जेहां तोहे ताहां असलान' ॥१६॥

३।६ [रड्डा छंद]

पढम पेल्लिअ तुज्झु फरमान ॥२०॥

---

१९ [अ] कोन चाहि। तिरहुत्ति। [क] कओण चाहि तिरहुति।
[ख] फरमाण भेल कवण साहि तिराहूति लेल।

२० [अ] प्रति का पाठ यहाँ गाथाङ्क के उत्तरार्द्ध भागसे प्रायः लुप्त है, स्थान रिक्त छोड़कर हाशियेमें 'अत्र मूलं पतितं" लिखा हुआ है।
[ख] जेइ दरक''''''कहोअ आण। इहा तुह उहा असल्लाण।

गया। डर से मैं यह कह रहा हूँ क्योंकि कहने के लिए आपकी आज्ञा हुई है। यहाँ आप हैं वहाँ असलान का अधिकार हो गया है'।

२०-२१-२२. उस असलान ने पहले आप के हुक्म का

---

१९. आन—सं० आज्ञा > प्रा० आण > आन।

१८-१९. फरमान''''''असलान—इन दो पंक्तियों के कई वाक्यों को अलग-अलग करने में भूल हुई है। बादशाह ने केवल इतना ही कहा—'कओण चाहि' अर्थात् क्या खबर है। उसके उत्तर में कीर्त्तिसिंह ने इतना ही कहा—'तिरहुत ले लिया गया है,' और फिर डरते हुए क्षमा याचना के स्तर में पंक्ति १९ वाला अंश निवेदन किया।

२०. पढम—सं० प्रथम > प्रा० पढम (= पहले)।

पेल्लिय—सं० क्षिप् का धात्वादेश पेल्ल = फेंकना; अथवा सं० पीडयति का धात्वादेश पेल्ल = दबाना, हटाना, मेटना। यहाँ अर्थ है कि आपके हुक्म को तिरस्कृत कर दिया।

गएन राए तौ वधिअ, तौन सेर विहार चापिअ ॥२१॥
चलइ तें चामर परइ धरिअ छत्त तिरहुति उगाहिअ ॥२२॥
तव्वहुँ तोके रोष नहि रज्ज करओ असलान ॥२३॥
अवे करिअउ अहिमान कं अज्ज जलंजलि दान ॥२४॥

---

२१ [अ] प्रति में पूरे छंद का पाठ नहीं है।
[ख] बधिअ चलेण वीहार साहिआ।
२२ [ख] ढरइ (परइ)।
२३ [ख] तँअउ ताके तोस।
२४ [ख] ओकरि अटकी आण केउ अज्ज जलिजलिदान।

उल्लंघन किया। फिर गणेशराय का वध किया। फिर उसने स्वच्छंदता से बिहार पर कब्जा कर लिया। अब उसके चलने पर चँवर ढाले जाते हैं और छत्र धारण कर के तिरहुत से कर ग्रहण करता है।

२३-२४. तब भी आप को रोष नहीं है। असलान राज्य कर रहा है। मैं जानना चाहता हूँ (प्रार्थना करता हूँ) कि अब अभिमान किया जाय या उसे तिलांजलि दे दी जाय।

---

२१. तौ—सं० ततः > तउ > तौ (= उसके बाद)।

सेर—सं० स्वैर > प्रा० अप० सेर = स्वच्छंदता से, मनमाने ढंग से। इस का अर्थ श्री बाबूराम जी और शिवप्रसाद सिंह ने 'शेर' किया है जो यहाँ असंगत है।

२२. चामर—सं० पत > प्रा० अप० पड़; अथवा सं० भ्रम का धात्वादेश प्रा० अप० 'पर (= घूमना, डोलना, हे० ४, १६१)। अर्थात् जब वह चलता है तो उसके ऊपर चमर डोलता है।

३।७ [दोहा]

वे भूपाला मेइनी वेण्डा एक्का नारि ॥२५॥
सहहि न पारइ वेवि भर अवस करावए मारि ॥२६॥

३।८ [रड्डा]

भुवन जग्गइ तुम्ह परताप ॥२७॥

---

२५ [ख] भुआला। वेअन्ना आका (वेण्डा एक्का)।
२६ [ख] सहइ।
२७ [ख] जगेउ।

२५-२६. दो राजाओं के बीच में पृथिवी और दो पुरुषों के बीच में एक स्त्री यदि रहे तो वह दोनों का बोझ नहीं सह सकती। अवश्य दोनों में से एक का बध कराती है।

२७-२९. संसार में आप का प्रताप जग रहा है। आप

उगाहिय—सं० उद्ग्राह > प्रा० अप० उग्गाह (= कर वसूल करना, उगाहना)।

२४. अवे—सं० अव > प्रा० अप० अव (= जानने की इच्छा करना, सुनना, माँगना, याचना, पासद्द० २४)।

२५. वे—सं० द्वे > प्रा० वे।

मेइनी—सं० मेदिनी > प्रा० मेइनी।

वेण्डा = दो।

२६. पारइ—सं० शक् का प्राकृत धात्वादेश पार (= सकना, समर्थ होना, हेम० ४, ८६)।

मारि = मारण, मृत्यु।

तुम्हे खग्गे रिउँ दलिअ तुम्हे सेवइ सबे राए आवइ ॥२८॥
तुम्हे दाने महि भरिअउँ, तुम्हे कित्ति सबे लोए गावइ ॥२९॥
तुम्हे ण होसउँ असहना जइ सुनिअँउ रिउँ नाम ॥३०॥
इअर वपुरा की करओ वीरत्तण निअ ठाम ॥३१॥

---

२८ [ख] तुम्ह । खरिअउ । तुम्ह । सभ कोइ (सबे राए के स्थान पर) ।

२९ [ख] दान सुप्रसिद्ध । तुम्ह । कित्तिके स्थान पर गोय ।

३० [ख] अइलिउ नाउ (रिउँ नाम के स्थान पर) ।

३१ [ख] की कतर । हि ठामु ।

के खड्ग ने शत्रुओं का दलन किया है । सब राजा आपकी सेवा के लिए आते हैं । आप के दान से पृथिवी भर गई है । आपका यश सब लोग गाते हैं ।

३०-३१. यदि आप ही शत्रु का नाम सुन कर असहनशील नहीं होंगे तो दूसरा बेचारा अपने वीरत्व और बल को लेकर क्या करेगा ?

---

२७. जग्गइ—सं० जागृ > प्रा० अप० जग्ग = जागना, प्रज्वलित होना ।

३०. असहना = असहिष्णु, क्रुद्ध ।

३१. इअर—सं० इतर > प्रा० इअर = दूसरा ।

वीरत्तण—सं० वीरत्व ।

ठाम—सं० स्थाम = बल, पराक्रम ।

३।९ [रड्डा]

एम कोप्पिअ सुनिअ सुरुतान ॥३२॥
रोमञ्चिअ भुअ जुअल, भौंह जुगल भरें गेंट्ठि पेल्लिअउँ ॥३३॥
अहर बिम्बँ पप्फुरिअ, नयने कोकनदे कान्ति धरिअउँ ॥३४॥
खाण उँमारा सव्व के तं खणे भौ फरमान ॥३५॥
अपनेहु साँठे सम्पलहु तो तिरहुत्ति पआन ॥३६॥

---

३३ [ख] भोंह जुवल । भर गेठि परिभउ ।
३६ [ख] उप्परहु क्षाटे सप्परहु तिरहूतिहि पयाण ।

---

३२. यह सुनकर सुल्तान कुपित हो गया ।

३३-३४. दोनों भुजदण्ड रोमांचित हो गए। दोनों भौंहों के मध्य भाग में गाँठें पड़ गईं । अधर बिम्ब काँपने लगा । नेत्र-लाल कमल के समान रक्तवर्ण हो गए ।

३५-३६. खान और उमरा सबको उसी क्षण यह हुक्म हुआ—'अपने साज-सामान के साथ आकर उपस्थित हो, तब तिरहुत पर कूच होगी ।'

---

३३. भौंह जुगल—सं० भ्रू>प्रा० अप० भउँह, भमुहा>भमुह, >भौंह । भरें—सं० भर>प्रा० अप० भर (= मध्यभाग पासद्द० १९९) । गेंट्ठि—सं० ग्रन्थि>प्रा० अप० गेंट्ठि (= गाँठ) ।

पेल्लिअउँ—सं० धातु पूरय्‌का प्रा० धात्वादेश पेल्ल (= पूरना, भरना पासद्द० ७६०) ।

३४. पप्फुरिअ—सं० प्रस्फुरित = फड़कता हुआ ।

३६. साँठे—सं० संस्था>प्रा० अप० संट्ठा (= सामान) । साँठे = साज-सामानके साथ ।

३।१० [छपद]

तपत हुअउँ सुरुतान रोल उंछल दरबारहि ॥३७॥
घन परिजन संचरिअ धरणि धसमस पए भारहि ॥३८॥
तात भुअन भए गेल सव्व मन सवतहु सङ्का ॥३९॥

---

३७ [अ] तपत···रोल के बाद से अ प्रति में पाठ मिलता है। उरँक उछलु दरबारहिं।

३८ [अ] घन परिजन। [क] जन परिजन। [ख] घण परिअण। धसमु पए।

३९ [अ] सबतहु संका। [ख] सव दिस सङ्का।

३७-३८. जब सुल्तान इस प्रकार गरम हुए तो दरबार में शोर मच गया। अनेक नौकर-चाकर इधर-उधर दौड़ने लगे। उनके पैरों के बोझ से धरती धँसने और मसकने लगी।

३९-४०. भुवन गरम हो गए। सब शत्रुओं के मन में डर

सम्पलहु—सं० सम्पत् > अप० संपल (= आ गिरना, आकर उपस्थित होना), सम्पलइ (प्रा० पैं०, पासद्द० १०५७)।

पआन—सं० प्रयाण (= कूच, सेना की यात्रा)।

३७. रोल = कोलाहल, शोर (देशी नाम० ७,१५)।

३८. धसमस = धँसना, मसकना अर्थात् नीचे जाना और अपने स्थान से विचलित होना।

३९. सवतहु—(१) सं० सपत्न > प्रा० सवत्त = शत्रु (पासद्द० ११०५)। (२) सं० सर्वत्र > प्रा० सव्वत्त = सब जगह (पासद्द० ११०७)।

बड़ा दूर बड़ हचड़ उव्वे जनि उजडल लङ्का ॥४०॥
देमान अरदगर गह्वर कुरुवक वैसल अदप कइ ॥४१॥

---

४० [अ] बाड़ा । हचल । उजटल लंका ।
[ख] (हच)र पुवसु निअ उजरलि ।
४१ [अ] देवान अरदगल गदवर । कुरुव्वक । [क] देमान अब दगल गह्वर । [ख] देवाण अरदगर भै । (वैसल) महल के ।

पैदा हो गया । ऐसा लगा मानों बहुत बड़ी हत्या दूर से समीप आ गई हो और बसी हुई लंका उजड़ गई हो ।
४१-४२. दीवान (वज़ीर आला), अरदगर (महलसरा का अधिकारी), गह्वर (सेनापति) और क़ोरबेग नामक अधिकारियों ने

---

४०. बड़—देशी वडु = बड़ा । अथवा सं० पत् > प्रा० पड् (पासद्द० ६३३,९२०) > वड़ = पड़ना, आ गिरना ।

हचड़ = हत्या, मारकाट । सं० हत्या > प्रा० हच्चा (पासद्द० ११८१) + अप० प्रत्यय ड = हचड़ ।

उव्वे—सं० उपैति = समीप आना > प्रा० उवि, उवे (उवेइ = निकट आना, प्राप्त होना, पासद्द० २२८) । तात्पर्य यह मानों बड़ी हत्या (कत्ले-आम) बड़ी दूर से चलकर पास आ गई हो ।

उजड़ल लंका—बसी हुई लंका उजड़ गई हो ।

४१. देमान = दीवान, वज़ीर । (देखिए श्री जदुनाथ सरकार, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० २७) ।

अरदगर गह्वर—अ प्रति—अरदगल गह्वर, ख प्रति—अरदगर भै । अनुमान होता है कि मूल पाठ अरदगर गह्वर था । अरदगर—इस

अवहि सवहि दहु धाए कहु पकलि देउँ असलाए गइ ॥४२॥

---

४२ [अ] अवहिं । प्रसिद्धाए (दहु धाए के स्थान पर)। कहुं। असलान । [क] आरंभ में जनि । देओ । [ख] जनि अवहि तवहि पँ धाइ कै पकरि अञ्चल वअसल्ला गैं ।

दरबारी अदब के अनुसार कठिनाई से अपने आपको सँभाल कर बैठाया। ऐसा ज्ञात होता था मानों अभी सब दौड़कर असलान को दूसरे लोक से भी पकड़कर ला देंगे ।

नाम के अधिकारी का निश्चित उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। संभवत: अरद 'ओर्दू' का रूप हो जिसका अर्थ था शाहीदरबार, महल, छावनी (स्टाफा० ११९)। उसमें 'गर' लगने से अरदगर वह अधिकारी हुआ जो शाही महलसरा या दरबार आदिका प्रबन्ध करता था। तुर्कों के शासन में इसके समकक्ष हाकिम हरम और शहना बारगाह अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। (कुंवर मुहम्मद अशरफ, लाइफ एण्ड कण्डिशंस आफ् दी पीपुल आफ् हिन्दुस्तान, पृ० १७०)

गइवर—तीनों प्रतियों का यही पाठ है। इस नाम से मिलता-जुलता अधिकारी 'गिर्दवान' होता था जिसका अर्थ था प्रधान सेनापति (स्टाफा० १०७९)।

कुरुबक—तुर्की क़ूरबेग, आईन अकबरी कोरबेग = शस्त्रास्त्र और शाही झण्डोंका अधिकारी। तुर्की क़ूर = अस्त्रशस्त्रोंका समूह।

अदप—अ० अदब = शाही दरबार का शिष्टाचार।

४२. गइ = सं० गति > प्रा० गइ। इसका एक अर्थ लोकान्तर में गमन या स्वर्गप्राप्ति भी था।

३।११ [रड्डा]

तेन्हि सोअर वेवि सानन्द ॥४३॥
कित्तिसिंह वर नृपति लए, पसाओ बाहर ओ आइअ ॥४४॥
एथन्तर वत्त विचित्त किछु सुरुतानहु पाइअ ॥४५॥
पुव्वे सेना सज्जिअइ पच्छिम हुअउँ पयान ॥४६॥

४३ [अ] तेन्न । वेवि । सानंद ।
४४ [अ] लअ । पसातु । वाहरतु ।
[ख] (नृपति) लेइ पसाद बाहर आएउ ।
४५ [अ] एत्थंतर । कुविवत्त बत्त किछु । सुरताने ।
[क] पुरिबत्त रत्त । [ख] पाएउ ।
४६ [अ] सज्जिअउ । पछिम हुअउ । पआन ।
[ख] संउरिच (सज्जिअउ) । हुआ (हुअउँ) ।

४३-४४. उससे दोनों भाई प्रसन्न हुए। कीर्तिसिंह बादशाह की प्रसन्नता प्राप्त करके बाहर वापिस आए।

४५-४६. इसी बीच में सुलतान की कुछ विचित्र बात उन्हें सुनाई पड़ी—पूर्व दिशा के लिए सेना सजाई गई थी लेकिन पश्चिम की ओर कूच हुआ।

४३. सोअर—सं० सोदर = सहोदर, सगे भाई।

४४. पसाओ—सं० प्रसाद > प्रा० पसाय (= प्रसन्नता, मेहरबानी)। बाहर ओ आइअ = वापिस आए। सं० अप > प्रा० अव (= वापिस , पीछे, पासद्द० ९४) > ओ (पासद्द० २४५) + सं० आगत > प्रा० आयअ > आइअ।

४५. एथन्तर—सं० अत्र > अप० एत्थ, अव० एथ + सं० अन्तर।

आण करइते आण भउँ विहि चरित्त को जान ॥४७॥

३।१२ [दोहा]

तं खणे चिन्तइ राअ सो सब्बे हुअउँ महु लज्ज ॥४८॥
पुनु वि परिस्सम सिज्झिहइ कालहि चुक्किह कज्ज ॥४९॥

---

४७ [अ] अन्न करत्ते। अन्न। भउ।
[क] अन्न। अण्ड (द्वितीय आण के स्थान पर)।

४८ [अ] खणे चिन्तइ। हुअउ। [ख] प्रतिमें यह पद्य नहीं है।

४९ [अ] पुनु कि। परिस्समे। सिज्झिहइ।

---

४७. कुछ और करते हुए कुछ और हो गया। ब्रह्मा के चरित्र को कौन जान सकता है ?

४८-४९. उस क्षण में राजा कीर्तिसिंह सोचने लगे—'सब में मेरी लज्जा हुई। समय पर चूका हुआ काम फिर बहुत मेहनत से ही पूरा हो सकेगा।'

वत्त—सं० वार्ता > प्रा० वत्ता, वत्त (= समाचार)।

४७. आण—सं० अन्य > प्रा० अण्ण > आण (= दूसरा, कुछ और)।

विहि—सं० विधि > प्रा० अप० विहि (= विधाता, ब्रह्मा)।

४९. सिज्झिहइ—सं० सिध् (सिध्यति) > प्रा० सिज्झ = निष्पन्न होना, बनना। भवि० सिज्झिहइ, सिझिहइ। चुक्किह—सं० भ्रंश् का धात्वादेश चुक, चुकइ (= चूकना, भ्रष्ट होना)। चुक्किह = भ्रष्ट हुआ, चूका हुआ।

३।१३ [गद्य]

तइसना प्रस्ताव चिंताभराणत राअन्हि करो मुखारविन्द देखेअ ॥५०॥
महायुवराज श्रीमद्वीरसिंहदेवमंत्री भणिअ ॥५१॥
अइस नेओं उँपताप गणिओ ण गुनिअ ॥५२॥

---

५० [अ] तैसना। चिंताभरावणत। मुखारविंद।
[ख] (चिन्ता) भरोधण दत्त।

५१ [अ] देषि। मंत्र भणिअ। [ख] प्रति में 'देखेअ' नहीं है इसके आगे 'महावकुमार जुवराजन्ह श्रो० मंत'।

५२ [अ] अइसनो। उपताप। न गणिअ।
[ख] अैसनउ उँपत्ताप। गनीअउन गनीअइ।

५०–५२. उस प्रकार के प्रसंग से चिंतित और विनत हुए कीर्तिसिंह और उसके भाई का मुँह देखकर महाराज श्रीमत् वीरसिंह देव का मंत्री बोला—'नेता को ऐसे दुःखों का बारबार अनुभव करना चाहिए पर उनकी चिंता न करनी चाहिए।

---

५०. प्रस्ताव = प्रसंग, प्रकरण।

५२. नेओं—सं० नेतृ > प्रा० णेउ (= नेता, नायक, पासद्द० ५५९); अथवा सं० नैक > प्रा० णेअ (= अनेक पासद्द० ५१९); अथवा तइसन के ढंग पर अइसन का द्वितीया का बहुवचन। उँपताप = दुःख, क्लेश।

गणिओ—सं० गणय् > प्रा० गण (= बारबार अनुभव करना)। गुनिअ—सं गुणय् > प्रा० गुण (= स्मरण करना, सोचना, चिन्ता करना, पासद्द० ३७३)।

३।१४ [रड्डा]

दुक्खे सिज्झइ राअ घर कज्ज ॥५३॥
तं उब्वेअ न करिअ, सुहिअ पुच्छि संसअ हरिज्जइ ॥५४॥
फल दैवह आअत पुरिस कम्म साहस करिज्जइ ॥५५॥
जइ साहसहु न सिद्धि हो, झंष करिव्वउँ काह ॥५६॥
होव होसइ एक्क पइ वीर पुरिस उच्छाह ॥५७॥

---

५३ [अ] दुख्खे । रां कर कज्ज ।
५४ [अ] करिअ । पुछिअ । हरिज्जइ । [क] करिषु । हरिज्जिषु ।
[ख] करीअउ (करिअ) । सुअण (सुहिअ) । हरिज्जै ।
५५ [अ] आअत्त । कर्म्म । करिज्झइ ।
५६ [अ] करिव्वउ । झख । होअं ।
५७ [अ] होना होसे ऐक । उछाह । वीरसिंह । [क] उच्छास ।
[ख] होणा होसइ । सब्ब कर (एक्कपइ) ।

५३-५४. 'राजाओं के घर कार्य की सिद्धि मुश्किल से होती है। उसका उद्वेग नहीं करना चाहिए। मित्रों से परामर्श करके संशय दूर करना चाहिए।

५५-५७. फल दैव के अधीन है, पुरुष का कर्म साहस करना है। यदि साहस से भी सिद्धि न मिले तो झींखने से क्या फल होगा ? जो होना है वह अवश्य होगा, किन्तु अकेले भी वीर पुरुष को अपना उत्साह रखना चाहिए।'

---

५४. सुहिअ–सं० सुहृद् >प्रा० सुहिअ (= मित्र, हितैषी) ।
५५. आअत–सं० आयत्त >प्रा० आअत्त > आअत (= अधीन) ।
५६. झंष–सं० विलप् का धात्वादेश प्रा० अप० झंष = विलाप

३।१५ [रड्डा]

ओहु राओ विअक्खण तुम्हे गुणवन्त ॥५८॥
ओ सधम्म तोंह शुद्ध, ओहु सदए तोहें रज्ज षण्डिअ ॥५९॥
ओ जिगीषु तोहे सूर, ओहु राए तोह राअ पंडिअ ॥६०॥
पुहवीपति सुरुतान ओ तुम्हे रायकुमार ॥६१॥

---

५८ [अ] अहवा उ । विअल्लण । तुम्में । गुणमंतं ।
[ख] ओहु राओ । तुम्हे ।
५९ [अ] उ (ओ) । तोहे । सुद्ध । ओहो । सदअ । तोहे । खंडिअ ।
[ख] तुम्हे (तोंह) । सुहवकन्त । तुम्हे । रज्ज पण्डिअ ।
६० [अ] उह राअ । [क] तोहें राजकुमार ।
[ख] 'तुअ जगत् मंडिअ' पाठ तोहे सूर के स्थान पर । [ख] प्रति में मंडिअ के आगे वाला पाठ नहीं है ।
६१ [अ] सुरतान । उतुम्मे । राअकुमार ।

---

५८. 'वह बादशाह विचक्षण है । तुम गुणवान् हो ।

५९–६०. वह धर्मात्मा है, तुम भी सब प्रकार शुद्ध हो । वह दयावान् है और तुम राज्यसे च्युत हो । वह विजयार्थी है, तुम शूर हो । वह राजा है, तुम राजपंडित हो ।

६१–६२. वह पृथिवीपति सुल्तान है, तुम भी राजपुत्र हो ।

करना, रोना-धोना, या सतप्त होना (हेम० ४, १४९, १४०) ।

५७. होसइ—सं० भू > प्रा० अप० होसइ (हेम० ४, ३८८) । होज—सं० भू० का अप० हो । सं० भवितृ > अप० होउ > होअ > अव० होज ।

६०. राअ पंडिअ—बीकानेर की प्रति में 'तोह राअ पंडिअ' यह श्रेष्ठ पाठ आया है, और तुकान्त की दृष्टि से यहाँ समीचीन पाठ था ।

एक्क चित्त जइ सेविअइ ध्रुअ होसइ परकार ॥६२॥

३।१६ [दोहा]

इथ्थेन्तर पुनु रोल पडु सेएण सङ्ख को जान ॥६३॥
नलिनि पत्त जओ महि चलइ सुरुतानी तकतान ॥६४॥

---

६२ [अ] एक्के । चित्ते । [ख] जो (जइ) ।
६३ [अ] एत्थंतर । पुनः । सद्दल पलु । सेन्न । संख । [क] सेण्डु ।
[ख] बोल चलु (रोल पडु) । शयण शंख । [शा] सेण्ण । संख ।
६४ [अ] जओ । महि । [क] नलिनि पत्त नहि चलइ जओं० ।
[ख] नलिनी पात्र जिमि महि चलइ तकतीणु सुरुताण ।

यदि एक चित्त से सेवा करोगे तो अवश्य काम का कोई ढंग निकल आयेगा ।'

६३. इसी बीच में फिर कलकल ध्वनि सुनाई पड़ी । सेना की संख्या का अनुमान कौन कर सकता है ?

६४. जब सुलतान का तख्तेरवाँ चला, कमलिनी के पत्ते के समान धरती डोलने लगी ।

---

६२. ध्रुव—सं० ध्रुवम् = निश्चयपूर्वक । परकार—सं० प्रकार = काम का ढंग, उपाय ।

६३. इथ्थेन्तर—सं० अत्रान्तर, दे० ३।४५ । सेण्ण—सं० सैन्य > प्रा० अप० सेण्ण (= सेना) ।

६४. तकतान—फा० तख्तेरवाँ = सुलतान का वह सिंहासन जो यात्रा में साथ ले जाया जाता था (दे० जदुनाथ सरकार, मुगल एड-मिनिस्ट्रेशन, पृ० १२४, १७०) ।

३।१७ [निशिपाल (संज्ञा)]

चलिअ तकतान सुरतान इबराहिमओ ॥६५॥
कुरुम भण धरणि सुण धरण बल नाहि मो ॥६६॥
गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कंपिआ ॥६७॥
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ ॥६८॥

---

६५ [अ] इव वाहिमा। [ख] चलेउ जखण।
६६ [अ] सुन। 'प्रबलबल नहि भो'।
[क] भल। सुण रणि बल।
[ख] धरणि भण कुरुम सुनु धरण बल णाहि मो।
६७ [अ] पलइ। कंपियां। [ख] गिरि ढरइ खरि परइ नाग फण कंपिआ।
६८ [अ] गमन पथ। झंपिया। [ख] प्रति में यह पूरी पंक्ति नहीं है।

६५–६६. जब सुलतान इब्राहीम का तख्तेरवाँ चला तो कछुए ने कहा—'हे पृथिवी! सुनो, पीठ पर धारण करने का अधिक बल अब मुझमें नहीं रहा।'

६७. सेना के धक्के से पर्वत अपने स्थान से हटने लगे, धरती एक ओर को गिरने लगी, शेषनाग का मन काँप गया।

६८. आकाश मार्ग में धूल भर जाने से सूर्य का रथ ढक गया।

---

६६. धरण बल = धारण करने की शक्ति। 'अ' प्रतिमें 'प्रबल बल' पाठ है, अर्थात् कूर्म पृथिवी से कहता है कि सेना के अतिरिक्त भार को धारण करने की अतिरिक्त शक्ति मुझमें नहीं।

६८. भरे = समूह, प्रचुरता, पासह० ७९९। झंपिआ—सं० आच्छादय् का धात्वादेश झंप = झाँपना, ढकना। झंपिअ = आच्छादित।

तबल शत वाज कत भेरि भरे फुक्किआ ॥६९॥
पलअ घण गज्ज सुनि इअर रव लुक्किआ ॥७०॥
तुलुक लष हरखँ हस अस्स धसँ फालहीं ॥७१॥

---

६९ [अ] सत । वाजु ।
७० [अ] पलअ । घन । गज्ज सुनि (सद्द हुअ) । इअर । रव । लुक्किआ । [क] पलअ छश रज्ज समइ अर वल लुक्किआ । [ख] प्रलय घण सद्द हुअ णर रव ।
७१ [अ] तुरुक लख । हरखे । अस्स । [क] हस अग्रि घस फालहीं । [ख] तुरुक कस हरखि हस तुरय असफालहीं ।

६९-७०. सैकड़ों नक्कारे बज उठे । कितनी एक भेरियाँ जोर-जोर से फुँफकारने लगीं । प्रलय काल के मेघों का गर्जन सुन अन्य सब शब्द छिप गए ।

७१-७२. लाखों तुर्क हर्ष से हँसते थे और उनके घोड़े

---

६९. कत—सं० कति = कितने अनेक । भरे = जोर से ।

फुक्किआ—फुक्क धातु के दो अर्थ हैं (१) फूँकना, (२) फूँ फूँ आवाज करना, फुँफकारना । यहाँ दूसरा अर्थ अभिप्रेत है । जो भेरियाँ थीं वे जोर से बजने लगीं ।

७०. पलअ—मुद्रित काशी संस्करण में 'प्रलय' पाठ है । किन्तु बीकानेर की प्रति का श्रेष्ठ पाठ अवहट्ठ मूल के अधिक निकट है । सं० प्रलय > प्रा० पलय, पलअ । इअर—सं० इतर > प्रा० इयर ।

लुक्किआ—सं निली का धात्वादेश लुक्क (= छिपना, लुकना, हेम० ४, ५५) । लुक्किअ = लुका हुआ, छिपा हुआ ।

७१. अस्स धसँ फालहीं—बीकानेर की प्रति में 'अस्स धसँफालह'

मानधर मारि कर कड्डि करवालहीं ॥७२॥

३।१८

मअ गलइ पअ पलइ गअ चलइ जं खणे ॥७३॥

---

७२ [अ] कढ़ि। करवारहो। [क] कट। [ख] काढि तरवारहों।
७३ [अ] यअ (संभवतः पअ का वर्ण विपर्यय)। गअ चलइ। जं। [क] गणइ। भागि। [ख] हय चलै गय गलै पय परैं त खनें।

कूदते हुए आगे बढ़ रहे थे। उनमें किन्हीं मानी वीरों ने मार करने के लिए तलवारें खींच ली थीं।

७३. जिस समय हाथी चले उन का मद गलने लगा और धमाके से पैर धँसने लगे।

पाठ है। वही यहाँ लिया गया है। 'क' प्रति के असफालहीं से भी उसी का समर्थन होता है। अस्स = अश्व।

धसँ—धस = प्रवेश करना, भीड़-भाड़ में घुसना। फालहीं—प्रा० अप० फाल = फलाँग, कुदान। घोड़े कूदते हुए आगे धँस गए। 'ख' प्रति में 'तुरय असफालहीं' पाठ है जो मूल पाठ को सरल करने के लिए बनाया गया है।

असफालहीं—सं० आस्फालन = आस्फालन करना, ताड़ित करना।

७३. मअ गलइ—इस पंक्ति का 'अ' प्रति का पाठ मूल के सर्वाधिक निकट ज्ञात होता है। 'गणइ' मूल 'गलइ' के स्थान में प्रतिलिपिकार की भूल ज्ञात होती है। मअ = मद। भाव यह कि जिस समय हाथियों के ठट्ठ चले उस समय उनका मद बहने से कीचड़ हो गयी और उनके पैर डगमग पड़ने लगे।

सत्तु घरँ उपजु डर निन्द नहिं झंखणे ॥७४॥
खग्ग लइ गव्व कइ तुलुक जब जुज्झइ ॥७५॥
अपि सगर सुर नअर संक पलिमुज्झइ ॥७६॥
सोखि जल किअउ थल पत्ति पअ भारहीं ॥७७॥

---

७४ [अ] घर । निंद नही जं खणे ।
७५ [अ] जवे । [ख] मय सुरण पर वर संक परिमुक्कइ ।
७६ [अ] अवि । सुरणगर (सुरनअर) । मुज्झइ ।
७७ [अ] सोषि । पद भारही । [ख] दंतिमय (पत्ति पअ) ।

---

७४. शत्रु के घर में भय उत्पन्न हुआ और नींद की जगह झींखना पड़ गया ।

७५-७६. जब खड्ग लेकर और गर्व में भर कर तुर्क युद्ध करते, उस समय समस्त सुरपुर डर से घबरा जाता था ।

७७. पैदल सेना ने अपने पैर के भार से जल सुखा कर स्थल बना दिया ।

पलइ—सं० पत् > पड़इ, पलइ (= गिरना, जमकर न रक्खा जाना) ।

जं—सं० यत् > प्रा० जं (= जिस, पासद्द ४२७) ।

७४. झंख—सं० विलप् या संतप् का धात्वादेश (= विलाप करना, संताप करना) ।

७५. जुज्झइ—सं० युध् > प्रा० जुज्झ, जुज्झइ (हेम० ४, २१७) ।

७६. सगर—सं० सकल > प्रा० सयल, सगल (पासद्द० १०७१) > अव० सगर । सुरनअर—'अ' प्रति में 'सुरणगर' पाठ है । पलिमुज्झइ—सं० परिमुह्यति > प्रा० अप० पलिमुज्झइ (= घबराता है) ।

जानि धुअ संक हुअ छड्डि संसारहीं ॥७८॥
केउ अरि बाँधि धरि चरणतल अप्पिआ ॥७९॥
केवि परनेमि कर अप्पु कर थप्पिआ ॥८०॥
३।१९
चौसा अंतर दीप दिगंतर पातिसाह दिग विजअ भम ॥८१॥

---

७८ [अ] छड्डि । संसारहो । [ख] जाव धुअ संग हुअ खेय संसारहीं ।
७९ [अ] केरि अरि । बाँवि । [क] केलि करि । [ख] केउ विअरि बाँधि करि चलण तर अप्पिआ ।
८० [अ] केरि (केलि) । नेमि । कर । [क] केलि परनमि । कर । [ख] केवि पर लेकर अप्पु कै थप्पिआ ।
८१ [अ] चौचस । अंतर । दिगंतर । विजअ । [क] चौचा अन्तर । दिगन्तर । विजय ।

---

७८. तुर्कों की चढ़ाई का समाचार सुनकर ध्रुव को भी भय उत्पन्न हुआ और वह संसार छोड़कर आकाश में जा बैठे ।

७९. किन्हीं ने शत्रु को बाँध कर और पकड़ कर (बादशाह के) चरणों में समर्पित कर दिया ।

८०. किसी ने प्रणाम करने वाले शत्रु को अपना बनाकर पुनः स्थापित कर दिया ।

८१. (पृथ्वी की) चार खूँटों के बीच अनेक द्वीप और दिशाओं में बादशाह ने दिग्विजय करते हुए भ्रमण किया ।

---

७८. धुअ—सं० ध्रुव > प्रा० धुअ । कवि का आशय यह है कि ध्रुव डर से संसार छोड़ कर निडर होने के लिए आकाश में जा बैठे ।

८०. अप्पुकर = अपना बनाकर अपने अधीन कर लिया ।
थप्पिअ—सं० स्थापित (उसके राज्य में पूर्ववत् स्थापित कर दिया) ।

दुग्गम गाहंते कर चाहंते वेरि सथ्थ संहणइ जम ॥८२॥

३।२० [छपद]

बंदी करिअ विदेस गरुअ गिरि पट्टन जारिअ ॥८३॥
साअर सिमा करिअ पार भै पारक मारिअ ॥८४॥

---

८२ [अ] गाहंते। चाहंते। वेरि। सत्थ। संहणइ। [क]....कर वाहन्ते बेवि सत्थ सम्पलइ जम। [ख] प्रति में यह पूरा पद्य नहीं है। [शा] चाहंते।

८३ [अ] बन्दो। [क] वन्दी। [ख] पर भुइ बन्दी करिअ।

८४ [अ] सीमा। भए। [क] सिमा। भै। [ख] सीवा।

---

८२. दुगम स्थानों में प्रवेश करके कर वसूल करते हुए उसने वैरियों के समूह का यमराज के समान संहार किया।

८३. शाह ने अपनी दिग्विजय में विलायतों को भी बन्दी बनाया। बड़े पर्वत और नगरों को भस्म किया ८४. समुद्र की सीमा पार कर जो पराए बन गए थे उन्हें भी मारा।

---

८१. चौसा = चार खूँट या चार दिशा। सं० चतुर् > प्रा० चउ + सं० अस्र > प्रा० अस्स = चउस्स < चौसा।

८२. वेरि सथ्थ = शत्रुसमूह। यह पाठ 'अ' प्रति का है।

सथ्थ—सं० सार्थ (समूह) < प्रा० सत्थ < अव० सथ्थ।

संहणइ—यह 'अ' प्रति का पाठ है। 'क' प्रति में 'संपलइ जम' पाठ है जिसका अर्थ होगा—शत्रु के समूह पर यमराज के समान आकर गिरता या टूटता था। 'संपलइ' के लिए दे० ३।३६।

८३. विदेस = अन्य देश, विलायत।

८४. साअर—सं० सागर।

सरबस डाँडिअ सत्तु घोल लिअ पञेडा घाड़ें ॥८५॥
एक ठाम उत्तरिअ ठाम दस मारिअ घाड़ें ॥८६॥

८५ [अ] सरवस । डाडिअ । वीर सत्तु । पएडा । माले ।
[क] सरबस । डाडीअ सत्तु । [ख] सब्बस हिंडिअ ।
८६ [अ] ठांम एक । उब्बलइ । घाले ।
[क] एक ठाम । उत्तरिअ । घाड़ें ।

८५. सब प्रकार से शत्रुओं को दण्डित किया और घोड़ा लिए हुए प्रचंड विनाश किया ।

८६. एक स्थान पर उतर कर वहाँ से दस स्थानों पर पहुँच कर घाड़े मारते थे ।

पारक—सं० परकीय>प्रा० पारकेर, पारक (हेम० १,१४४;२, १४८; पासद्द० ७२८) ।

८५. सरबस डाँडिअ = सब प्रकार से दण्डित करके या सर्वस्व दण्ड के रूपमें लेकर । 'ख' प्रति में 'सब्बस हिंडिअ' पाठ है जो अर्थ की दृष्टि से अच्छा था । सब जगह शत्रुओं को ढूँढ-ढूँढकर उनका नाश किया ।

सरबस—सं० सर्वशः>प्रा० सव्वसो (= सब प्रकार से, सब ओर से), अथवा सं० सर्वस्व>प्रा० सव्वस्स>अव० सरबस ।

डाँडिअ—धातु डाँड़ना (दे० दुंदि डाँडि सब सरगहि गई, पद्मावत ५७७,७) ।

घोल—सं० घोट>प्रा० अप० घोड़>घोल ।

पञेडा घाड़ें—यह अति उत्कृष्ट पाठ है । पञेडा—सं० प्रचण्ड> प्रा० पयंड (पासद्द०६६७) >अव० पएंड, पञेड (अत्युग्र, भयंकर) । घाड़ें—सं० घ्राड>प्रा० अप० घाड (= नाश करना, पासद्द० ६००) ।

इबराहिम साह पआन ओ पुहवि नरेसर कमन सह ॥८७॥
गिरि साअर पार उँवार नहीं रैअति भेले जीव रह ॥८८॥

३।२१ [बालिछंद]

रैअति भेल जाहाँ जाइअ ॥ ८९ ॥

---

८७ [अ] इबराहिम साहि। पआण । वो । णरेसर । [क] इबराहिम साह । पआन । ओ । नरेसर । [ख] को सहइ (कमन सह) ।
८८ [अ] उबार णहि । [क] उँवार नहीं । [ख] राइति भैले जीव रहिअइ ।
८९ [अ] भेले । जाहा ।

---

८७. इबराहीम शाहके उस प्रयाण को पृथ्वी का कौन राजा सह सकता था ? ८८. पर्वत और समुद्र पार होने पर भी रक्षा नहीं थी। केवल उसकी रैयत बन जाने से ही प्राण बच सकते थे।

८९. रैयत होकर (प्रजा के रूप में) जहाँ चाहे जाइए।

---

८६. मारिअ धाड़े = धाड़े मारते थे। सं० धाटी > प्रा०अप० धाडी, पुं० धाड़ा (= हमला, सहसा आक्रमण, धावा, पासद्द० ६००)।

८८. उँवार = रक्षा। सं० उद् + वृ > प्रा० अप० उव्वर (= बच जाना, सुरक्षित रहना, पासद्द० २३०)। उव्वरिय = बचा हुआ (पासद्द० वहीं)।

९०. खर—'अ' प्रति में 'खर' पाठ है। वही यहाँ रक्खा गया है।

दे० खड = तृण, घास (देशी० २,६७; कुमारपाल चरित, पासद्द० ३४०)। अन्य प्रतियों का पाठ 'षढ' है, जो संम्भवत: शठ > सढ (= धूर्त, मायावी, पासद्द० पृ० १०७४) हो सकता था।

खर एक छुअए न पाइअ ॥ ६० ॥
बढ़ि साति छोटाहु काज, ॥ ६१ ॥
कटक लटक पटक वाज ॥ ६२ ॥
३।२२
चोर घुमाइअ नाअक नाथें ॥ ६३ ॥

---

९० [अ] खर। [क] षढ। एकओ। [ख] षड।
९१ [अ] वडि। छोटाहुक। [क] कांज।
९२ [ख] सटक पटक लटक वाज।
९३ [अ] घुसइअ। नाक। [क] माथें। [ख] मवाइ। णाकर।

---

९०. एक तृण का स्पर्श भी कोई नहीं कर सकता था।

९१–९२. छोटे से काम के लिए भी बड़ी शक्तिका प्रयोग किया जाता था। कुछ लटक-पटक या लड़ाई-झगड़ा हो जाय तो भी सेना जा पहुँचती थी।

९३. तुर्कों के राज्य में न्याय और शान्ति की ऐसी दुर्व्यवस्था थी कि चोर नायक या मुखिया को पकड़कर घुमाता था।

---

९१. साति—सं० शक्ति>प्रा० सत्ति>साति (=बल प्रयोग)।

९२. कटक=सेना, फौज।

लटक–पटक=छोटा लड़ाई–झगड़ा, दोचार व्यक्तियों के बीच की मारा-मारी। यह आज भी चालू मुहावरा है।

वाज=जा पहुँचना। सं० व्रज् का प्रा० अप० वच्च (पासद्द० ९१६, वच्चइ हेम० ४,२५ एवं वज्ज, वज्जइ (जाना, पहुँचना, गमन करना; मृच्छकटिक, पासद्द० ९१७)। 'पद्मावत' और प्राचीनहिन्दी में 'वाज' का इसी अर्थ में प्राय: प्रयोग मिलता है (दे. पद्मावत २७२,५)।

दोहाई पेलिअ दोसरे माथें ॥ ९४ ॥
सेरें कीनि पानि आनिअ ॥ ९५ ॥
पीवए षणे कापड़े छानिअ ॥ ९६ ॥

---

९४ [अ] माथे । [क] दोहाए
९५ [अ] सेर । किनि । पानिपानि ।
९६ [अ] खने । कापिले । [क] छानीअ । [ख] पिउआ लागि कपरा ।

९४-९५. अधिकारी अपनी दुहाई दूसरे के मत्थे टाल देते थे । वस्तुओं का ऐसा अभाव था कि सेर के हिसाब से पानी खरीद कर लाया जाता था ।

९६. पाखण्ड ऐसा था कि पीने के समय उसे कपड़े में छान कर पीते थे ।

---

९३. घुमाइअ—'अ' प्रतिका पाठ इस समय 'घुसइअ' है किन्तु टीकाकार ने अर्थ 'घूर्णित' किया है जिससे ज्ञात होता है कि टीकाकार के सामने 'घुमाइअ' पाठ ही था । वही अन्य प्रतियों में भी है और अर्थ की दृष्टि से सुसंगत है ।

नाअक—सं० नायक>प्रा० णायग, अप० णाइक्क (=मुखिया) । नाथे=नाथ कर, नाकमें रस्सी डालकर, पकड़ कर, बाँधकर ।

९४. दोहाइ पेलिअ—सरकारी अफसरों से जनता जो दुहाई करती थी उसे वे दूसरे के मत्थे डाल देते थे । पेलिअ—सं० क्षिप् का धात्वादेश पेल्ल (=फेंकना) ।

९५. कीनि=खरीद कर । सं०क्री>प्रा०अप० कीण (=खरीदना, मोल लेना) ।

९६. षणं=क्षण ।

३।२३

बान कसए सोनाक टका ।।९७।।
चांदन क मूल इंधन बिका ।।९८।।

---

९७ [अ] पान कइ सोना टक का । [क] पान कसए सोनाक टंका ।
[ख] पान कसत सोणो के टका जा ।
९८ [अ] मुले । [क] चान्दन । इन्धन ।

९७–९८. बान कसवाकर देखने में सोने का टका ही चला जाता था । (मँहगाई ऐसी हुई कि) चन्दन के मोल इँधन बिकने लगा ।

---

९७. बान कसए—'अ' एवं 'क' 'ख', सब प्रतियों में 'पान कसए' पाठ है । संस्कृत टीका में 'पानक सए' मानकर सौ पान ऐसा अर्थ किया है । 'ख' प्रति में 'पान कसत सोणे के टका जा' पाठ है जो उत्तम अर्थ की ओर संकेत करता है । तदनुसार हमारा सुझाव है कि मूल पाठ 'पान कसए' की जगह 'बान कसए' था । अर्थ की दृष्टि से 'बान' पाठ ही सर्वश्रेष्ठ पाठ था । सराफे के बाजार में सोने के सिक्कों का खरा-खोटापन जाँचने के लिए उन्हें कसौटी पर कस कर देखा जाता था और भिन्न-भिन्न बान के स्वर्णवाली शलाकाओं से उसे जाँचते थे जिन्हें बनवारी (सं० वर्णमालिका) कहते थे । बारह बान का सोना सबसे शुद्ध समझा जाता था । 'पद्मावत' में अनेक बार बान की प्रक्रिया का उल्लेख है, दे० 'संजीवनी', ८३,५ एवं पृ० ७१८-१९ पर परिशिष्टगत टिप्पणी । कवि का आशय यह है कि सराफे के महाजन भी अपने सत्य से इतना डिग गए थे कि सोने का बान कसवा कर देखने से स्वर्ण मुद्रा ही मजबूरी में रख लेते थे ।

वहुल कौडि कनिक थोड़ ॥९९॥
घीवक बेचाँ दीअ घोड़ ॥१००॥

३।२४

कुरुआ क तेल आङ्ग लाइअ ॥१०१॥

---

९९ [अ] थोल।
१०० [अ] बेचा। दिअ। घोल। [ख] दिजिअ।
१०१ [अ] कुरुआ। आंग।

९९–१००. (अनाज मंडी में यह दशा थी कि) कौड़ियाँ अधिक और गेहूँ के दाने थोड़े थे। (किराने की मंडी का यह हाल था कि) घी के कुप्पे या हँडे बेचने वालेको साथ में अपना घोड़ा भी दे देना पड़ता था।

१०१–१०२. शरीर में लगाने के लिए (चंपा, जूही, मोंगरे

---

९९. कौडि—हिन्दू युग और मुसलमानी काल में भी पूर्वी प्रदेशों में कौडियों का बहुत अधिक चलन था। ज्ञात होता है कि अनाज की मंडी में फुटकर खरीदा फरोख्त के लिए कौड़ियाँ ही चलती थीं।

१००. कनिक = गेहूँ। घेवक बेचाँ दीअ घोड़–घोड़े पर लदा हुआ घी का हंडा कूत कर बेच दिया तो लेने वाला दूकानदार उसी मूल्य में घोड़े को भी छीन लेता था।

१०१. कुरुआ—सं० कुरुबक > प्रा० कुरुवअ > अव० कुरुआ (= कटसरैया)। कटसरैया = अडूसे की तरह का एक काँटेदार पौधा होता है जिसमें पीले, लाल-नीले और सफेद कई रंगके फूल लगते हैं। उसके दानों से बहुत ही बढिया तरह का तेल निकाला जाता है।

वाँदी वड्दा सजोघ पाइअ ॥१०२॥

३।२५ [रड्डा]

एव गमिअउँ दूर दिगन्तर ॥१०३॥

---

१०२ [अ] वादि वरदा सवोघ पाइअ। [क] वड दासओ छपाइअ।
[ख] वादि वरवल दास पाइअ।

१०३ [अ] दूर गमिअहु दोप दिगंत। [ख] दूर गमिअ दीप दीगन्तर।

का तेल तो मिलता न था) कटसरैया के तेल से काम चलाना पड़ता था। बाँदी और बैल समान मूल्य में मिलते थे।

१०३. इस प्रकार से दोनों भाई दूर-दूर के देशोंमें गये।

---

१०२. बाँदी = दासी, वह स्त्री जो सेवा आदि के लिए मूल्य से बाजार में बिकती थी।

वड्दा = बैल। सं० बलीवर्द > प्रा० बलिवद्द > बलद्द, बड्द्द > बड्दा। सजोघ = समर्घ, सस्ता, बराबर मूल्य का। सं० समर्घ > प्रा० अप० समग्घ > अव० सजोघ > प्राचीन हि० सौंघ, सौंघाई (एक कहहिं ऐसिहु सौंघाई, रामचरित मानस ६।८८।४; महँगे मनि कञ्चन किये सौंघे जग जल नाज, दोहावली ४४९)। 'अ' प्रति में 'सवोघ' पाठ है जिसका अर्थ संस्कृत टीकाकार ने 'समर्घम्' ठीक किया है। बाबूरामजी की मुद्रित प्रति में 'वादी वड दासओ छपाइअ' अक्षरों के गलत मिलने से हो गया है। उसमें आसानी से 'वाँदी वड्दा सजोछ 'पाइअ' यह शुद्ध पाठ पहचाना जा सकता है। 'सजोछ' में भी लिपिकी भ्रांति से 'घ' को 'छ' पढ़ लिया गया है।

रण साहस बहु करिअ, बहुल ठाम फल मूल भक्खिअ ॥१०४॥
तुलुक सङ्गे सञ्चार परम कट्ठे आचार रक्खिअ ॥१०५॥
सम्बर णिवलिअ किरिस तनु अम्बँर मेल पुरान ॥१०६॥
जवण सभावहि निक्करुण तौ न सुमरु सुरुतान ॥१०७॥

---

१०४ [अ] भरखिअ। [ख] बल (साहस)।
१०५ [अ] संगे । संचरिअ। दुक्खे (कठ्ठे)। ररिखअ।
[ख] दुक्ख।
१०६ [अ] संवर। निवलिअ। खीण तनु। अंवर हुअउ।
[ख] निवलिअ किसिअ तनु।
१०७ [अ] जवण। [क] जवन।

१०४–१०५. रण में उन्होंने बहुत साहस किया। अनेक स्थानों में फल-मूल खा कर रहे। तुर्कों के संग संचरण करते हुए बड़े कष्ट से उन्होंने अपने आचार की रक्षा की। साथ की सामग्री समाप्त हो गयी। शरीर कृश हो गया, वस्त्र भी पुराने हो गये। यवन स्वभाव से निष्करुण होते हैं। अतएव इतने पर भी सुलतानने उनका स्मरण नहीं किया।

---

१०५. कठ्ठे—'अ' प्रति में 'परम दुःखे' पाठ है। सं० कष्ट>प्रा० कट्ठ।

१०६. सम्बर = मार्गमें उपयोगके लिए साथ लिया गया सामान या भोजन।

सं० शम्बल>प्रा० संबर। दे० पदमावत—जाँवत अहै सकल ओरगाना। साँबर लेहु दूर है जाना, १२८,२।

णिवलिअ = निबट गया, चुक गया। सं० मुच् (= मुकना, चुकना)

३।२६ [रड्डा]

वित्ते हीणउ नत्थि वणिज्ज ॥१०८॥
णहु विदेश रिण सँभरइ, नहु मानधनहिं भिक्ख भावइ ॥१०६॥

---

१०८ [क] विभें हीन नथ्थि वाणिज्ज। [ख] यह पंक्ति इसमें नहीं है।

१०९ [अ] नह विदेस रणि लहिअ। नउन। मानधन। भिखिअ। भावइअ। [क] ऋण। मानधनषिख। [ख] रिणि घटै। णहि उण मानधन। भीषि।

१०८–१०९. (राजकुमारों के पास वृत्ति का कोई प्रबन्ध न रहा, उसे ही कहते हैं—) बिना धन के वाणिज्य नहीं हो सकता। विदेश में ऋण भी पोषण नहीं करता। न उन जैसे मानधनी पुरुषोंको भिक्षा अच्छी लगती है।

का प्रा० धात्वादेश णिव्वल (हेम० ४,९२; णिव्वलेइ पासद्द० ५०८)। >णिव्वलिअ >णिवलिअ,निवलिअ।

किरिस तन—किरिस = सं० कृश। 'ख' का 'किसिअ' पाठ सं० 'कृशित' से होगा। 'अ' प्रति में उसी का सामानार्थक 'खीण तनु' पाठ है।

१०९. सँभरइ—सं० सम्भृ >प्रा० संभरइ (= भरण-पोषण करना)। विदेश में अपरिचित होने के कारण ऋण द्वारा पोषण होने की संभावना नहीं होती।

भिक्ख—सं० भिक्षा >प्रा० भिक्ख >अव भिक्ख।

राअघरहि उँप्पत्ति दीन वअन नहु वअन आवइ ॥११०॥
सेविअ सामि न संभलइ दैव न पुरवए आस ॥१११॥
अहह महत्तर किक्करउँ गण्डजे गणिअ उँपास ॥११२॥

---

११० [अ] राअघरि । उप्पत्ति । दीन वअण । वअण । आवइअ ।
[क] राअघरहि उँप्पत्ति नहि दीन वअन""।
[ख] कै दिन वचयण नहि दीन आवै ।
१११ [अ] सेविन । पूरवए ।
११२ [अ] किक्करउ ।गंडाए । गणिअ । उपास ।
[क] निसङ्क भए ।

११०–१११. राजकुल में जन्म होने से दीनवचन मुख में नहीं आते। जिस स्वामी की सेवा की है वह भी स्मरण नहीं करता और दैव भी आशा पूरी नहीं करते।

११२. अहह, प्रधान या नायक व्यक्ति क्या करे, सिवाय इसके कि चार-चार बेला बीच में गिनकर उपवास की साधना करे।

---

११०. ऊँप्पत्ति—सं० उत्पत्ति आ० उत्पत्ति (= जन्म)।

वअन—सं० वचन > प्रा० वयण > अव० वअन। (= मुख)।

१११. संभलइ = याद करना है। सं० सम् + स्मृ > प्रा० अप० संभल, संभलइ (पासद्द० १०६०)।

११२. महत्तर = मुखिया, नायक, प्रधान।

गण्डजे—सं० गण्डक > प्रा० गंडअ (= चार की गिनती)। गण्डजे गणिज उँपास—इस क्लिष्ट वाक्य का ठीक शब्दार्थ संस्कृत टीकाकार ने दिया है—चतुःसंख्याविशेषेण गण्यते उपवासः। इसका आशय यह है कि दो-दो दिन का बीच में उपवास करके तब भोजन

३।२७ [रड्डा]

पिअ न पुच्छइ चिन्त णहु मित्त ॥११३॥
नहु भोअन संपजइ, भित्त भाँगि भुक्खे डढ्ढिअ ॥११४॥
घोल घास नहु लहइ दिवस दिवस अति दुक्ख वढ्ढिअ ॥११५॥

---

११३ [अ] पिय न । भित्त नहु मित्त । [क] चिन्तइ । [ख] पुक्षै । वित्त (चिन्तके स्थानपर) । नहि (णहु) ।

११४ [अ] भो (अ) ण । भागि जा । भुख्खे । डढिअ । [क] छोड्डीअ । [ख] नहि । भूख डढिआ ।

११५ [अ] घोल । लहइअ । दिवसे दिवसे । दुःख । वढ्ढिअ । [क] नहिअ (लहइ स्थानपर) । [ख] नहि । बढइ ।

११३-११४. (ऐसे संकटके समय अपना कोई) प्रियजन नहीं पूछता, न कोई मित्र चिन्ता करता है और न भोजन प्राप्त होता है । भूख की ज्वाला से दग्ध भृत्य भाग जाते हैं ।

११५-११७. घोड़ा घास नहीं पाता । दिन प्रतिदिन दुःख

होने लगा । इसे ही जैन परिभाषा में 'छट्ठम' उपवास कहते हैं अर्थात् पहले दिन शाम को भोजन करके अगले दिन दो समय उपवास करना, फिर तीसरे दिन दो समय उपवास रखना और छठी बेला में पुनः भोजन करना । यही विद्यामति का 'गण्डक उपवास' है ।

११३. पुच्छइ—'अ' प्रति में 'पुच्छइ' पाठ है । 'ख' प्रति के पुक्षै से उसका समर्थन होता है ।

११४. संपजइ—सं० संपद्यते>प्रा० संपज्जइ (= मिलना, प्राप्त होना, पासद्द० १०५५) ।

भित्त—सं० भृत्य>प्रा० अप० भित्त (= परिजन, नौकर-चाकर) ।

तबहु न चुक्किअ अख्खउरि सिरि केसव काएथ्थ ॥११६॥
अरु सोमेसर सबगहि सहि रहिअउ दुरवथ्थ ॥११७॥

---

११६ [अ] तरहु ण । अषत न [अस्पष्ट]—रि केसर । कायत्थ ।
[क] एक्कओ । [ख] तैअ उण । खउरि ।
११७ [अ] सहिए । रहिअ । दुःरवत्थ ।
[ख] सोमेसंदर संगहिअ । सहिअ रहिअ दुख सथ्थ ।

अधिक बढ़ता है, तब भी अखौरी श्री केशव कायस्थ ने साथ नहीं छोड़ा और मुद्राध्यक्ष सोमेश्वर भी दुरवस्था सहते रहे ।

चुक्किअ—सं० भ्रंश का धात्वादेश चुक्क ।

माँगि—सं० भग्न>प्रा० भग्ग (= भागना, नष्ट होना, छोड़कर चले जाना ।

भुख्खे डड्ढिअ = भूख से सताए हुए । सं० दग्ध>प्रा० अप० डड्ढ (हेम० १,२१७, = जलाए हुए) ।

११६. अख्खउरि = अखौरी, बिहार में अभी तक नामों के साथ प्रयुक्त होनेवाला एक विरुद । यहाँ 'क' प्रति का पाठ 'एक्कओ' (अकेले) स्पष्ट ही आगन्तुक सरल पाठ है । 'ख' प्रति का 'खउरि' पाठ मूल की ओर संकेत करता था । 'अ' प्रति में 'अखत न···रि' पाठ है और–'न' के बाद के दो-तीन अक्षर कट गए हैं । उससे भी मूल अख्खय<अखत <अक्षत इस पाठ का संकेत मिलता है । सं० टीकाकार सौराष्ट्रमें बैठ कर लिख रहे थे और बिहार में प्रयुक्त अख्खउरि>अखौरी शब्द से परिचित न थे अतएव उन्होंने 'अखत नीति' पाठ मान कर स्पष्ट लिखा है कि उसका अर्थ उन्हें ज्ञात न था ('अखत नीति' जिज्ञास्यम्) । 'अखौरी' शब्द का अर्थ 'अकलुषित, निर्मल' ज्ञात होता है । प्राकृत में 'खउर' और 'खउरिअ' शब्द का अर्थ कलुषित दिया है (पासद०

३।२८ [दोहा]

वाणिज होइ विअक्खणा धम्म पसारइ हट्ट ॥११८॥

११८ [अ] वाणिअ । विअक्खणा । हट्ठ । [ख] पसारो ।

११८-११९. व्यापारी वह चतुर होता है जो धर्म के साथ

३३७)। उसी से 'अखौरि' शब्द बना ज्ञात होता है।

११७. सन्नगहि—यह शब्द अप्रचलित है किन्तु इसी ग्रन्थ में एक बार अभी आगे पुनः प्रयुक्त हुआ है (३।१५७)। सं० संज्ञा>प्रा० सण्णा>सण्ण>सन्न। जैसे, 'दिंतो य हत्थ सन्नं तेसिं स गिण्हए बहुलाभं (ददच्च हस्तसंज्ञां तेभ्यः स गृह्णाति च बहुलाभम् = जौहरी मूल्य चुकाते समय वस्त्र के भीतर हाथ रख कर इशारा देते हैं और बहुत लाभ कमाते हैं; सुपासनाह चरिअ, कमल सिट्ठिकहा, गाथा १७; पृ० २७६)। हत्थसन्न = हाथ का संकेत या इशारे। जौहरियों में आपस में रत्नों का मूल्य बताने की आज भी यही प्रथा है। इसी से प्राचीन गुजराती और प्राचीन हिन्दी आदि में 'सान' शब्द संज्ञा के लिए प्रयुक्त होता है। वही संज्ञा शब्द यहाँ है जिसका अर्थ राजकीय चिह्न या मुद्रा था। 'सन्नग्गह फरमान' में यह अर्थ स्पष्ट है अर्थात् शाही फरमान राजकीय मुद्रा से मुद्रित हुआ। अत्यन्त विश्वासपात्र व्यक्ति की सुरक्षा में राजकीय मुद्रा रक्खी जाती थी और शाही आदेश से वह उन्हें फरमान, परवाने आदि पर लगाता था। कौटिल्य में इस प्रकार के व्यक्ति के लिए 'मुद्राध्यक्ष' शब्द आया है। सोमेश्वर के लिए 'सन्नगहि' शब्द उसी पद का वाचक है।

११८. वाणिज—सं० वाणिज (= व्यापारी)>प्रा० अप० वाणिअ >अव० वाणिज।

भित्ता मित्ता कंचना विपत्र काल कसवट्ट ॥११९॥

३।२९ [गद्य]

तैसना परम कष्ट काष्ठा करे प्रस्ताव दुहु सोदर समाज ॥१२०॥
अनुचित लज्जा, आचारक रक्षा गुणक परीक्षा ॥ १२१ ॥
हरिश्चन्द्र क कथा नल क व्यवस्था। ॥ १२२ ॥

---

११९ [अ] तित्ता। [वि] पअ। कसवट्ट। विपथ। तसुवट्ट।
१२० [अ] प्रस्ताव। [क] 'प्रस्तार' अपपाठ है। [ख] दक्षा [काष्ठा]। दू सहोवर
१२१ [अ] सामाजं। लाज। [ख] अचितत लाज।
१२२ [ख] की [क के स्थान पर]।

अपना हाट फैलाता है। भृत्य और मित्र वे उत्तम हैं जो विपत्ति रूपी कसौटी पर कसे जाकर शुद्ध कंचन की तरह खरे उतरते हैं।

१२०–२२. उसी प्रकार परम कष्ट की सीमा पर पहुँच कर दोनों भाइयों ने आपस में समाज या परामर्श करके ऐसा प्रस्ताव किया—जो अनुचित है उससे लज्जा की जाय, आचार की रक्षा की जाय, गुणोंकी परीक्षा ली जाय। हरिश्चन्द्र की कथा और नल पर आई हुई आपत्ति को मन में रक्खा जाय।

विअक्खणा = विचक्षण, चतुर, निपुण।
११९. विपत्र—सं० विपद् > प्रा० विपय > अव० विपअ।
कसवट्ट—सं० कषपट्ट > प्रा० कसवट्ट (= कसौटी का पत्थर)।
१२०. काष्ठा = सीमा, चरम अवधि।
१२१. समाज = सभा, परिषद्, मन्त्रणा।

रामदेव क रीति, दान प्रीति, मित्र क पतिग्गह, साहस उत्साह ॥१२३॥
अकृत्य वाधा, बलि कर्ण दधीचि करो स्पर्धा साध ॥१२४॥

३।३० [दोहा]

तं षणे चिन्तइ एक्क पइ कित्तिसिंह वर राय ॥ १२५ ॥

---

१२३ [अ] गुण क प्रीति। मित्र क पतिग्गह।
[क] दाम क प्रीति। [ख] मित्र····उत्साह के स्थान पर मित्र परिगाहण उत्साह।

१२४ [अ] बाधब्बलि करणं [ख] अकीत्ति। करो (= करो)। सर्द्धा। साध पाठ नहीं है।

१२५ [अ] खणे। चिंतइ। वर (=अरु) राए। [क] अरु।
[ख] चिंतिअ। गुरु।

---

१२३. भगवान् रामचन्द्र ने जिस रीति से कष्ट का समय बिताया उसका स्मरण किया जाय। दान देने में प्रीति रक्खी जाय। मित्रों से दान या सहायता एकत्र की जाय। साहस के साथ उत्साह कायम रक्खा जाय।

१२४. जो करने योग्य नहीं है उसे रोका जाय। बलि, कर्ण और दधीचि के दान की स्पर्धा की इच्छा रक्खी जाय।

१२५–१२६. उस क्षण उत्तम नरेश कीर्तिसिंह के मन में

---

१२२. व्यवस्था = हालत, एक के बाद एक आपत्तियों का आना।
रामदेव = भगवान् रामचन्द्र।

१२३. पतिग्गह—सं० प्रतिग्रह > प्रा० पडिग्गह, पटिग्गह (= दी हुई वस्तु का स्वीकार करना)।

१२४. साध—सं० श्रद्धा > प्रा० अप० साध (= इच्छा)।

अम्हह एत्ता दुक्ख सुनि किमि जिव्विह मुज्भु माए ॥ १२६ ॥

अच्छै मन्ति विअक्खणा तिरहुति केरा खंभ ॥१२७॥

मुज्भु माय निअ दीजिहि हथल वंघ ॥१२८॥

---

१२६ [अ] अम्हह । एत्तेवो । दुःरख । जिव्विवउ । मुझु पाठ नहीं ।

[क] अम्मह । ज्जिव्विह । माजे ।

[ख] तुम्हें अह्मे दुक्ख सुनि किमि जिअवो (मुझु ?) माय ।

१२७ [अ] यह पद्य अ तथा क दोनों प्रतियों में नहीं है । अतएव प्रक्षिप्त जान कर पाद टिप्पणी में रक्खा गया ।

एक ही चिंता थी कि हमारा इतना दुःख सुन कर हमारी माता कैसे जीवित रहेगी ।

१२७-१२८. तिरहुत के खंभ हमारे चतुर मंत्री तो वहाँ हैं ही । मेरे हाथ को माता ने स्वयं उनके हाथ पर रख कर बाँध दिया था ।

---

१२५. पइ—सं० प्रति>प्रा० पडि, पइ ।

१२६. एत्ता—सं० एतावत्>अप० एत्तए 7 अव० एत्ता (पासइ० २४१)

१२७. अच्छै—प्रा० अच्छै (= विद्यमान है, है) ।

१२८. हथल—सं० हस्त तल (= हथेली) ।

३।३१ [छंदः—पज्झटिका]

तसु अच्छए मन्ति आनन्द खाण ॥१२६॥
जे सन्धि भेद विग्गहउ जाण ॥१३०॥
सुपवित्त मित्त सिरि हंसराज ॥१३१॥
सरवस्स उपेख्खइ अह्म काज ॥१३२॥

---

१२९ [अ] तसु (= तहाँ) । मत्ति (= मन्ति) । आनंद ।
[क] तहाँ ।

१३० [अ] सधि । भेअ । विग्गहवो ।

१३२ [अ] सव्वस । उपेख्ख ।

१२९-१३०. उस माता के पास आनन्देश्वर नाम का मंत्री है जो संधि और विग्रह के भेद को जानने वाला है।

१३१-१३२. और भी, श्री हंसराज नाम का शुद्ध हृदय का मित्र है जो हमारे सब काम-काज की देख-भाल करता है।

---

१२९. तसु—'क' प्रति में 'तहाँ' और 'अ' प्रति में 'तसु' पाठ है जिसका अर्थ संस्कृत टीकाकार ने 'तस्याः' किया है। अछए—अच्छ धातु प्रा०, अप०, प्राचीन हिन्दी, प्राचीन गुजराती आदि में प्रसिद्ध है। उसी के अच्छइ, आछइ, आछय आदि रूप बहुधा प्रयुक्त हुए हैं।

आनंदखाण—इस 'खाण' शब्द का तुर्की 'खान' शब्द से कोई संबंध नहीं है वरन् यह सं० स्थाणु > प्रा० अप० खाणु का अवहट्ट रूप है। नामों के अंत में इसका वही अर्थ है जो शिववाची ईश्वर शब्द का है। मंत्री आनंदेश्वर, जो सन्धिविग्रहिक पद का अधिकारी भी था।

१३०, जाण—सं० ज्ञानिन् > प्रा० अप० जाणि > अव० जाण।

३।३२

सिरि भम सहोअर राअसिंह ॥१३३॥
सङ्गाम परक्कम रुट्ठ सिंह ॥१३४॥
गुणे गरुअ मन्ति गोविन्द दत्त ॥१३५॥
तसु वंस बडाइ कहओ कत्त ॥१३६॥

३।३३

हर कउ भगत हरदत्त नाम, ॥ १३७ ॥

---

१३३ [अ] सहोहर (= सहोअर) ।
१३४ [अ] संग्राम ।
१३५ [अ] मंति । गोविंद दत्त ।
१३६ [अ] वंश । बडाई कहब ।
१३७ [क] क ।

१३३-१३४. हमारे सगे भाई राजसिंह हैं जो युद्ध भूमि में क्रोधित हुए सिंह के समान पराक्रम दिखाते हैं ।

१३५-१३६. गुणों में श्रेष्ठ मंत्री गोविन्द दत्त हैं । उनके कुल की बड़ाई कहाँ तक कही जाय ?

१३७-१३८ शिव का भक्त हरदत्त (सेनापति) है, जो

---

१३४. रुट्ठ सिंह = क्रोधित हुआ सिंह, जिसे क्षुभित सिंह या अप० में खोम्माणसिंह (सं० क्षोभ्यमाण सिंह) भी कहते थे ।

१३६. कत्त—सं० कुतः > प्रा० अप० कत्तो अथवा सं० कियत् > प्रा० अप० कित्त > अव० कत्त (= कितनी) ।

संगाम कज्ज जनि परसुराम ॥ १३८ ॥
हेरेउ हरिहर धम्माधि कारि, ॥ १३९ ॥
जिसु पणअत्तिअ पुरसत्थ चारि ॥ १४० ॥

---

१३८ [क] सङ्गाम कम्म अज्जुन समान ।
[ख] (हरदत्त) माणो, सङ्गाम परक्कम परसुराम ।
१३९ [क] हर धम्मावीकारी ।
[ख] हरि हर ।
१४० [अ] तसु पलत्ति हो पुरुसथ्थि चारि ।
[क] पण तिण लोइ । चारी ।

युद्ध कर्म में परशुराम के समान है ।

१३९-१४० धर्माधिकारी (न्याय विभाग) को हरिहर देखता है, जिसने धर्म अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को लोक में प्रकट कर दिया है ।

---

१३९. हेरेउ—'क', 'ख' प्रतियोंमें यह शब्द नहीं है । 'अ' प्रति में है जो छन्द और अर्थ पूर्ति के लिये आवश्यक है । प्रा० अप० हेर (= देखना) । 'हेरउ' से लेकर छः पंक्तियाँ 'क' प्रति में नहीं हैं, किन्तु 'ख' और 'अ' प्रति में हैं अतएव एक पाठ परम्परा की प्रामाणिकता के कारण उन्हें मूल में स्वीकार किया गया है ।

धम्माधिकारी—धर्म्माधिकरण या न्याय विभाग । बाबूराम जी की मुद्रित प्रति में '—बि–' छापे की गलती है ।

पणअत्तिअ = प्रकट किये गये, व्यक्त किये गये । यह क्लिष्ट पाठ था । इसे 'ख' प्रति ने 'पणतिण लोइ' और 'अ' प्रति में 'पणत्ति हो' कर के सरल किया गया । 'पणतिण' करने से वाक्य में क्रिया का अभाव

३।३४

णय मग्ग चतुर ओज्झा भवेस ॥ १४१ ॥

---

१४१ [अ] नअ । चतुरह । [क] प्रति में 'णय पाठ नहीं है। मग । ओझा । मरेस । [ख] णय ।

१४१–१४२. उपाध्याय भवेश नय मार्ग के विद्वान् हैं जिन

हो जाता है और उसका ऊपर से अध्याहार करना पड़ता है। उसका अर्थ होगा—जिसका यह प्रण था कि तीन लोकोंमें चारों पुरुषार्थ भरे जाँय। बीकानेर की 'अ' प्रति के मूल में इस समय 'पलत्ति' पाठ है किन्तु संस्कृत टीकाकार ने 'प्रणतिना' अर्थ किया है जिससे ज्ञात होता है कि मूल पाठ का एक अंश निश्चय पूर्वक 'पणति' ही था। अब 'ख' प्रति के 'पणतिण लोइ' और 'अ' प्रति के 'पणति हो' इन दोनों शब्द रूपों के पीछे जो कवि का मूल पाठ था उस पर विचार करने से विदित होता है कि यहाँ मूल शब्द 'पणअत्तिअ' था, जिसका अर्थ है, प्रकट किया गया। देशी० ६,२० के अनुसार 'पणअत्तिअ' देशी शब्द था, जिसका अर्थ था 'प्रकटित या व्यक्त, किया हुआ'। सं० १६७२ के संस्कृत टीकाकार से पहले ही विद्यापति का यह श्रेष्ठ पाठ क्लिष्ट बन चुका था और उसका अर्थ अविदित हो गया था, जैसा कि संस्कृत टीका से ज्ञात होता है।

१४१. णय मग्ग = नीति मार्ग। धर्म शास्त्र, स्मृति, निबन्ध ग्रन्थों के अनुसार शोधात्मक निर्णय का कार्य।

भवेस—'अ' प्रति का यही पाठ शुद्ध है। मुद्रित प्रति का मरेस अपपाठ है।

जसु पणति न लग्गै कलुख लेस ॥ १४२ ॥
अरु न्याय सिंघ राउत सुजाण, ॥ १४३ ॥
संगाम कज्ज अज्जुण समाण ॥ १४४ ॥

३।३५ [दोहा]

तसु परवोधें माए मुझु धुअ न धरीहइ सोक ॥१४५॥

---

१४२ [अ] जसु चित्त न लग्गइ कलुष लेस । [क] तिसु पणति ण लग्गै कलु खलेस ।

१४३ [अ] सुजान । [क] अरु न्याय—इसमें नहीं हैं । राउत्त । [ख] न्याय ।

१४४ [अ] संगाम । समान । [क] परक्कम (कज्ज की जगह) ।

१४५ [अ] परवोधे । माअ । मरु (= मुझु) । [क] धरिज्जिह । सोग । [ख] मघु (= मुझु) । (धुअ) णहि धरि है सोक ।

की व्यवस्थाओं में तनिक भी त्रुटि नहीं पाई जाती । और, न्याय-सिंह रावत विज्ञ हैं, जो संग्राम कार्य में अर्जुन के समान हैं ।

१४५-१४६. उनके समझाने से निश्चय ही माँ मेरे लिए

---

१४२. पणति—यह 'क' तथा 'ख' प्रति का पाठ है । 'अ' प्रति में इसे सरल करके 'चित्त' पाठ बनाया गया है । सं० प्रज्ञप्ति>प्रा० पण्णत्ति>अप० पणत्ति>अत्र पणति (= व्यवस्था, धर्म सम्बन्धी प्रश्न का शास्त्रीय निर्णय ।

कलुख लेस—तनिक सी भी त्रुटि अर्थात् जिनकी दी हुई व्यवस्था में कहीं कोई छोटी सी त्रुटि भी नहीं निकाली जा सकती चाहे कोई कितना भी धर्म ग्रन्थों का मन्थन करे ।

विपइ न आवइ तासु घर जसु अनुरत्ते लोक ॥१४६॥

३।३६

चापि कहओ सुरुतान के छाँटे करओ उपाए ॥१४७॥
विनु बोलन्त जो मन पलइ आव कत इत ओराए ॥१४८॥

---

१४६ [अ] विपत्त (=विपइ)। [क] अनुरत्तेओ लोग।
[ख] आवति>आवइ। जिसु अनुवर्तंत लोग।
१४७ [अ] चापि कहओं। छाटे कहवो। [क] छोट्टे।
[ख] कहिअ (=कहओ)। झाटे (=छोट्टे)। करिअ (=करओ)।
१४८ [अ] बोले जो। अवे। [क] आवे कत सह तज राए।
[ख] विनु बोलंते जन्म भरि एवे कत इत सराया।

शोक न करेगी। उसके घर विपत्ति नहीं आती जिस पर प्रजा का अनुराग होता है।

१४७-१४८. मैं आग्रह पूर्वक सुलतान से कहूँगा कि शीघ्र कोई उपाय करें।यदि विना बोले ही मन अपनी बात प्रकट कर देता तो आयु क्यों इस तरह बीतती ?

---

१४५. परबोधें—सं० प्रबोध (=समझाना)

१४७. चापि=दबाकर, आग्रह पूर्वक। सं० आक्रम्>प्रा० अप० चप्प (=आक्रमण करना, दबाना, पासह० ३९९)।

छाँटे=शीघ्र। देशी छंटो (=शीघ्र, देशीना० ३।३३, छंटो जलच्छटा शीघ्रश्चेति द्व्यर्थः)। यह श्रेष्ठ पाठ बिगड़ कर 'क' प्रति में 'छोट्टे', ख प्रति में 'झाटें' हो गया। अ प्रति में छाटे शुद्ध पाठ है,

किन्तु संस्कृत टीकाकार ने अर्थ ठीक नहीं किया, 'ऋजुना' लिखा है।

१४८. मन पलइ—'अ' और 'क' प्रति का यही पाठ है जो मूल पाठ था। पलइ धातु के चार रूप प्रा० अप० में हैं—(१) पल = जीमा, खाना; (२) सं० पत्>पल (= पड़ना, गिरना); (३) सं० पराथ्>पल = मागना; (४) सं० प्रकटय्>पल (= प्रकट करना, पासह ७०१)। यहाँ चौथे अर्थवाली पल धातु का प्रयोग हुआ है। देखिए, बिहु दल णव पल, प्राकृत पैंगलम् १,१५९, जहाँ संस्कृत टीका में 'पल' का अर्थ 'प्रकटयत' किया है। 'ख' प्रति में मन पलइ' का सरल पाठ 'जन्म-भरि' (= जन्म भर) किया गया है।

आव कत इत उराए—यहाँ तीनों प्रतियों के पाठ इस प्रकार हैं—

(क) आवे कत सह तजे राए।

(ख) एवे कत इत सराया।

(अ) अवे कत्त एत उराए।

इन तीनों से जिस मूल पाठ का उद्धार हो सकता है वह ऊपर लिखा है। आवे, एवे, अवे का शुद्ध पाठ आव (= आयु) था। सं० आयुष्>प्रा० अप० आउ (= आयु, जीवन काल, पासह० १३०)> अव०, प्राचीन हिन्दी आव (= आयु, शब्द सागर, पृ० २६६)।

'अ' और 'ख' प्रति से बीच का पाठ 'कत इत' सिद्ध होता है, जो वाक्य में सार्थक है। कत = क्यों, किसलिए (कत सिख देइ हमहिं कोइ भाई, अयोध्या का०, मानस। इत—सं० इति>प्रा० इइ, इति, इत्ति (कुमारपाल चरित, पासह० १६७)।

उराइ = समाप्त होना, बीतना। 'क' प्रति का 'तजेराए' स्पष्ट ही अपपाठ है। 'ख' प्रति का 'सराय' 'सिराय' (= बीतना) था जो सरल पाठ है। मूल पाठ ओराय>उराय था जो 'अ' प्रति में सुरक्षित है।

३।३७ [रड्डा]

जेन्ह साहस करिअ रण झंप ॥ १४९ ॥
जेन्ह अग्गि घस करिअ, जेन्ह सिंह केसर गहिज्जिअ ॥ १५० ॥
जेन्ह सप्प फण धारिअ, जेन्ह रुट्ठ हुअ जम सहिज्जिअ ॥ १५१ ॥
तेन्ह वेवि सहोअरहि गोचरिअउ सुरतान ॥ १५२ ॥

---

१४९ [अ] जेन्ने । झंप । [क] जेन्हें । छप्प ।
[ख] जेण । किअउ बल झंप ।
१५० [अ] जेन्नें । करिअ । जेन्नें सिंह केसर । [क] जेन्हें । जेन्हें ।
[ख] जेण । जेण । करिअ ।
१५१ [अ] जेन्नें । जमः । [क] जेन्हें । धरिज्जिह । जेन्हे । [ख] जेण (= जेन्हे) ।
१५२ [अ] तेन्ने । गोचरिअउ । [क] तेन्हे । सुरतान ।
[ख] सहोवरे (सहोअरहि) ।

१४९–१५०. जिन्होंने साहस के साथ रण में प्रवेश किया, जिन्होंने अग्नि में भी प्रवेश किया, जिन्हों ने बबर शेर के बाल भी पकड़ लिए,

१५१–१५३. जिन्होंने जीवित साँप का फन पकड़ लिया, जिन्होंने क्रुद्ध यमराज को भी सह लिया—ऐसे उन दोनों भाइयों

---

१४९. रण झंप = रण में एक दम कूदना या टूटना । सं० झम्पा >प्रा० झंपा (पासद्द० ४५५) 'ख' और 'अ' प्रतियोंसे झंप ही मूल पाठ ठहरता है ।

१५०. अग्गि घसि करिअ = अग्निमें प्रवेश किया । घस— सं० घस् >अप० घस (= धँसना, प्रवेश करना, पासद्द० ५९९)

तावै जीवन नेह रह जाव न लग्गइ मान ॥ १५३ ॥

---

१५३ [क] तावे न जीवन । जावें । [ख] जाय ।

ने सुल्तान से भेंट की। तभी तक जीवन में स्नेह रहता है जब तक पारस्परिक सम्बन्धमें मानका प्रवेश नहीं होता।

---

१५३. तावै जीवन नेह रह—इसमें स्नेह और मान इन की पारस्परिक स्थिति कही है। मान का अर्थ एंठ, क्रोध, अहंकार है। जहाँ स्नेह है वहाँ मान नहीं, जहाँ मान है वहाँ स्नेह नहीं। इसे ही जायसी ने रस और रिस कहा है। जहाँ रस रहता है वहाँ रिस नहीं और रिस के साथ रस नहीं (जेहि रिस तेहि रस जुगै न जाइ, पद्मावत ९०।६)।

लग्गइ = लगना, संग करना, सम्बन्ध करना। सं० लग् > प्रा० अप० लग्गइ (हेम० ४।२३०, ४२०, पासद्द० ८९५)।

संस्कृत टीकाकार ने इसके बाद एक छंद की टीका दी है पर मूल छन्द किसी प्रतिमें उपलब्ध नहीं है। ज्ञात होता है वह प्रक्षिप्त था। टीका यह है—

अइसना इत्यादि। एतादृश प्रस्तावे परम कष्टं स्वसज्जनिरपेक्ष कटु अकठोर महाराजधिराज श्रीमत्कीर्तिसिंह गोचरेण सुरत्राणस्य मनः करुणया स्पर्शि। प्रसन्नो भूत्वा पातिसाहो दृष्टः राज्यं त्यक्त्वं त्यक्ताः परिवाराः पितृबधेन सामर्षः परमदुःखेन परदेशे आगतः मां सर्वे भणन्ति। अद्य यावत् किमपि न प्राप्तम्। तेन दुःखेन निरपेक्षो भणति किं करोति राजकुमारः, स तव आननं अन्यं न संपद्यते। सर्वो दोषो अस्माकीनः। सर्वे नहि पण्डिताः। बपरवरखेत्यादि जिज्ञास्यं। लज्जां न मानयतु सज्जनाः धर्मंतिथि कथयित्वा यान्तु।

३।३८ (रड्डा)

तो पलट्टिअ काल सुपसन्न ॥१५४॥
पुनु पसन्न विहि हुअउ, पुनु वि दुक्ख दारिद्द खण्डिअ ॥१५५॥
कटकाई तिरहुत्ति राअ वअण उच्छाह मण्डिअ ॥१५६॥
फलिअउ साहस कप्पतरु सअग्गह फरमांण ॥१५७॥

---

१५४ पुनवि सुरुतान । [क] ताप लहिअ ।
[ख] ता पट्टिअ विमुहु पुनु काल ।
१५५ [अ] पुनु [प] सन्न । हुअइ । दुख्ख । खंडिअ ।
१५६ [अ] कटकांइ । राअ । र अणउ । [क] कटकावी । राअेरण । उच्छाहे मण्डीआ । [ख] कटकाइ । रायवर पण (= राअे रण) ।
१५७ [अ] सानुग्गह । फरमाण । [क] साहस कम्म अरु । [ख] कप्पतरु । सानुराग (= सअग्गह) ।

१५४–१५६. तब (कीर्तिसिंह के शाह से भेंट करने पर) अनुकूल समय पलटा । पुनः विधाता प्रसन्न हुआ । पुनः दुख और दारिद्र्य का नाश हुआ । (शाही) सेना की कूच से तिरहुत के राजा का मुख उत्साह से खिल उठा ।

१५७. उसके साहस का कल्पवृक्ष फलित हुआ (और) शाही फरमान पर मुहर लग गयी ।

---

१५६. कटकाई = कटक या सेनाकी यात्रा, फौज की कूच ।

तिरहुत्तिराअ वअण—संस्कृत टीका में 'तोर भुक्तिराजवदनः' अर्थ किया है । 'अ' प्रति में मूल में 'रअणउ' पाठ है । उसी आधार पर 'वअणउ' मूल पाठ का संशोधन किया गया है जो अर्थ की दृष्टि से

पुहवी तासु असक्क की असु पसन्न सुरताण ।।१५८।।

३।३९ [दोहा]

पक्ख ण पालै पउआ, अंग न राखै राउ ।।१५९।।

---

१५८ [अ] जोजसु । [ख] पुहमी ।
१५९ [क] यह पद्य इस प्रतिमें नहीं है । यह 'अ' और 'ख' प्रति में ही प्राप्त होता है ।

---

१५८. जिस पर सुलतान प्रसन्न हों उसके लिए पृथिवी पर क्या करना कठिन है ?

१५९–१६०. यदि सामान्य जन अपने पक्षका पालन न

भी सुसंगत है । वदन > वअण (= मुख) ।

१५८ सन्नग्गह—'क' प्रति का यह श्रेष्ठ पाठ है । 'ख' प्रति में 'सानुराग' सरल पाठ है । 'अ' प्रतिमें 'सानुग्गह' पाठ मान कर 'सानुग्रह' अर्थ दिया है । सन्न = संज्ञा, मुहर, शाही छाप । ग्गह—सं० ग्रह धातु से प्रा० अप० गह (= ग्रहण करना, लेना) 'गह के गकार को 'सण्ण' पूर्व में होने के कारण द्वित्व होकर 'ग्गह' बना (पासद्द०-३८१, ग्रह > गह > °ग्गह) । सन्नग्गह फरमाण = शाही फरमान ने बादशाह की मुहर प्राप्त की । खुशनवीस-द्वारा लिखे जाने के बाद शाही फरमान पर सबसे ऊपर शाही मुहर लगायी जाती थी । मुहर लगाने के स्थान और नियम तुर्क कालसे मुगल काल तक कुछ-कुछ बदलते रहे (दे० श्रीयदुनाथ सरकार, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० २२४-२५ फरमान लिखाने और मुहर करनेके सरकारी नियम; आईन अकबरी, ब्लॉखमैन कृत अनुवाद, पृ०२७३-७४, भाग २, आईन १२, फरमानों

फूर ण बोलै सूअण धम्म मंति कह जाउ ॥१६०॥

करे और राजा जिसे अपने पक्ष में लिया है उस अंग की रक्षा न करे, यदि सज्जन स्पष्ट सत्य न कहे तो धर्म का आश्रय लेनेवाला कहाँ जाय ?

पर मुहरों का क्रम)। पहले कीर्तिसिंह के मंत्री सोमेश्वर को सञ्जगह (मुद्राध्यक्ष) कहा जा चुका है।

यह दोहा केवल 'अ' और 'ख' प्रतिके मूल पाठमें है। इसपर संस्कृत की टीका नहीं है जिससे ज्ञात होता है कि यह उस आदर्श प्रति में नहीं था जिसके आधारपर संस्कृत टीकाकार ने अपनी टीका लिखी थी। किन्तु सं० १६७२ के पूर्व इसकी रचना हो चुकी थी।

पक्ख—सं० पक्ष > प्रा० पक्ख (= वह नायक या प्रधान जिसके दल या जत्थे को किसी सामान्य व्यक्ति ने अपना बनाया हो)।

पाउअ—'ख' तथा 'अ' दोनों में 'पउआ' पाठ है किन्तु यह प्रायः सुनिश्चित है कि इसका शुद्ध पाठ 'पाउअ' या 'पाउआ' यहाँ होगा। 'पाउअ' का अर्थ था प्राकृत जन, सामान्य मनुष्य। सं० प्राकृत > पाउअ (पासद्द० ७२०)।

पालै—इसका एक अर्थ तो पालन करना या रक्षा करना है, किन्तु यहाँ इस धातुका दूसरा अर्थ संगत होता है अर्थात् पहुँचना, पार उतरना। सं० पारयति > प्रा० पालइ (पासद्द० ७२०)। आशय यह कि सामान्य जन या सिपाही, जो अपने पक्षके दल को पार लगाता है, उसे बीचमें छोड़ कर नहीं भागता। अंग न राखै राउ—यह पहले वाक्य का उलटा है। यदि राजा अपने अंग अर्थात् पक्ष लेनेवाले या तरफदार की रक्षा न करे। फूर = सत्य। सं० स्फुट।

३।४० [पृथ्वी छंद]

बलेन रिपुमण्डली समरदर्पसंहारिणा ॥ १६१ ॥
यशोभिरमितो जगत्कुमुद कुन्द चन्द्रोपमैः ॥ १६२ ॥
श्रियावलितचामरो द्विपतुरङ्गरङ्गस्थया ॥ १६३ ॥

यह 'अ' तथा 'शा' प्रति का पाठ है। क में संस्कृत पद्यों का पाठ बहुधा अशुद्ध है और ख में तो नितांत भ्रष्ट है।

१६१ [क] संघारिणा।

१६२ [अ] अमितो। कुमुदमुंद वृन्दोपमैः ॥
　　[क] अभितः, [ख] अभितः।

१६३ [अ] चकित (वलित)। चामर द्विप (चामर द्वय)।
　　[क] श्रियावलित चामरद्वयतुरङ्गरङ्गस्थया।

१६१–१६२. जिसने अपने बलसे शत्रुओं की मण्डली के युद्ध गर्व का संहार कर दिया, जगत् में फैले हुए कुमुद, कुन्द और चन्द्र के समान उज्जवल यशों से जिसकी माप नहीं हो सकी (अर्थात् जिसका यश संसार में नहीं समाया), हाथी और अश्व-सेना की रणभूमि में विराजने वाली लक्ष्मी जिसके दोनों पार्श्वों में चमर डुलाती थी, जिसका साहस अंतमें सफल हुआ, ऐसे कीर्ति-सिंह राजा की सदा जय हो।

---

१६२. अमितः 'क', 'ख' प्रतियों में 'अभितः' पाठ अशुद्ध है। 'अ' प्रति का 'अमितः' शुद्ध पाठ है।

१६३. रङ्ग = रणभूमि।

सदा सफलसाहसो जयति कीर्तिसिंहो नृपः ॥१६४॥

इति श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां तृतीयः पल्लवः ॥

---

१६४ [अ] कीर्तिसिंहः ।

[अ] में "इति सरस कवि कंठहाराभिनव जयदेव महाराज पण्डित ठक्कुर श्री विद्यापति विरचितायां तृतीयः पल्लवः॥" लिखा है।

यह श्लोक 'क', 'ख', 'अ', 'शा' चारों प्रतियों में है किन्तु अन्य संस्कृत श्लोकों की भाँति इसपर भी संस्कृत की टीका नहीं है।

द्विपतुरंग—यह 'अ' प्रतिका पाठ है। यही शुद्ध है।

यह छंद 'पृथ्वी' छंद में है। लक्षण–जसौ जस यला वसु ग्रह यतिश्च पृथ्वी गुरुः (= जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, लघु, गुरु)

कीर्तिलता का तृतीय पल्लव समाप्त



[चतुर्थः पल्लवः]

अथ भृङ्गी पुनः पृच्छति—

४।१ [छपद]

कह कह कन्ता सच्चु भणन्ता किमि परिसेना सञ्चरिआ ।। १ ।।
किमि तिरहुत्ती होअउँ पवित्ती अरु असलान किक्करिआ ।। २ ।।

[अ] भृंगी । पृछति । [ख] में नहीं है ।

१ [अ] कंता । सव्व । भणंता । संचरिअ ।

२ [अ] किमिति । हुअउ । असलाने । किक्करिअ । [ख] हुइ ।

तब भृंगी फिर पूछती है—

१-२. हे प्रिय, यथार्थ कहते हुए पुनः वर्णन करो कि किस प्रकार क्रम से सेना चली, तिरहुत में क्या हाल हुआ और असलान ने क्या किया। (भृंग ने उत्तर दिया—) मैं कीर्तिसिंह

---

१. सच्चु—सं० सत्य > प्रा० अप० सच्च = (१) सचसच (२) यथार्थ। परि = क्रमसे, चारों ओर से।

२. पवित्ती—सं० प्रवृत्ति > प्रा० अप० पउत्ति, पइत्ति > अव० पवित्ति = समाचार, वृतान्त।

कित्तिसिंह गुण हओ कओ पेअसि अप्पहि कान ॥ ३ ॥
बिनु जने विनु घने धन्धे बिनु जें चालिअ सुरुतान ॥ ४ ॥
गरुअओ वेवि कुमारओ गरुअ मलिक असलान ॥ ५ ॥
जासु चलाए जासु के आपे चलु सुरतान ॥ ६ ॥

---

३ [अ] हओ। 'कओ' पाठ नहीं है। काण।
[ख] कहउ (कओ)। पेसिवि (पेअसि)।
४ [अ] विन्नु। विणु। विनु। जे। सुरताण। [ख] चालेउ।
५ [अ] गरुवो वेवि कुमारो। मलिक।
[ख] 'गरुअओ सुरुतान' नहीं है।
६ [क] जो सुलाञे जोहि के आपे चलु सुरुतान।
[शा] जासु लाञे जाहि के आये।

के गुण कहता हूँ। हे प्रिये, कान दे कर सुनो।

४. बिना व्यक्तिविशेष-द्वारा पहुँच के, बिना धन या भेंट नजर दिए हुए और बिना किसी छल-छिद्र के जिन्होंने सुल्तान को सेना भेजने के लिए प्रेरित कर दिया।

५–६. वे दोनों राजकुमार गुणों में श्रेष्ठ थे जिनकी प्रेरणा से, और वह मलिक असलान भी श्रेष्ठ था, जिसके कारण सुलतान स्वयं चले आए।

---

४. धन्धे = दुनियावी व्यवहार। धींग धरमध्वज धंधक धोरी (बालकाण्ड १२। ४)। दे० धंधा = लज्जा, शरम से इस शब्द का सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। वरन् सं० द्वन्द्व > दंद > धंध ज्ञात होता है।

३. अप्पहि—सं० अर्पय् > प्रा० अप्प = अर्पण करो।

४।२ [गद्य]

सुरुतान के फरमाने ॥७॥
सगरे हसम रोल पलु, (कादी षोजा मषद्दूम लरु)
खोदवरद खत उपलु ॥८॥

७–१० [अ] सुरतान के चलंते समस्ता हसम रोलपलु। खोदवरद खत उपलु वाद्य वाजु सेवा साजु। करि तुरग पदाति संहल भेल बाहर कए दहलेज देल।

७–८. सुलतानके हुक्म होते ही सारी पैदल सेनामें शोर मच गया। सबलोग पूछने लगे—'कहाँ जानेके लिए हुक्म निकला है ?'

इस गद्य भागका पाठ कई अपरिचित फारसी शब्दोंके कारण अत्यन्त क्लिष्ट था। अतएव उसे सरल बनानेकी दृष्टिसे वर्तमान पाठमें गड़बड़ी आ गई जैसा कि निम्नलिखित टिप्पणीसे ज्ञात होगा।

७. फरमाने—'अ' प्रतिमें 'चलन्ते' पाठ है, किन्तु अभी सुलतान चले नहीं हैं, अतएव 'क' और 'ख' प्रतियोंका 'फरमाने' पाठ ही संगत है।

८. सगरे हसम रोल पलु—यह क्लिष्ट पाठ था जिसके तीन पाठान्तर हो गये—

'अ'—समस्ता हसम रोल पलु।

'क'—सगरे राह सम।

'ख'—सगरे नगर।

वस्तुतः इसमें 'हसम' शब्द मूल अर्थकी कुञ्जी है। संस्कृत टीकाकारने भी उसे नहीं समझा और उसका अर्थ 'समस्त सेनायां शब्दः पतितः' ऐसा किया। संभव है जो मूल प्रति उसके सामने थी उसमें

भी 'हसम' को सरल करके 'सेया' पाठ बना दिया गया हो। 'हसम' पैदल सेनाके लिए पारिभाषिक शब्द था।

हसम—अ० हश्म (= अनुयायी, अनुचर, तम्बूमें रहनेवाले नौकर चाकर या कुटुम-कबीला, स्टाफा० ४२१)।

मुगल सेनामें पैदल फौजको हश्म (बहुवचन 'आहशाम') कहते थे। इनसे ऊँची घुड़सवार सेना होती थी जिसके दो भेद थे—बागरीर या पायगाह जिसे सरकारी वेतन और घोड़े दिये जाते थे। दूसरे सिलाह-दार जो अपने घोड़े और हथियार लाते थे और जिनका वेतन अधिक होता था (श्री यदुनाथ सरकार, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० २०३-४)। विद्यापतिने यहाँ फौजकी चालू शब्दावलीका पारिभाषिक शब्द रक्खा है। वस्तुतः 'सगरे हसम रोल' का ही अर्थ—'लक्षावधि पयदा क शब्द' था, जो किसी प्रतिमें पृष्ठके पार्श्व भागमें या पंक्तियोंके बीचमें लिख दिया गया था और वही प्रतिलिपिकर्त्ता-द्वारा बादमें मूलमें ले लिया गया। इसीलिए 'ख' और 'अ' प्रतिमें यह अंश नहीं है। हर्षका विषय है कि पृथ्वीराज रासोमें भी 'हसम' शब्द इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है—

हसम हयग्गय देस अति पति सायर स्रज्जाद।
पबल भूप सेवहिं सकल धुनि निसान बहु साद॥
पद्मावती समय, कविता कौमुदी १।१२४।

कादी षोजा मखदूम लरु—यह अंश भी 'अ' 'क' प्रतिमें नहीं, केवल 'ख' प्रतिमें है और स्पष्ट ही प्रक्षिप्त है। इसका अर्थ यह होगा कि काजी, ख्वाजा, मखदूम इन पूजा-पाठ करने और भविष्य बतानेवाले लोगोंकी मौज बन आयी। लरु < सं लल्। लल = मौज करना, (पासह० ८९८)।

खोदवरद—यह केवल 'अ' प्रतिका पाठ है। वस्तुतः यह अति क्लिष्ट मूल शब्द था जिसे विद्यापतिने 'हश्म' की तरह चालू सैनिक शब्दावलीसे लिया है। फा० खुदा बुर्द = कहाँ चलना है, यात्राका

वाद्य वाजु, सेना साजु ॥९॥
करि तुरग पदाति संघल मेल, बाहर कए दहलेज देल ॥१०॥

[क] सुरुतान के फरमाने सगरे राह सम रोल पलु, लक्षावधि पयदा क शब्द वाद्य पडु परवषत उँप्पलु। वाद्य वाजु सेना मजु। करि तुरङ्ग पदादि संघट्ट भेल, बाहर कए दनेज देल।

[ख] सुरुतानके फरमाने सगरे नगर रोल पलु, कादो षोजा मषडूम लरु। वाद्य वाजु सेण साजु। करि तुरङ्ग पदाति सवद भेल, वाहर कए दहलीज देल।

९--१०. उसी समय बाजा बजा और सेना सजने लगी। हाथी, घोड़, पैदल इकट्ठे हो गये और बाहर जानेके लिए शाही द्वार परसे गुजरने लगे।

गन्तव्य स्थान क्या है? (स्टाफा० ४२१, अंग्रेजी Whither Bound?)। खत उपलु—यह पाठ 'अ' और 'क' दोनों प्रतियोंमें है और निस्सन्देह यह मूल पाठ था। ख़त = हुक्म, शाही परवाना। उपलु—सं० उत्पत् > प्रा० अप० उप्पलु (= निकलना, जारी होना)। 'खोदवरद खत उपलु' इस पूरे वाक्यका तात्पर्य हुआ—कहाँ जानेके लिए शाही हुक्म निकला है?

९. सेना साजु—'ख' और 'अ' प्रतिका पाठ 'सेना साजु' है। 'क' प्रतिके मुद्रित पाठमें 'मजु' छापेकी अशुद्धि जान पड़ती है।

१०. संहल—'क' प्रतिमें संघट्ट और 'अ' प्रतिमें 'संहल' पाठ है। अर्थ दोनोंका एक है—समूह, समुदाय। सं० संभार > प्रा० संहर (संहाओ, संहरो, निअरो, पाइअलच्छिनाममाला, पासद्द० १०६९) > अव० संहल = निकर, समूह।

४।३ [दोहा]

सज्जह सज्जह रोल पलु, जानिअ इत्ति न मित्ति ।।११।।
राय मनोरथ संपजअ कटकाजी तिरहुत्ति ।।१२।।

११. [अ] हुअ । जानेअ । [क] इथ्यि न रिथ्यि ।
[ख] सद्द हुअ (–पलु) । इत्ति ण मित्ति
१२. [अ] राए । कटकाइ । [क] मनोहर । संपलिअ ।

११–१२. 'सब लोग तैयार हो जाओ, तैयार हो जाओ', इस प्रकार का शोर मच गया । कोई उसका कारण या उद्देश्य नहीं समझता था । तिरहुत के लिए सेना के प्रयाण से राजा कीर्तिसिंह का मनोरथ पूरा हुआ ।

दहलेज—अ० फा० दहलीज़ = शाही महलके बाहरी और भीतरी दरवाज़ेके बीचकी जगह, ड्योढ़ी (स्टाफा० ५४९) । दहलीज देना = सेनाका शाही महलके आगेसे गुजरना ।

११. सजह—सं० सस्ज > प्रा० अप० सज्ज (= तैयार होना, तैयार करना, सजाना, पासद्द० १०७३) ।

इत्ति = इयत्ता ।

मित्ति—सं० मिति > प्रा० अप० मित्ति (= मान, परिमाण, सापेक्षता, पासद्द० ८५५) ।

१२. मनोरथ—'अ' प्रतिमें यह पाठ है । 'क' प्रतिका मुद्रित पाठ 'मनोहर' है । मूलपाठ मनोरह (= मनोरथ) होना चाहिये ।

संपजिअ—सं० सम्पद्यते > प्रा० सम्पजइ (= पूरा होना, सम्पूर्ण होना) । 'क' प्रति में 'संपलिअ' पाठ है । सं० संपत् > अप० संपल (= गिरना, घटित होना या घटना, पासद्द० १०५७) ।

कटकाजी = कटक-यात्रा, सेना का प्रयाण ।

४।४ [दोहा]

पढमहि सज्जिअ हत्थिवल, तो रह तोरि तुरङ्ग ॥१३॥
पाइक्कह चक्कह को गणइ चलिअ सेन चतुरङ्ग ॥१४॥

---

१३ [अ] हत्थिव्वल । तोरितुरङ्ग । [क] हथ्यिवर । [ख] सज्जि ।
१४ [अ] जांनकि चालिअ (को गणइ चलिअ) । सेन्न व तुरङ्ग ।

१३–१४. पहले हाथी तैयार होकर चले। पीछे रथ और उसके बाद घोड़ोंकी सज्जित सेना चली। पैदल सेना के समूह को कौन गिन सकता था ? इस प्रकार चतुरंगिणी सेना की कूच हुई ।

---

१३. पढमहि—सं० प्रथम > प्रा० अप० पढम (= पहले, पासद्द० ६५०) ।

हत्थिवल = हाथियोंकी सेना । 'क' प्रतिका पाठ 'हथ्यिवर' है किन्तु उससे 'हत्थिवल' अपेक्षाकृत उत्तम पाठ है ।

तो—ततः > तओ > तो (= उसके बाद) ।

रह—सं० रथ > प्रा० अप० रह ।

तोरि—सं० ततः अपर > तओ अवर > तोवर > तोउर > तोरि । 'ख' प्रति में 'सज्जि' और 'अ' 'क' में 'तोरि' पाठ है ।

१४. पाइक्कह—सं० पादातिक > प्रा० पाइक्क (= पैदल सैनिक, हेम० २।१३८, पासद्द० ७१९) ।

चक्कह—सं० चक्र > प्रा० अप० चक्क (= समूह, पासद्द० ३९५) ।

हस्ति सेना का वर्णन

४।५ [छन्द—मधुभार]

अणवरत हाथि, मयमत्त जाथि ॥१५॥
भागन्ते गाछ, चापन्ते काछ ॥१६॥
तोरन्ते बोल, मारन्ते घोल ॥१७॥

[ख] मधुमार छन्द ।
१५. [अ] अनवरत । मअमत्त ।
१६. [अ] भागन्त आछि ।
१७. [अ] तोरंते रोल । मारन्ति । [ख] उट्ठन्त रोर (तोरन्ते बोल) ।

१५–१६. मदमत्त हाथियों का निरन्तर दल मार्ग के वृक्षों को तोड़ रहा था, और दोनों पार्श्वभागों को दबा रहा था ।

१७–१८. वे सेना के कोलाहल को और अधिक बढ़ा रहे थे । उनके बीचमें जो पड़ता वह उनकी रगड़ से मारा जाता था । वे

---

१५. अणवरत हाथि = हाथियों का निरन्तर सैन्यदल, गजघटा । जाथि—सं० यत्र > अप० जत्थ > अव० जाथ, जाथि ।

१६. भागन्ते—सं० भग्न > प्रा० भग्ग (= टूटा हुआ, तोड़ा हुआ) > उसी से भाँगना धातु (= तोड़ना, खण्डित करना) ।

गाछ—सं० गच्छ = वृक्ष दे० आप्टे संस्कृत कोश ।

१७. तोरन्ते = ऊँचा उठाते हुए । सं० तोल्–तोलय् धातु का प्राकृत धात्वादेश तुल (हेम० ४, २५) । इस धातु के तीन अर्थ होते हैं– (१) तोलना (२) उठाना (३) ठीक-ठीक निश्चय करना (पासद्द०

सङ्गाम थेघ, भूमिट्ट मेघ ॥१८॥
अन्धार कूट, दिगविजय छूट ॥१९॥
ससरीर गव्व, देखन्ते भव्व ॥२०॥

---

१८. [अ] संगाम । भूमिट्ठ । [ख] भूमि भेख (भूमिट्ट मेघ) ।
२०. [अ] सशरीर गर्व्व । देखंति भव्व । [ख] सव्व (भव्व) ।

युद्ध की टेक थे और पृथ्वी में उतर कर आये हुए काले मेघ से जान पड़ते थे ।

१९–२१. राशीभूत अन्धकार के समान थे और दिग्विजय के लिए उसी समय बन्धन से मुक्त किये गये थे । वे मानो मूर्तिमान

---

५४४) । यहाँ 'उठाना' यही अर्थ संगत है । इसी का पर्याय 'उट्टन्त रोर' पाठान्तर में भी उपलब्ध है ।

बोल = कलकल, कोलाहल (देशी० ६, ९०; पासह० ७९१) । कथय् धातु का धात्वादेश भी 'बोल्ल' होता है पर यहाँ धातु नहीं संज्ञा शब्द ही अभिप्रेत है ।

घोल—मारन्ते घोल का साधारण अर्थ 'घोड़ों को मारते थे', बाबूराम जी और शिवप्रसाद सिंह ने किया है । किन्तु चलती हुई हाथियों की सेना घोड़ों को मारने लगे यह असंगत है । वस्तुतः प्रा० अप० घोल धातु का एक अर्थ घिसना या रगड़ना है (पासह० ३८८), अतएव घोल = घर्षण, रगड़ । कवि का आशय है कि हाथियों की उस भीड़ में पड़ा हुआ व्यक्ति उनकी रगड़ से ही मारा जाता था ।

१८. थेघ = रोक, टेक । प्राचीन युद्ध कला में हाथी संग्राम की टेक समझे जाते थे । हिन्दीमें ठेगना, ठेघना धातुओं का अर्थ टेकना, रोकना,

चालन्ते काए, पव्वअ समान ॥२१॥

४।६ [गद्य]

गरुअ गरुअ सुंड मारि घसमसइत मानुस करो मुंड ॥२२॥
विंध्य सओ विधाताओ बीनि काढल ॥२३॥

---

२१ [अ] चालंति कांन । [ख] पव्वओ ।
२२ [अ] गरु सुंडा । दमंते । मूंड । [क] मुण्ड (सुंड की जगह) ।
[ख] दशमसइत माणुसक मुण्ड । [शा] सुण्ड ।
२३ [अ] सवो विधाताए । [ख] जनु वीक्षते विधातें वीक्षि काढल ।

गर्व थे और देखने में अत्यन्त श्रेष्ठ थे । कानों को हिला रहे थे और आकार में पर्वत के समान थे ।

२२–२५. भारी बड़ी सूँडों को मार कर मनुष्य के मस्तक को धसमसा देते थे । विन्ध्यवन से विधाता ने उन्हें चुन-चुनकर

सहारा लेना है (शब्द सागर १२९५-६) ।

१९. छूट—प्रा० अप० छुट्ट (= बंधन मुक्त) । व्यंजना यह है कि मस्त हाथी प्रायः बँधे रहते हैं, किन्तु दिग्विजय के लिए उनके बंधन खोल दिए गए ।

२२. गरुअ = बड़ा ।

गुरु = भारी, बोझल ।

सुंड—'अ' प्रति और हरप्रसाद शास्त्री की प्रति में 'सुण्ड' पाठ है, वही ठीक है ।

घसमसइ—'ख' प्रति का दसमसइ रूपमें पाठ सर्वश्रेष्ठ है ।

कुंमोद्भव करे नियमाति कमे पेलि पव्वतओ वाढल ॥२४॥
मार ए धारए खाए आण महाउतक आँकुस महतें मान ॥२५॥

---

२४ [अ] पर्वतयो। [ख] विन्ध (पव्वतओ के स्थान पर)।
२५ [अ] खाए खणए मारए जान। महाउत आँकुस महतें।
[क] धाए खनए मारए जान। महाउओ।
[ख] मारै धारै खाये आण। अंकुस समाणत।

निकाला था। अगस्त्य की स्थापित मर्यादा का उल्लंघन कर के मानों विन्ध्य पर्वत उनके रूप में ऊँचा उठ गया था। मार-धाड़ करने में ऐसे लीन थे कि खाने तक के लिए महावत की आज्ञा अंकुश के प्रहार से ही मानते थे।

धसमसाना = नष्ट करना।

२३. वोनि—कोनि की जगह 'अ' प्रति में 'वोनि' पाठ है। 'ख' प्रति का 'वीक्षि' भी उसी की ओर संकेत करता है।

२५. मार ए धारए खाए आण—'अ'—खाए खणए मार ए जान।

'क'—धाए खनए मारए जान। 'ख'—मारै धारै खाए आण। अर्थ की दृष्टि से 'ख' प्रति के पाठ को व्यंजनापूर्ण मानकर कुछ सुधार कर यहाँ लिया गया है। आण = आज्ञा। जान पाठ माना जाय तो जान = गति, चलने में। ऐसे बेसुध थे कि खाने, मारने, चलने में महावत के अंकुश मारनेसे ही काम करते थे।

महतें—सं० मथ > प्रा० अप० मह = मारना (पासद्द० ८३८)।

अश्वसेना का वर्णन

४।७ [दोहा]

पाइग्गह पञ्र भरें भउँ पल्लानिजउँ तुरंग ॥ २६ ॥

२६ [अ] (प) अ भारहु । भऊँ पाठ नहीं । पल्लानिअइ ।
[ख] पल्लानिये ।

२६-२७. पायगाह (शाही घुड़साल) के स्थान में भरे

२६. पाइग्गह—फा० पाएगाह, पयगह = अस्तबल, (स्टाफा० २३५) । यह शब्द मध्यकालीन फारसी एवं प्राचीन हिन्दी, गुजराती आदि में काफी प्रसिद्ध था । जायसी ने 'सुलतानी पैगह' = शाही अश्वशाला का उल्लेख किया है (चली पन्थ पैगह सुल्तानी ४९६,१) । जायसी से पहले के प्राचीन गुजराती काव्य 'कान्हण दे प्रबन्ध' में भी यह शब्द आया है (घोड़ा तणी पायगइ दीधी १,८९) । अमीर खुसरू कृत 'किरानुस्सादैन' (१२८९ ई०) नामक फारसी इतिहास में (जिसमें कैकुबाद और उसके पिता नासिरउद्दीन के मिलने का वर्णन है) कैकुबाद की अपरिमित बीचकी अश्व टुकड़ी को पाएगाह-ए-खास कहा गया है । हाशिमीने अपने 'फरसनामा' में (१५२० ई०) पायगाह शब्दका अश्वशाला के अर्थमें प्रयोग किया है—जिस पायगाह में ऐसा सफेद घोड़ा हो जिसका दाहिना कान काला हो तो वह पायगाह बहुत भरापूरा हो जाता है । विशेष दे० पद्मावत, संजीवनी टीका, ४९६,१ । 'हर्ष चरित' में शाही पायगाह के लिए 'भूपालवल्लभतुरंगारचितमन्दुरा' कहा है (हर्षचरित, पृ० ६४) । पद्मावत के बाद के 'रूपावती' नामक प्रेमाख्यान (रचना सं० १६५७) में भी यह शब्द आया है—पाइगाह ऐसे असु बाँधे, साँचै ढारि मैन के साँधे ।

थप्प थप्प थनवार कइ सुनि रोमञ्चिअ अङ्ग ॥ २७ ॥

४।८ [नाराच]

अनेअ वाजि तेजि ताजि साजि साजि आनिआ ॥ २८ ॥

---

२७ [अ] थणवार । रोमंचिअ अंग । [ख] रोवंचिअ ।

२८ [अ] आनिआं । [क] आनिला ।

हुए श्रेष्ठ घोड़ों पर साज रक्खा गया । स्थानपाल या साईसों का थप्प-थप्प शब्द सुन कर शरीर में रोमांच होता था ।

२८-२९. बहुत संख्या में तेजी और ताजी घोड़े सजा-सजा

पअ—सं० पद = चरण, पदचिह्न, स्थान । यहाँ तीसरा अर्थ ही संगत है ।

भरें = भरे हुए । या 'भर' का अर्थ 'समूह' भी है किन्तु क्रिया रूप में ही अर्थ सुसंगत होता है ।

मउँ—सं० मध्य > प्रा० मध्य > मउ, मउ = श्रेष्ठ, उत्तम, पासद्द ८०१ ।

पल्लानिअउँ—सं० पर्याण > प्रा० अप० पल्लाण (= अश्व आदि का साज, पासद्द० ७०५) । सं० धातु पर्याणय् > प्रा० पल्लाण = अश्व आदि पर साज रखना । इसी से भूत कृदन्त पल्लाणिअ = पर्याण युक्त किया गया, साज, आभूषण आदिसे अलंकृत किया गया ।

२७. थनवार—सं० स्थानपाल = घोड़े के थान का अध्यक्ष, कर्मचारी । स्थानपाल पाजी घोड़ों को थप्प-थप्प कह कर बड़े उग्र रूप से डाँटते थे । बाण ने भी इसका उल्लेख किया है ।

थप्प-थप्प—सं० स्थाप्य-स्थाप्य = चुपचाप खड़े रहो । हिन्दी 'ठप्प' इसी से बना है ।

परक्कमेहि जासु नाम दीपे दीपे जानिआ ॥ २६ ॥
विसाल कंध चारु वंध सत्ति रूअ सोहणा ॥ ३० ॥

---

२९ [अ] जानिआं । [क] दीप दीपे । [ख] ठाँव ठाँव ।
३७ [अ] कध । कन्न सुन्नि (सत्ति रूअ की जगह) । [क] कण्ण सत्ति । [ख] विशाल वंक चारु कन्ध ।

कर लाए गए जिनके नाम उनके पराक्रम के कारण देश-देश में प्रसिद्ध थे।

३०. उनके कन्धे विशाल थे और उनके वन्ध देश सुन्दर थे एवं शक्ति और रूप से सुहावने लगते थे।

---

२८. तेजि—तेजी जातिके घोड़े ताजी से भिन्न होते थे। मानसोल्लास में (१२ वीं सदी) तेजी घोड़ों का उल्लेख आया है (४,६६९;६७२)। बीसलदेव रासो में भी उनका उल्लेख है (छन्द २१, माताप्रसाद गुप्त संस्करण, दीन्हा तेजीय तुरग के कारण)। पृथ्वी चन्द्रचरित्र (वि. सं० १४७८) में पृ० १३७ और वर्णरत्नाकर, पृ० ३१ में भी तेजी और ताजी का अलग-अलग उल्लेख है। अलिबरूनी ने सिन्ध के समीप मकराना की राजधानी का नाम 'तीज' लिखा है (सचाऊ, अल्बिरूनी का भारत, १,२०८)। वहीं सिन्ध-बलूचिस्तान के घोड़े तेजी कहे जाते थे।

ताजी = अरबी घोड़े। ताजिक = अरबी। मध्यकालीन संस्कृत में अरबों के लिए ताजिक शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है।

३०. कन्ध,बन्ध—घोड़े का ग्रीवा भाग कंध और उसके पीछे का ककुद भाग बन्ध कहलाता था। जयदत्तकृत अश्ववैद्यक के अनुसार गर्दन और पीठ के बीच के ककुद भाग को 'अंसक' या निबन्ध भी कहते थे

तलप्प हाथि लाँघि जाथि सत्तु सेण खोहणा ॥ ३१ ॥

४।६

समथ्थ सूर ऊर पूर चारि पाजे चक्करे ॥ ३२ ॥

---

३१ [अ] तलथि। सेन।
३२ [अ] समत्थ। उर पूर। पाअ चक्करे।

---

३१. वे जब तड़पते तो हाथी को भी लाँघ जाते और शत्रु-सेना में खलभली मचा देते थे।

३२–३३. वे घोड़े शक्तिशाली और पराक्रमी थे। उनके हृदय देश पर भौंरियों की शृंखला थी और चारों पैरों में भी श्वेत

(अंसके ककुदश्चैव निबन्धे परिकीर्तिते, अश्ववैद्यक २,१९)। उन अश्वों के कन्धे विशाल और बन्धदेश सुन्दर थे। दोनों शक्ति के शोभन रूप जान पड़ते थे।

३१. तलप्प—सं० तप् का धात्वादेश तल्लप = तपना, गर्म होना, (पासद्द० ५३०)।

खोहणा—सं० क्षोमणा > प्रा० अप० खोमणा > खोहण = क्षुभित करनेवाला, खलभली मचाने वाला, (पासद्द० ३५२)।

३२. समथ्थ—सं० समर्थ > समत्थ > अव० समथ्थ = सशक्त, बलशाली। सूर = शूर, पराक्रमी।

ऊर = उरस्थल, छाती।

पूर = जलप्रवाह, ऐसा जलप्रवाह जिसमें भँवर पड़ रहे हों। यहाँ यह पारिभाषिक शब्द है और घोड़े की छाती में सामने की ओर पड़नेवाली चार बाल-भौंरियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की भौंरियों-

अनन्त जुज्झ मम्म वुज्झ सामि तार संगरे ॥ ३३ ॥
सुजाति सुद्ध कोहे कुद्ध तोरि धाव कन्धरा ॥ ३४ ॥

---

३३ [अ] वुज्झ । [क] वुज्झि । तार । [ख] काज ।
३४ [क] शुद्ध । [ख] तरि । कन्दरा ।

चक्राकार भौंरियाँ थीं ।वे अनेक प्रकार से युद्ध करने के मर्म को जानने वाले थे और संग्राम में स्वामी को पार लगाने वाले थे ।

३४–३५. उत्तम नस्ल में उत्पन्न माता और पिता दोनों से शुद्ध जन्म वाले थे । क्रोध में भर कर गरदन को ऊँचा उठाकर

से युक्त अश्व भाग्यवान् समझा जाता था । संस्कृत में इन चार भौंरी या आवर्तचतुष्टय को श्रीवृक्ष या श्रीवृक्षक कहते थे और उनसे युक्त अश्व श्रीवृक्षकी कहलाता था । माघ में (५, ५६) इसका उल्लेख आया है, जिस पर मल्लिनाथ ने लिखा है—वक्षोभवावर्तचतुष्टयं च, कण्ठे भवेद्यस्य च रोचमानः। श्रीवृक्षकी नाम हयः समर्तुः स्त्रीपुत्र-पौत्रादि विवृद्धये स्यात् ॥ मल्लिनाथ ॥ दण्डीकृत अवन्तिसुन्दरीकथा में भी अश्वों का वर्णन करते हुए श्रीवृक्षक का उल्लेख आया है—वनाभोगा इव श्रीवृक्षकाभिलषिताः (अवन्तिसुन्दरीकथा, त्रिवेन्द्रम संस्करण, पृ० ९४)। चारि पाञे चक्करे = चार पैरों में चक्राकार भौरियाँ थीं ।

३३. मम्म—सं० मर्म >प्रा० मम्म = रहस्य, गुप्तभेद । तार—'अ' और 'क' प्रति में 'तार ओ' पाठ और 'ख' में 'काज' है, अर्थ की दृष्टि से 'तार' ही संगत है । तार = पार होना, सफल होना, सकना । सं० शक् का धात्वादेश तर = समर्थ होना, सकना । तरइ (हेम० ४,८६) उसका प्रेरणार्थक रूप तारइ = समर्थ करना, सफल बनाना । अर्थात् वे अश्व युद्ध में अपने स्वामी को सफल बनाते थे ।

विमुद्ध दापे मार टापे चूरि जा वसुन्धरा ॥ ३५ ॥

४।१०

विपष्ख केरि सेयण हेरि हिंसि-हिंसि दाम से ॥ ३६ ॥

---

३५ [अ] दापि । चुरि ।[क] विशुद्ध ।
३६ [अ] विपख्ख । सेन्न । हीसि-हीसि । [क] केन मेन । [ख] विपक्ख केर समण हेर ।

दौड़ते थे । दर्प से विमुग्ध होकर जब टाप मारते थे तो धरती चूर-चूर हो जाती थी ।

३६-३७. शत्रु सेना को देखने पर जब उन्हें रोका जाता तो

---

३४. सुजाति सुद्ध = शुद्ध नस्ल के, असील । उत्तम घोड़ों के लिए माता-पिता के वंश की शुद्धि बड़ा गुण माना जाता है । जैसे शुद्ध अरबी घोड़े में किसी दूसरी जाति की छौंक न लगी हो तो वह बढ़िया माना जाता है ।

तोरि = ऊँचा उठाकर । सं० तोलय् > प्रा० तुल, तोल (= ऊँचा उठाना, ऊपर उठाना, पासद्द० ५४४) । 'तोरन्ते बोल' (४,१७) प्रयोग ऊपर आ चुका है ।

३५. दापे—सं० दर्प्प > प्रा० अप० दप्प > अव० दाप = गर्व, बल, (पासद्द० ५५९) ।

विमुद्ध—'अ' प्रति में 'विमुद्ध' पाठ है और 'क' में 'विसुद्ध' । अर्थ की दृष्टि से विमुद्ध ही संगत है ।

३६. विपष्ख—सं० विपक्ष > प्रा० अप० विपक्ख > अव० विपष्ख = शत्रु । दाम—सं० दमय् > प्रा० अप० दम्म (= दमन, विरोध' निग्रह, पासद्द ५६०) ।

निसान सद्द भेरि णद्द खोणि खुन्द ताम से ॥ ३७ ॥
तजान भीति वात जीति चामरेहि मण्डिआ ॥ ३८ ॥

---

३७ [क] संग। तास। [ख] यह पंक्ति नहीं है।
३८ [क] डीत।

वे बार-बार हिनहिनाते थे। निशान के शब्द और भेरी का शोर सुन कर क्रोध पूर्वक (सुमोंसे) धरती खोदते थे।

३८. चाबुक के डर से इतने वेग से चलते कि हवा को भी जीतते हुए जान पड़ते थे। वे चौरियों से सुशोभित थे।

हिंसि—सं० ह्रेष > प्रा० हीस (= अश्व का शब्द) > अव० हींस, हिंस।

३७. निसान—दे० निस्साण (= वाद्य विशेष, निशान नामक बाजा, पासद्द० १२५६)। निसान = नगाड़ा, धौंसा, (शब्द० सा० १८०७)।

णद्द—सं० नर्दित > प्रा० अप० नर्दिय > अव० नद्द, णद्द।

खोणि—सं० क्षोणि > प्रा० अप० खोणि (पासद्द० ३५२)।

ताम—'अ' प्रति में 'ताम' पाठ है और वही मूल ज्ञात होता है। सं० ताम्य > प्रा० अप० तम्म (= खेद करना, दुःखी होना, पासद्द० ५२८, ५३३) > अव० ताम (= खेद युक्त क्रोध)।

३८. तजान—फा० ताज़ियाना = चाबुक (स्टाफा० २७५)। जायसी ने तायन (पदमावत, ४६।४), ताजन (पदमावत, ४८८,६)। का प्रयोग किया है।

विचित्त चित्त नाच नित्त राग वाग पण्डिआ ॥ ३९ ॥

४।११

एवञ्च,

विछि वाछि तेजि ताजि पक्खरेहि साजि साजि ॥ ४० ॥
लष्ष संख आनु घोर जासु मूलें मेरु थोर ॥ ४१ ॥

---

४० [अ] वाछि विछि। परखरेहि। [ख] 'एवञ्च' पाठ नहीं है।
४१ [अ] लख्ख। संख पाठ नहीं है। घोल। मूल। मोरु थोल।
[क] आलु (आनु के स्थान पर)।
[ख] जासु मेरु मोलयौ········।

---

३९. लाल रंग की वाग से संयत वे अनेक प्रकार के विलक्षण नाच अपनी चाल से बराबर दिखा रहे थे।

४०-४१. तेजी और ताजी घोड़ों को दोनों पार्श्व भागों में और सामने छाती पर पाखर या लोहे की झूल से सजा-सजा कर लाखों की संख्या में लाया गया जिनके मूल्य के सामने सुवर्ण का पर्वत मेरु भी कम जान पड़ता था।

---

३९. विचित्त—सं० विचित्र = आश्चर्य कारक, अद्भुत।

चित्र—सं० चित्र = नाना प्रकार का।

राग = लाल। सं० रक्त > प्रा० रग्ग (हेम २, १०; रक्ते गो वा रक्ते संयुक्त गो वा भवति रग्गो रत्तो, पासद्द० ८७३)। वाग = लगाम। सं० वल्गा > प्रा० अप० वग्गा (पासद्द० ९१५) > अव० वाग > प्राचीन हि० बाग।

पण्डिआ—सं० पण्डित > प्रा० पण्डिअ = संयत साधु, (पासद्द० ६१६)।

४।१२ [गद्य]

कटक चांगुरे चांगुरे ॥४२॥

४२ [अ] कट कट। [क] कटक चांगरे चाङ्गु।

४२–४३. अश्व सेना सुन्दर और विस्तीर्ण थी। घोड़ों के

४०. विछि = पार्श्व भाग में। देशी वच्छ = पार्श्व, (देशी० ७,३०; पासह० ९१६)।

वाछि = वक्षस्थल। सं० वक्षस् > प्रा० अप० वच्छ; हेम० २,१७ पासह० ९१६)। जायसी, अगिलव धौरी आगें आई, पाछिल बाछु कोस दस ताई। अर्थात् घुड़सवार सेना की अगली टुकड़ी दौड़ती हुई पहले पहुँच गई और पिछला भाग उसके वक्षस्थल की तरह दस कोस तक फैला हुआ था (पद्मावत ५१६,२)।

पक्खर—दे० पक्खरा (देशी० ६,१०) = पाखर, अश्व सन्नाह, घोड़े का कवच। यह शब्द मध्यकालीन साहित्य में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। पक्खर प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी में धातु के रूप में भी प्रयुक्त होता था—अश्व को कवच से सज्जित करना, दे० पासह० ६१९, पद्मावत, संजीवनी ४९६,२; प्राकृत पैंगलम्—पिन्धउ दिढ सण्णाह वह उप्पर पक्खर दइ; १,१०६। बाद में हाथी के दोनों पार्श्वों की लोहे की झूल को भी 'पाखर' और सामने सिर की ओर के कवच को 'सिरी' कहने लगे। यहाँ 'विछि वाछि' शब्दों से दोनों बगलों की और सामने छाती की पाखरों का उल्लेख है।

४२. चाँगुरे-चाँगुरे—'अ' प्रतिका यही पाठ है और बाँकुले-बाँकुले, काचले-काचले, अटले-अटले के वजन पर यही पाठ मूल ज्ञात होता है। दो बार पढे हुए इन शब्दों में यमक-द्वारा कविने भिन्न-भिन्न अर्थ रक्खे

वाँकुले वाँकुले वअने, काचले काचले नअने ॥४३॥

४३ [अ] वअनें। नअनें। [ख] वाकुरे नयणे, वाकरे काकणे नयने।

बाँके मुँह आगे की ओर उठे हुए थे। उनके नेत्र ऐसे चमकीले थे मानों बिल्लौरी शीशे का काम करके बनाये गये हों।

हैं और ऐसा करने के लिए उसने शब्दों में कुछ परिवर्तन करके भी एकरूपता लाने का प्रयत्न किया है। चाँगुरे = सुन्दर। पहला 'चाँगुरे' शब्द देश्य प्राकृत चंग से बनाया गया है। चंग = सुन्दर, मनोहर, रम्य, देशी० ३।१ (पासद्द० ३९१)। चाँगुरे—दूसरा 'चाँगुरे' शब्द देशी 'चक्कल' (= विशाल, विस्तीर्ण, देशी० ३,२०; पासद्द० ३९६) से बना ज्ञात होता है। चक्कल > चाँगल > चाँगर। मूलतः चक्कल शब्द भी सं० चक्रल से सम्बन्धित था। वर्णरत्नाकर पृ० ३२ में 'चाकर उर' (= चौड़ी छाती) आया है।

४३. वाँकुले = बाँका। पहला वाँकुले शब्द सं० वक्र > प्रा० वंक > अप० वक्क + र से बनाया गया है।

वाँकुले—दूसरा बाँकुले शब्द दे० वक्कलय (देशी० ११४६) से बनाया हुआ है जिसका अर्थ था पुरस्कृत, आगे किया हुआ (पासद्द० ९१४)। तात्पर्य यह हुआ कि घोड़ोंके बाँके मुँह आगे की ओर उठे हुए थे।

वअन—सं० वदन > प्रा० अप० वयण > अव० वअन।

काचले = काँच के समान चमकीले। यहाँ काच से तात्पर्य बिल्लौर या स्फटिक से है। घोड़ों के नेत्रों की उपमा इन से दी जाती थी, जैसा 'मानसोल्लास' में आया है (वैडूर्यस्फटिकच्छाये.........प्रशस्ते लोचने यस्य, मानसोल्लास भाग २, पृ० २१५)। सं० काच > प्रा० अप०

अटलें अटलें बाँधे, तीखें तरले काँधे ॥४४॥
आहि करो पीठि आपु करो अहंकार सारिअ,
पर्वत ओलाँघि पार क मारिअ ॥४५॥

---

४४ [अ] अटले अटले । बाँध । तीखे । [ख] आटले वाटुले बाधा, पातरी तिखरी कांधा ।

४५ [अ] साधिअ । पर्वत वो । [क] पीठि आपुवकरो अहङ्कार साहिआ । पर्व्वत । [ख] अहङ्कार सारिआ । पर्व्वतो ।

४४-४५. उनका बन्धदेश अट्टालक के समान ध्रुव था और स्कन्ध या ग्रीवा प्रदेश पतला और चंचल था। उनकी पीठ पर बैठने वाले के अपने अहंकार को प्रेरणा मिलती थी और वह पर्वत को भी लाँघ कर पार के शत्रु का वध करता था।

काच>काच+ल>अव०काचले,(पासद्द० २६९)। दूसरा काचले = काम से, जड़ाव से। सं० कृत्य>दे० कच्च (देशी० २।२; पासद्द० २६९)। तात्पर्य यह कि बिल्लौर या स्फटिक नामक काच को चीर, कोर और पच्चीकारी के काम से युक्त किया गया था। इस प्रकारके बारीक नक्काशी युक्त काम को आज भी लोक में 'काज का काम' कहते हैं। जैसे 'कृत्य' से 'कच्च', ऐसे ही प्रा० में कज्ज से भी कच्च रूप बनता है।

४४. बाँधे........काँधे—बन्ध देश और स्कन्ध देश। पहले भी ४।२० में आया है।

अटले = अट्टाल या अट्टाले के समान।

अटले = अटल, स्थिर, अडिग।

तीखें—घोड़े की ग्रीवा का पतला होना अच्छा लक्षण माना जाता है। मानसोल्लास में अश्व की ग्रीवा की उपमा मोर के गले से दी गई है, भाग २, पृ० २१५।

अखिल सेनि सत्तु करी कित्ति कल्लोलिनी लाँघि भेल पार ॥४६॥
ताहि करो जल संपक्के चारिहु पाए तोखार ॥४७॥

---

४६ [अ] असन जनि सत्तु। लंघि भेला। [क] कीर्ति।
४७ [अ] ताहि कर। पाए तोखार। [क] संपक्कें। चारहु पाओ
थोषार। [ख] नार्क चारिउ पाओ थार।

४६-४७. समस्त अश्वसेना शत्रु की कीर्ति रूपी नदी को लाँघ कर पार चली गई थी। अतएव उसके जल का स्पर्श होने से मानों उन अश्वों के पैर श्वेत हो गये थे।

---

४५. पीठि आपु करो—यही पाठ सब प्रतियों का है, किन्तु अक्षरों के गलत जुड़ने से बाबूराम जी के संस्करण में पीठिआ पुक्करो' अशुद्ध पाठ छप गया है।

सारिअ—सं० सारय्>प्रा० अप० सार=प्रेरित करना (पासद्द० १११७)। तात्पर्य यह है कि उन घोड़ों की पीठ पर बैठने से ही अपने अहंकार को प्रेरणा प्राप्त होती थी। 'क' प्रति में 'साहिअ' और 'अ' प्रति में 'साधिअ' बाद के ज्ञात होते हैं।

पव्वंत ओलाँघि—यहाँ भी अक्षरों के अशुद्ध तोड़ने से बाबूरामजी के संस्करण में 'पर्वतओ लाँघि' पाठ हो गया है।

४७. तोखार=श्वेत। सं० तुषार>प्रा० अप० तुसार (=हिम, बरफ)। उसके समान गौर वर्ण के लिए भी तुषार शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'पञ्चकल्याण' अश्व से तात्पर्य है जिसके चारों पैर श्वेत होते हैं और माथे पर सफेद टीका होता है (येन केनापि वर्णेन मुखे पादेषु पाण्डुरः, पञ्चकल्याणनामायं भाषितः सोम भूभुजा, मानसोल्लास, भाग २, पृ० २१२)।

सुरुली मुरुली मुंडली कुंडली प्रभृति
नाना गति करन्ते भास कस ॥४८॥
जानि पाय तल पवन देवता वस ॥४९॥
पद्म करि आकारे मुँह पाट, जनि
सामि करे जसश्चन्दने तिलक वाट ॥५०॥

४८ [क] मुरली मनोरी कुण्डली मण्डलो । [ख] मुरुरि मरोरि ।
४९ [अ] पाअ ।
५० [अ] मुह । [क] करे (करि के स्थान पर) स्वामी करो यश श्चन्दन तिलकन ललाटे । [ख] पद्म के आकरे ।

४८-५० सुरुली, मुरुली, कुण्डली, मण्डली आदि अनेक गतियाँ करते हुए शोभित होते थे मानों पैरों में पवन देव का वास हो। मस्तक पर कमल के आकार का चिह्न था मानों स्वामी के यशश्च-न्दन का तिलक वर्तमान हो।

४८. सुरुली मुरुली—यह 'अ' का पाठ है और यही मूल ज्ञात होता है। सुरुली = मेंढक की चाल। सं० शालूर > सालूर = मेंढक (पासद्द० ११२१)। संभवतः वर्णव्यत्यय द्वारा सालूरी का ही सुरुली रूप हुआ। इसी चाल को सं० में प्लुत और फा० में पोयः कहते हैं, जिससे हिन्दी में पोइया शब्द बना है जो दो-दो पैर फेंक कर सरपट दौड़ते हुए घोड़े की चाल के लिए प्रयुक्त होता है। मुरुली = मोर की चाल। कुंडली = सांप की कुंडल की तरह लहराती हुई टेढी चाल (सर्पवद् वक्रगति, मानसोल्लास, भाग २, पृ० २१९)। वर्णरत्नाकर (पृ० ३०) की अर्द्धमंडल गति संभवतः यही थी। मंडली = घोड़े की मंडलाकार चाल (वर्णरत्नाकर पृ० २९; मानसोल्लास २।२१८; पासद्द० ८२१)।

५०. पाट–सं० पट्ट > पाट, पट्टा = लम्बा निशान, तिलक। मस्तक पर श्वेत तिलक-युक्त अश्व मांगलिक माने जाते हैं।

४।१३ [छपद]

तेजमन्त तरवाल तरुण तामस भरें वादल ॥५१॥
सिन्धु पार सम्भूत तरणि रथ वहइतें काढल ॥५२॥
गवण पवन पछुआव वेगें मानसहु जीति जा ॥५३॥

---

५१ [अ] तेजमंत । तव पाल (तरवालके स्थान पर) । तामसे भर
[ख] तरवारि (तरवालके स्थान पर) । सै (भरें के स्थान पर) । काढल (वाढल) ।

५२ [अ] सिंधु । संभूत । वहइ (रहइके स्थान पर) ते ।
[ख] सेधु । वहइ ('रहइ'के स्थान पर) वाढ़ल ।

५३ [अ] गमने (गवण) । पछुआवे । वगे (वेगें) ।
[क] गमवे (गवणके स्थान पर) ।

५१–५३. वे घोड़े तेजस्वी, वेग युक्त, तरुण और अत्यंत क्रोधमें भरे हुए थे। वे सिंधु पारके देशमें उत्पन्न हुए थे और सूर्यके रथको खींच कर चालमें निकाले गए थे। वे अपनी गतिसे हवाको भी पीछे छोड़ने वाले और वेगसे मनको भी जीतने वाले थे।

वाट—सं० वृत् >प्रा० अप० वट्ट = होना, वर्तमान होना, (पासद्द० ९१९)।

५१. तरवाल—'अ' प्रतिके तवपाल पाठका कुछ अर्थ स्पष्ट नहीं है और संस्कृत टीकाकारने भी उसे अज्ञात कहा है। 'क' प्रतिका तरवाल पाठ ही समीचीन है। तर—सं० त्वरा >प्रा० अप० तरा। तर· वाल = त्वरायुक्त, वेगयुक्त। तामस = क्रोध।

५२. सिन्धुपार सम्भूत—सिन्धु नदीके उस पारके प्रदेशको पारे-

धाव धूप धसमसइ वज्ज जिंमि गज्ज भूमि पा ॥५४॥
सङ्गाम भूमितल सञ्चरइ नाच नचावइ विविह पइ ॥५५॥
अरि राअन्ह लच्छिअ छोलि ले, पूर आस असवार कइ ॥५६॥

५४ [क] धाय। सवो (जिमिके स्थान पर)। भूमि गज्ज पाए।
[ख] धाव (धाय)। [क] रज्ज सओ भूमि गज्जपार।
५५ [अ] संगाम। संचरइ। [ख] थल (तल के स्थान पर)।
५६ [अ] राउ (राअन्हके स्थान पर)। आसपूर।
[क] अरि राए लच्छि अच्छिलि ले आस पुरावइ असवार कइ।

५४–५६. उनकी दौड़-धूपसे पृथिवी धसमसाती थी और उनकी टापोंका शब्द वज्रके समान होता था। जब वे युद्ध भूमिमें चलते थे तो उनके स्वामी उन्हें विविध नृत्य मुद्राओंमें नचाते थे। वे अश्व शत्रु राजाओंकी लक्ष्मीको छीन कर सवारोंकी आशा पूरी करते थे।

सिन्धु कहा जाता था। वहाँकी घोड़ी पारेवड़्या कहलाती थी। सिन्धुके उस पारके गन्धार देशके घोड़े भारतीय साहित्यमें सदा प्रसिद्ध रहे हैं।

तरणि रथ वहइ ते काढल—वे घोड़े सामान्य शकट या रथमें नहीं, स्वयं सूर्यके रथमें जोत कर चालमें निकाले गए थे।

काढल = निकाले गए थे। सं० कृष् > प्रा० अप० कड्ढ = काढना, निकालना।

५४. धावधूप = दौड़धूप।

पइ—यहाँ 'अ' 'क' 'ख' तीनों प्रतियोंमें परि पाठ है, किन्तु नीचे की पंक्तिमें 'कइ' तुकके आधार पर 'पइ' मूल पाठ ज्ञात होता है। सं० पति > प्रा० अप० पइ = स्वामी।

४।१४

[रड्डा]

तं तुरङ्गम चहेउ सुरुतान ॥५७॥
ध्वज चामर विथ्थरिअ तसु तुरङ्ग कत पांचि आनिअ ॥५८॥
जसु पौरुस वर लहिअ, रायघरहि दिसि विदिसि जानिअ ॥५९॥

---

५७ [अ] तं पाठ नहीं है। तुरंगम। चलिअ। सुरताण।
[क] चलिअ। [ख] चह्लेउ।
५८ [अ] धअ ठामर वित्थरिअ। तुरंगम खत खाचि।
[ख] वयह (ध्वज के स्थान पर) वित्थरिअउ। संचि (पांचि के स्थान पर)।
५९ [अ] जस पौरुष०। राअघरहि दिसि विदिस जानिअ।
[ख] जसु पौरुख राय वर दीस। वीदीस जानिअ।

५७—५८. ऐसे अश्व पर सुलतान सवार हुए। उसके ऊपर ध्वजा और चामर का विस्तार किया गया। वैसा अश्व किस प्रकार की साज-सज्जा से कसकर लाया गया ?

५९—६१. उससे श्रेष्ठ पौरुष प्राप्त हुआ और राजकुल की

---

५६. छोलि ले = छुड़ा लेते थे। सं० छोटय् >प्रा० अप० छोड़, छोल (= छुड़ाना, बन्धन मुक्त करना, पासद० ४२६)।

५७. चहेउ—'ख' प्रति में चह्लेउ पाठ है। संस्कृत टीकाकार ने 'अधिरूढः' अर्थ किया है जिससे ज्ञात होता है कि 'अ' प्रतिका मूल पाठ भी वही था, चलेउ पाठ बाद में किया गया।

५८. विथ्थरिअ—सं० विस्तृत >प्रा० अप० वित्थरिअ (पासद०

वेवि सहोअर राअ गिरि लहिअउ वेवि तुरङ्ग ॥ ६० ॥
पास पसंसए सव्व जा दूर सत्तु ले भङ्ग ॥ ६१ ॥

४।१५ [छपद]

तेजी ताजी तुरअ चारि दिसि चप्परि छुट्टइ ॥ ६२ ॥

---

६० [अ] लहिअ । वेवि तुरुक्का ।
[ख] वार गिरितश.........ओवेवी तुरङ्ग ।

६१ [अ] सव्वे । भंग । [ख] गव्व (सव्व के स्थान पर)।

६२ [अ] तेजि ततारी तुरअ । दिसि ।

कीर्ति दिशाविदिशा में फैल गई। दोनों भाइयों ने सुलतान से कह कर दो घोड़े प्राप्त किए। सब समीप के लोग प्रशंसा करने लगे कि शत्रु उनसे नाशको प्राप्त हो कर दूर भाग जायगा।

६२–६३. तेजी-ताजी घोड़े चारों दिशाओं को दबाते हुए

---

६७८) > अव० विध्यरिअ । कत = किस प्रकार, कैसे ।

षांचि = खींचकर, साज या पलान से युक्त करके । 'अ' और 'क' प्रति का यही पाठ है, 'ख' प्रति में संचि है ।

६०. गिरि = कह कर । सं० गॄ > प्रा० अप० गिर (= बोलना, कहना, पासह० ३६९) > गिरि = कह कर ।

६२. तेज —ताजी–दे० ४।२८।

चप्परि—सं० आक्रम् का धात्वादेश चप्प = आक्रमण करना, दबाना (पासह० ३९९) । छुट्टइ—छूटना, सरपट द ँ डा ।

तरुण तुरुक असवार बाँस जञे चाबुक फुट्टइ ॥ ६३ ॥
मोजाञे मोञे जोलि तीर भरि तरकस चापे ॥ ६४ ॥

---

६३ [अ] तुरुण टुरुक्क० । वाण सन (बाँस जञे के स्थान पर)।
[ख] जिमि ताजण ('जञे चाबुक' के स्थान पर) ।
६४ [अ] मोजए मोजए । तरकस भरि चापे ।
[ख] मोजे मोजे जोरि० चापेउ (चापे के स्थान पर) ।

शीघ्रतर से चले, या आक्रमण के लिए छूटे। तरुण तुर्क उन घोड़ों पर सवार थे और उनके चाबुक बाँस के समान फूटते या आवाज करते थे।

६४–६५. मोजे के ऊपर सरमोजा जोड़ कर और तरकश में

---

६३. बाँस जञे—जिस प्रकार जंगलमें गर्मी से पके हुए बाँस फट कर शब्द करते हैं उसी प्रकार का चटचट शब्द सवारों के चाबुक से उत्पन्न हो रहा था।

चाबुक— 'ख' प्रति में इसका पाठ 'ताजण' है और बहुत संभव है कि वही मूल पाठ रहा हो जिसका सरल पाठ 'चाबुक' किया गया। वर्णरत्नाकर में 'ताजन' शब्द आया है और इसमें भी पहले प्रयुक्त हुआ है। पर 'अ''क' प्रतियों में 'चाबुक' पाठ होने से मूल में उसे ही रक्खा गया है।

फुट्टइ—सं० स्फुट>प्रा० अप० फुट्ट = फूटना या फटना (पासद० ७७२) ।

६४. मोजाञे मोञे—वर्णरत्नाकरसे ज्ञात होता है कि तुर्क घुड़-सवारों की वर्दी या पोशाक में दो तरह के मोजे पहने जाते थे। एक

सींगिनि देइ कसीस गब्ब कए गरुबे दापे ॥ ६५ ॥

६५ [अ] सोगिनि देइ निसीस०। गरुअे दोपे।
[ख] सिंगिणि दे कीसीस गब्ब कै तरुबे दापे।

तीर भर कर वे आक्रमण करते थे। सींग के बने हुए धनुष को खींच कर और गर्वोक्तियों-द्वारा अपने दर्प को और अधिक बढ़ा रहे थे।

को मोजा कहते थे और दूसरे को सरमोजा (वर्णरत्नाकर पृ० ३२)। सरमोजा, मोजे या जूतों के ऊपर पहना जाता था (स्टाफा० पृ० ६६८, फा० सरमोज़ः)। यद्यपि विद्यापति ने दोनों को मोज़ा ही कहा है किन्तु उसमें से एक अवश्य ही सरमोजा होना चाहिए।

जोलि—'अ' और 'क' दोनों प्रतियों में 'जोलि' पाठ है और अवश्य ही वह 'जोरि' का मैथिली रूप है।

६५. सींगिनि = सींग का बना हुआ धनुष। सं० शार्ङ्ग या श्रृंगिन्। कीर्तिलता में आगे पुनः इस शब्द का प्रयोग हुआ है—सी.गणि गुण टंकार भाव नह मण्डल पूरइ, ४।४१। गुजराती काव्य 'कान्हड़-दे-प्रबन्ध' में इस शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है—कीधी साल पानि मूंगलनइ सींगिणि परठ्यउ तीर (कान्हड़-दे-प्रबन्ध, १।१४६)। साहमा छइ सअराणा मीर। सींगिणि थका विछूटइ तीर (४।२५८)। पृथ्वीराज रासो, पद्मावती समय में भी यह शब्द आया है—सिंगिनि सुसद्द गुन चढ़ि जंजीर चुकै न सबद बेधत तीर, पद्मावती समय, कविता-कौमुदी, भाग १।१२६। कसीस = खिंचाव, खींचना, आकर्षण। फा० कशिश (स्टाफा० १०२३)। कशीदन धातु का कृदन्त संज्ञारूप। गब्ब—सं० गर्व > प्रा० गब्ब = अहंकार, अभिमान। गरुबे = गुरु कर रहे थे

निस्सरिअ फौद अणवरत कत तत परिगणना पारके ॥६६॥
पअ भार कोल अहि मोल कर कुरुम उँलटि करवट्ट दे ॥६७॥

४।१६ [छंद-अरिल्ल]

कोटि धनुद्धर धावथि पायक ॥ ६८ ॥

---

६६ [अ] अनवरत० । तहि गना करए जे पारके ।
[ख] तसु गणना गणँ जे पार को ।

६७ [अ] भारे को न अहि मोलकर कुरुमं डलटि० ।
[क] भारें ।
[ख] पय भार को जहि भोर० ।

६८ [अ] धावत्थि पाइक । [ख] धावहि ।

६६–६७. फौज बराबर निकलती चली आ रही थी । कौन उसकी गणना कर सकता था ? उनके पैरों का भार पृथिवी को धारण करने वाले वराह और शेष के होश खो रहा था । उस बोझ से कूर्म ने करवट बदली ।

६८-६९. करोड़ों पैदल सैनिक धनुष लिए हुए दौड़ कर चल

या बड़ा बना रहे थे । प्रा० गरुअ (= गुरु करना, बड़ा बनाना) < सं० गुरुकाय्, पासद्द० ३६३ । दापे—सं० दर्प्प > दप्प = बल, पराक्रम, (पासद्द० ५५९)।

६६. फौद = फौज । अणवरत—सं० अनवरत = निरन्तर ।

६७. कोल अहि = वराह और शेषनाग । मोल = होश रहित, चेत-विहीन । मोल = (दे०) मद्र, सरल चित्तवाला भोला, संज्ञा-शून्य ।

लष्ख संख चलिअउ ढलवाइक ॥ ६९ ॥
चलु फरिआइक अंगे चंगे ॥ ७० ॥
चमक होइ खग्गग्ग तरंगे ॥ ७१ ॥
मत्त मगोल बोल णहि बुज्झइ ॥ ७२ ॥

---

६९ [अ] लक्ख संचलिउ चलवाइक ।
[ख] में 'लष्ख''''ढलवाइक' के स्थान पर कुछ नहीं है ।
७० [अ] फरिआइत रंगे चंगे । [ख] अरु फरकारे अंगे बंके ।
७१ [अ] होइ खगग्गा । [ख] चक सक महि खग तरङ्गे ।
७२ [अ] मत्तगोल० । नहि । बोल ।

रहे थे । लाखों की संख्या में ढाल लिए हुए सैनिक चले ।

७०-७१. शरीर से तगड़े फरी लिए हुए सैनिक चल रहे थे । तलवारों के अग्र भाग लहराते हुए चमक रहे थे ।

७२-७३. मतवाले मुगल किसी की बोली तो समझते न थे,

---

६९. ढलवाइक—ढाल लिए हुए सैनिक ।

७०. फरिआइक—'अ' प्रति में । 'फरिआइत' पाठ है और 'ख' में 'फरआरे' । फरिआइत तथा फरिआइक दोनों रूप प्रचलित थे । वर्णरत्नाकर में (पृ० ३३) फरिआइत रूप है । पासद्द० के अनुसार 'फरय' का एक अर्थ ढाल था और दूसरे अर्थ में 'फरय' एक विशेष प्रकार का अस्त्र था । क्योंकि ढाल वाले सैनिकों का उल्लेख पहले आ चुका है इसलिए 'फरिआइक' फरय नामक अस्त्र विशेष धारण करने वाले सैनिकों का वाचक होना चाहिए । फरय > दे० स्फरक = अस्त्र विशेष । फरएहिं छाइ ऊणं तेवि हु गिह्णन्ति जीवन्तम्, पासद्द० ७६८ ।

७२. मगोल = मंगोल, मुगल ।

पुन्दकार कारए रए, जुज्झइ ॥ ७३ ॥

४।१७

काँचे मासु कबहु कर मोअण ॥७४॥
कादम्बरि रसे लोहित लोअण ॥७५॥
जोअण वीस दिनद्धे घावथि ॥७६॥

---

७३ [अ] खोंदकार । जुज्झइ । [क] युज्झयी ।
[ख] खोदकार कारण रस बुझि ।
७४ [अ] कान्चे ।
७५ [अ] कादंबरी । लोअण । [क] लोअन ।
७६ [अ] जोअण [क] जोअन । [ख] घावहि ।

अतएव काजीके किए हुए न्याय के कारण भी लड़ाई में जूझने के आदी थे ।

७४-७७. (वे मुगल बच्चे) कभी कच्चा माँस खाते थे । कभी शराब पीने से उनकी आँखे लाल दिखाई पड़ती थीं । आधे

बोल णहि बुज्झइ—विद्यापति का यह लिखना यथार्थ ज्ञात होता है । १४ वीं शती में जो मंगोल यहाँ थे वे तब तक भारत की बोलियों से अपरिचित थे ।

७३. पुन्दकार—फा० खुन्दकार = काज़ी ।

७४. मोअण—सं० मोजन > प्रा० अप० मोअण ।

७५. कादम्बरि = एक प्रकार की श्रेष्ठ सुरा । सं० कादम्बरी ।

७६. दिनद्धे = आधा दिन । सं० दिनार्द्ध ।

बगल क रोटी दिवस गमावथि ॥७७॥

४।१८

वेलक काटि कमानहि जोले ॥७८॥
धाञे चलथि गिरि उप्पर घोलें ॥७९॥

---

७७ [अ] बगल । वरिस गमावयि । [ख] गमावहि ।

७८ [अ] वेलक काटि कमांणहि बोले । [ख] बेलक कमाने जोरे ।

७९ [अ] धायि चलए । घोले । [क] घोरे । [ख] धाइ चहै गिरि० ।

दिन में बीस योजन दौड़ जाते थे, बगल में बँधी रोटी पर पूरा दिन बिता देते थे।

७८--७९. धनुष चढ़ा कर बेलक नाम के दुफंकी तीर से निशाना काटते थे। वे अपने घोड़ों को दौड़ाते हुए पहाड़ पर चढ़ जाते थे।

---

७८. वेलक—एक विशेष प्रकार का तीर जिसका सिरा दुफंकी होता था, या जिसकी अनी बेलचे के आकार की होती थी। फा० बेलक (स्टाफा० २२४)। बीकानेर की प्रति का शुद्ध पाठ 'बेलक' है। यह शब्द आगे भी दो बार आया है—४।१७९, ४।१८४।

जोले—यही मूल पाठ ज्ञात होता है। बीकानेर की 'अ' प्रति में घोले पाठ से जोले की तुक भी संगत बैठती है। अर्थ है जोड़ते थे।

७९. घोले = घोड़े।

गो बम्भण वधे दोस न मानथि ॥८०॥
पर पुर नारि बन्द कए आनथि ॥८१॥

४।१९

हस आवसि रुट्ठ भए रहसहि ॥८२॥
तरुणे तुरुक वाचा सए सह सहि ॥८३॥

---

८० [अ] बंभण वधे। माणथि। [क] गो बम्भन बधें। मानथि।
[ख] बंभण।
८१ [अ] बंद। आनथि।
८२ [अ] हस आवसि रुट्ठ भए रहसहि। [क] हस हरषे रुण्ड हासह जहि। [ख] हथि हाथ शिरु कर ण पइसहि।
८३ [अ] तरुण तुरुक वासए ०। [ख] सह सय सहि।

८०–८१. गौ और ब्राह्मण के वध में पाप नहीं मानते थे। शत्रु के नगर से स्त्रियों को भी बन्दी बनाकर ले आते थे।

८२-८३. जवान तुर्क हँसता हुआ आता है किन्तु बहुत जल्दी क्रोध में भर जाता है और एक साथ ही सैकड़ों हुकुम सुना देता है।

---

८२. हस आवसि रुट्ठ भए रहसहि—यह शुद्ध पाठ 'अ' प्रति में प्राप्त होता है, जो अर्थ की दृष्टि से संगत है।

रहसहि—सं० रभसा = वेगसे, जोर से।

८३. वाचा सए = सैकड़ों बातें।

सह = एक साथ।

सहि—सं० आ-ज्ञा का प्रा० धात्वादेश सह = हुकुम देना, आदेश करना, फरमाना। सहइ—(पासद्द० ११०९)।

अरु कत धाँगड देखिअथि जाइ ते ॥८४॥
गोरु मारि मिसिमिल कए षाइते ॥८५॥

३।२० [दोहा]

धाँगड कटकहि लटक वड जे दिस धाडें जाथि ॥८६॥

---

८४ [अ] अवरु कत धागल देखिअथि जाइते । [ख] धंगर ।
८५ [अ] विसिमिल खाइते । [ख] विसिमिलि ।
८६ [अ] अरु पाठ नहीं है । धागल । धाला जाथि ।
[क] अरु धाँगड । [ख] धगर । लटकहि कटक गण गं (? जं)
दिस धारे जाहि ।

८४-८५. और वह कैसा दिखाई पड़ता है मानों जन्मसे धाँगड़ जाति का कोई व्यक्ति हो । गाय को मार कर बिस्मिल्ला कह कर खा लेता है ।

८६–८७. सेना के साथ बहुत से धाँगड़ अनियमित रूप से

---

८४. धाँगड = एक जंगली जाति जो विन्ध्य और कैमोर की पहाड़ियों पर रहती है (हिन्दी श० सा० १६८९) ।

धाँगड़ कटक—प्राचीन काल में छः प्रकारकी सेनाओं में जिसे आटविक बल कहते थे वही मध्य काल में धाँगड़ कटक कहा जाने लगा ।

जाइ—सं० जाति = जन्म, उत्पत्ति ।

८६. लटक = लटकना । सेना का नियमित भाग न होकर विघटित रूप में उसके साथ जुड़े रहना ।

वड़ = बहुत, अनेक ।

धाड़े = धावा मारने के लिए, डाकुओं की तरह हमला करने या

तं दिस केरी राए घर तरुणी हट्ट विकाथि ॥८७॥

४।२१ [माणवहला छंद]

सावर एकहा कतन्हिक हाथ ॥८८॥
वेत्थल कोत्थल वेढल माथ ॥८९॥

---

८७ [अ] केरा राअ घर। विकाए। [ख] हाट विकाहि।

८८ [अ] एक हो कतन्हि का ०। [क] सावर एक हाँक तन्हि का हाथ। [ख] (एक) वक उन्ह के (एकहाँ कतन्हि का के स्थान पर)

८९ [अ] वेथ लाए कोयलाए वेटल माथ। [ख] चेथरा कोथरा वेढले ०। [क] चयइले कोयइले वेढल माथ।

जुड़े रहते थे। वे जिस दिशा में धाड़े मारते उस दिशा के राज घराने की युवती स्त्रियाँ हाट में बिकती दिखाई देती थीं।

८८—८९. कितनों के हाथ में एक एक बरछा था। बड़े थैलों में तरकश लपेटा हुआ था।

लूटने के लिए। सं० धाटी>प्रा० अप० धाड़ी=हमला, आक्रमण, धावा। दे० पीछे ३।८६।

८८. सावर=कुन्त, बर्छा। दे० शर्वल>प्रा० सव्वल (पासद्द० ११०७) <सं० शर्विला। बंगला कृत्तिवासरामायण में भी 'सावल' शब्द का प्रयोग हुआ है। साबर=बर्छा (हि० श० सा)। इस पंक्ति का पाठ 'क' प्रति में अक्षरों को बीच में तोड़ने से बहुत भ्रष्ट हो गया है। 'अ' प्रति से उसे शुद्ध किया जा सकता है। एकहा और कतन्हिक ये अलग-अलग शब्द हैं। एकहा—सं० एकशः=एक-एक से या एक-एक के। कतन्हिक=कितनों के ही।

४।२२

दूर दुग्गम आगि जारथि ॥९०॥
नारि विभालि बालक मारथि ॥९१॥

---

९० [अ] आगे जारयि ।
९१ [अ] विमालि । बाल मारयि । [क] विभारि । [ख] बाल ।

९०–९१. दूर के और दुर्गम स्थानों में भी पहुँच कर आग लगा देते थे। स्त्रियों को व्याकुल करके बालकों को मार डालते थे।

---

८९. वेत्थल कोत्थल वेढल माथ—इसका 'क' प्रति में चथइजे कोथइजे वेढल माथ, अत्यन्त भ्रष्ट पाठ है। 'अ' प्रति मूल पाठ के सर्वाधिक निकट है।

वेत्थल—'अ' प्रति में 'वेथलाए' पाठ है जिसका मूल वेथल या वेत्थल था जो प्रा० वित्थड़ या वित्थय का अव० रूप था। सं० विस्तृत >वित्थड़, वित्थरिअ = विशाल, विस्तार युक्त। रकार के स्थान में लकार का आदेश 'कोत्थल' के कारण हो गया है।

कोत्थल—'अ' प्रति में कोथलाए और 'ख' प्रति में कोथरा एक ही मूल शब्द के दो रूप हैं। दे० कोत्थल = थैला, कोथली, पासह० ३३२।

वेढल = लपेटा हुआ, वेष्टित। 'अ' प्रति में 'वेटल' पाठ है।

माथ = तरकश। सं० भस्त्रा >प्रा० अप० मत्थ >हि० माथ। यह महत्त्वपूर्ण पाठ 'अ' प्रति में सुरक्षित है। 'क' और 'ख' में इसका बिगड़ा रूप 'माथ' है जो यहाँ निरर्थक है।

९१. नारि विमालि = स्त्रियोंको कष्ट पहुँचा कर। विभालि—सं० विह्वल >प्रा० अप० विम्भल = व्याकुल, पासह० ९८६। विम्भलिय = व्याकुल किया हुआ।

लूलि अज्जन पेटे वए ॥६२॥
*असाए वृद्धि कन्दल खए ॥६३॥

९२ [अ] लूलि अज्जन। [क] लूढि अरजन। [ख] लूरि।
९३ [अ] अस्पाए वृद्धि कंदले।
[क] अन्याजे वृद्धि कन्दल खए। [ख] कंदर।

९२–९३. लूट की ही कमाई से पेट का काम चलता था। दुःख, कलह और क्षय की वृद्धि करते थे।

९२. लूलि—लूलि [अ प्रति], लूरि [ख प्रति], लूढि [क प्रति] ये तीन पाठ प्राप्त हैं। तीनों ही प्राचीन भाषा की दृष्टि से शुद्ध हैं और एक ही मूल धातु सं० लुण्ट>प्रा० अप० लूड (=लूटना, चोरी करना) के रूप हैं, पासद्द० ९०४।

अज्जन—सं० अर्जन>प्रा० अज्जण=उपार्जन, कम्माई। पेटे=पेट।

वए=चलता था। सं० वा>प्रा० अप० वा=गति करना, चलना। वाइ—वर्तमान काल। वए भूतकाल, पासद्द० ९३८।

९३. असाए—'क' 'ख' प्रति का पाठ 'अन्याजे' है जो कि सरल पाठ है। 'अ' प्रति में 'अस्पाए' पाठ है, वह भी भ्रष्ट पाठ है। हमारा सुझाव है कि उसका मूल क्लिष्ट पाठ 'असाए' था।

असाय=दुःख, पीड़ा। सं० असात>प्रा० अप० असाय, पासद्द० ११४।

कन्दल=लड़ाई, झगड़ा। मानियर विलियम के संस्कृत कोश में यह अर्थ दिया है, पृ० २४९।

खए=विनाश। सं० क्षय>प्रा० अप० खय।

४।२३

न दीनाक दया न सकताक डर ॥ ९४ ॥
न वासि सम्वर न विआहीं घर ॥ ९५ ॥
न पापक गरहा न पुन्यक काज ॥ ९६ ॥
न सत्रु क सङ्का न मित्र क लाज ॥ ९७ ॥

---

९४ [अ] दआ । [ख] दाया ।
९५ [अ] संबर । विआही । [ख] सम्बल । विआहलि ।
९६ [अ] के पूर्व इस प्रतिमें एक और पाठ है—'न साहु क संका । न चोर क भीए । न पाप । गर्हा । पुन्न ।
[क] न आपक गरहा [ख] न अपडाराक जस न पाप ग्रह् ।
९७ [अ] संका । मित्त । [क] काज ('लाज' के स्थान पर) ।

९४-९५. उनमें न दीन के प्रति दया थी, न बलवान का डर था। न रहने का ठिकाना और भोजन था, और न घरमें स्त्री थी।

९६-९७. न पाप के प्रति निन्दा का भाव था, न पुण्य से कुछ वास्ता रखते थे। न शत्रु का डर था, न मित्र की लज्जा थी।

---

९४. सकता = शक्तिमान्, बलवान् ।
९५. वासि = वास, रहनेका ठिकाना ।
सम्वर = सम्बल, खानेका भोजन । सं० शम्बल ।
९६. पाप क गर्हा—'क' 'ख' प्रतियों का पाठ भ्रष्ट है । 'अ' प्रतिका पाठ शुद्ध है ।

४।२४

न थिर वअ्ण न थोर ग्रास ॥ ९८ ॥
न जसक लोभ न अपजस त्रास ॥ ९९ ॥
न शुद्ध हृदय न साधुक संग ॥ १०० ॥

---

९८ [अ] गरास । [क] न थोर वचन न थोड़े ग्रास ।
९९ [अ] न जस क लोभ । अपजस क ।
[क] न जस लोभ न अपजस त्रासा ।
१००[अ] सुद्ध हृदअ । संगा।

९८-१०१. न बात का पकापन था, न आहार का संयम था। न यशका लोभ था, न अपयश का डर। न शुद्ध हृदय था, न अच्छे लोगों की संगति। न यमराज की दी हुई मौत आती थी और न

---

९८. थिर वअण—सं० स्थिर वचन, पक्की बात, अर्थात् जैसा कहना वैसा करना। व्यंजना यह हुई कि तुर्क अपनी बातके सच्चे न थे, झूठ बोल कर धोखा देते थे।

न थोर ग्रास—उनका ग्रास या आहार भी सीमित न था अर्थात् पराया माल हड़पने की कोई हद न थी।

ग्रास—गुजारे के लिए मिली हुई जमीन जायदाद के लिए यह शब्द मध्य कालीन शब्दावली में प्रयुक्त होता था। उसी की ओर यहाँ संकेत है। कितना भी गुजारा मिला हो, उन्हें थोड़ा न लगता था।

न पिउवा उपसम न जुझवा भंग ॥ १०१ ॥

१०१[अ] पिउवा उपसम न जुझवा भंग ।

[क] न पिउँ वाँउँ पसजो न युद्ध भङ्ग ।

[ख] न पिउवाँ उपसङ्ग न जुझवा भङ्ग ।

युद्ध में ही विनाश होता था । (तो फिर उनका अन्त कैसे हो ?)

---

१०१. न पिउवा उपसम न जुझवा भंग—यह अत्यन्त क्लिष्ट मूल पाठ था। उसका ठीक अर्थ न समझने से 'क' 'ख' प्रतिमें पाठ भ्रष्ट हो गया, यद्यपि शब्दोंका सही पदच्छेद करने से 'पिउवा उपसजो' यह लगभग मूल के निकट का पाठ उपलब्ध हो जाता है।

'अ' प्रति का 'उपसम', 'क' प्रति में 'उपसजो' हो गया है जो ठीक है किन्तु 'ख' प्रतिका 'उपसंग' निरर्थक भ्रष्ट पाठ है।

पिउवा—संस्कृत और प्राकृत में पितृवन—पिउवण श्मशान के अर्थ में आता है। प्राकृत पिउवइ [सं० पितृपति] = यम, यमराज (हेम० १।१३४; पासद्द० ७३५)। सं० पितृपतिक (= पितृपति या यमराज सम्बन्धी) >प्रा० अप० पिउवइअ>अव० पिउआ = यम-सम्बन्धी।

उपसम—(सं० उपशम) = ठंडा होना, शान्त होना, अन्त होना, मृत्यु।

जुझवा = युद्धवाला या युद्ध सम्बन्धी। सं० युद्धवत्>प्रा० जुज्झवय>अव० जुझवा।

भंग = विनाश, मृत्यु।

४।२५ [दोहा]

ऐसो कटकहिं लटक वड जाइते देषिअ बहूत ॥ १०२ ॥
मोअण भष्वण छाड नहि गमणे न हो परिभूत ॥ १०३ ॥

---

१०२ [अ] एसो । कटकहि । जाएते देखिअ पहूत ।
[क] जाइतें देषिअ बहुत [ख] ऐसन लटकहिं कटक गण ।
१०३ [अ] भरखण । [ख] भूखण । पाव (छाडके स्थानपर)

---

१०२. इस प्रकार नियमित सेना के साथ बड़ी संख्या में लटक या लटकन्त टुकड़ियाँ भी जाती हुई बड़ी संख्या में दिखाई पड़ती थीं ।

१०३. भोजन और भक्षण उन्हें किसी समय छोड़ता न था, और न चलने से ही वे थकते थे ।

---

१०२. लटक = लटकन्त सेना, अनियमित रूप से जुड़ी हुई सैनिक टुकड़ी । ज्ञात होता है मध्यकालीन सैनिक शब्दावली में कटक नियमित सेना (regular army) और लटक अनियमित (irregular army) के लिए प्रयुक्त होता था ।

१०३. मोअण = नियमित समय की खूराक ।

भख्खण = बीच-बीच में जब-तब कुछ न कुछ खाते या चरते रहना ।

परिभूत = पराजित होना, हारना, थकना । इसका प्रा० रूप 'परिभूय' पासह० में दिया है किन्तु 'बहूत' के तुकान्त में 'परिभूत' का ही प्रयोग कवि ने किया है ।

४।२६ [दोहा]

ता पाछे आवत्त पलु हिन्दू रण गमनेन ॥ १०४ ॥
राआ गणए न पारिअइ राउत लेष्खइ केण ॥ १०५ ॥

४।२७ [छंद-पुमानरी]

दिग्गन्तर राआ सेवा आ आ तें कटकाजी जाही ॥ १०६ ॥

---

१०४ [अ] पलु ('हुअ' के स्थान पर) हिन्दू। रण ('दल' के स्थान पर)। [क] आवत्त हुआ हिन्दू दल गमनेन।
१०५ [अ] गण न पारिआ। लेरिखअ।
[ख] दुव्वलो रावा नाउत्त लेखिअे केण।
१०६ [अ] दिग्गंतरा। सेवा आया ते कटकाहि०।
[क] दिग्गन्तर राआ सेवो। [ख] (सेवा सेवो)।

---

१०४. तुर्की सेना के पीछे लड़ाई पर जाने के लिए हिन्दुओं का एक दल प्रकट हुआ।

१०५. उसमें राजाओं की ही गिनती नहीं हो सकती थी, रावतों का लेखा कौन कर सकता था ?

१०६-१०७. दिशाओं से अनेक राजा सेवा में आ-आकर

---

१०४. आवत्त = चक्र, समूह। सं० आवर्त।

पलु—सं० प्रकटय् का धात्वादेश पल, पास्मइ० ७०१। सं० पत् का भी अप० में पल धात्वादेश होता है (= पड़ना, गिरना)। वह अर्थ भी यहाँ संगत है।

१०५. लेख्खइ = लेखा या हिसाब करना। सं० लेख्य > प्रा० अप० लेख्ख, उससे नाम धातु लेख्खइ।

निअ-निअ धअ गव्वे सङ्गरे भव्वे पुहवी नाहि समाही ॥ १०७ ॥
राउत्ता पुत्ता चलइ बहुत्ता पअ भरे मेइणि कम्पा ॥ १०८ ॥
पत्ताके चिन्हे भिन्ने भिन्ने धूली रवि रह झम्पा ॥ १०९ ॥

---

१०७ [अ] निअनिअ धअ । संगर । नाए (नाहि के स्थानपर) ।
[क] निव-निव धन । [ख] दप्पे ('गव्वे' के स्थान पर) ।
१०८ [अ] बहुत्ता । पअभर । कंपा । [क] पअभरे ।
[ख] राउत पाइक्का ।
१०९ [अ] पत्ताके (पत्तापे के स्थानपर । धूली रवि रवझंपा । एक 'भिन्ने'....पाठ इसमें नहीं मिलता । [क] पत्तापे चिन्हे भिन्ने-भिन्ने धूली रह-रह झम्पा । [ख] पत्ताकहि ।

कटकाई में चल रहे थे । अपने-अपने स्वामी के गर्व से भरे हुए वे आगामी युद्ध के लिए पृथ्वी पर नहीं समा रहे थे ।

१०८-१०९ अनेक रावतों के पुत्र सेना में चल रहे थे, जिनके पैरों के भार से धरती काँप रही थी । उनकी पताकाओं पर भिन्न-भिन्न चिह्न थे । उनके पैरों की धूलि से सूर्य का रथ ढक गया ।

---

१०६ कटकाणी = कटकाई, कटक या सेना का प्रयाण । म कटकाई राजा केरी, पद्मावत ।

१०७ धअ—सं० धव > प्रा० धअ = स्वामी । यह 'अ' प्रतिका पाठ है । 'क' 'ख' प्रतियोंमें 'धन' पाठ है । भव्वे—सं० भव्य > प्रा० भव्व = होने वाले, आगामी ।

१०८, राउत्ता पुत्ता = रावतों के पुत्र, सामान्य सैनिक । पंक्ति १०६ में राजाओंका उल्लेख है, पंक्ति १०७ में रावतों, का, जो अपने स्वामियों के गर्व से गर्वित थे । पं० १०८ में रावतों के पुत्र या साधारण राजपूत सैनिकों की पैदल सेना का वर्णन है ।

४।२८ [छंद-पुमानरी]

जोअरणा धावहि तुरय णचावहि बोलहि गाढिम बोला ॥११०॥
लोहित पित सामर लहिअउ चामर सुवणहि कुण्डल डोला ॥१११॥
आवत्त विवत्ते पअ परिवत्ते जुग परिवत्तन भाणा ॥११२॥

---

११० [अ] जोआण । तुरुअ नचावहि । गाडिम । [क] जोअण्डा ।
[ख] जोयण । [शा] जोअण्णा ।
१११ [अ] लहिगउ । सुवणहि कुंडल ओला ।
[क] लहिअउँ चामर सवणहि ।
[ख] लोहित इ सीतल शायर ओन्हि सै चामर श्रवणह्नि कुण्डल ला ।
११२ [अ] पय (पअ) । परिवत्तण ।
[ख] विवट्टे (विवत्ते के स्थान पर) ।

११०-१११. जवान सैनिक घोड़ों को दौड़ाते हुए नचा रहे थे और जोर की बोली में बोल कर उन्हें डपट रहे थे। लाल, पीले और काले रंग के चँवर उनके ऊपर ढाले जा रहे थे। उनके कानों में सोने के कुण्डल झूल रहे थे।

११२-११३. आगे-पीछे चक्राकार घूमने से जब पैरों का परिवर्तन होता था तो ऐसा भान होता था मानों युग का परिवर्तन

---

११०. जोअण्णा = जवान। 'क' प्रति में 'जोअण्डा' शा० प्रतिके 'जोअण्णा' का भ्रष्ट पाठ है। सं० यौवनवत्।

गाढिम—प्रा० गाढ = दृढ, मजबूत, तेज, अत्यन्त, अतिशय। इस प्रकार के तेज बोलों से सवार घोड़ों को डपट रहे थे।

१११. लहिअउ—सं० लभ् >प्रा० लह = प्राप्त करना, पाना।

घन तरल निसाने सुनिअ न काने साणे बुझावइ आणा ॥११३॥

४।२९ [छंद-पुमानरी]

वेसरि अरु गद्दह लष्ख बलद्दह इडिका महिसा कोटी ॥११४॥

---

११३ [अ] अण तरल निसाणे सुनिअ न काणे साणे हक्कारिअ आणा।
[ख] में 'परिवत्ते' के उपरान्त 'आणा' तक पाठ नहीं है।
[क] घन तवल निसाने सुनिअ न काने साणे बुझावइ आणा।
११४ [अ] लरखबलद्दह इडिका महीसा०।
[ख] वेसरि अउरु मद्दह होइ समद्दह इडी का महिसा कोटी।
[क] वरद्दह इति का महिसा कोटी।

हो रहा हो। अत्यन्त ज़ोर-ज़ोर से निशान बजने के कारण कान से सुनाई नहीं पड़ता था, अतएव इशारों के द्वारा आज्ञा समझाई जाती थी।

११४-११५. खच्चर, गधे और बैल लाखों की संख्या में थे।

---

११२. आवत्त—विवत्त [सं० आवर्त-विवर्त]—आवट्ट-विवट्ट = चक्राकार आगे-पीछे घूमना।

माण—सं० मण् > प्रा० मण एवं माण = कहना।

११३. निसाने—दे० णिस्साण = एक प्रकार का बाजा; वज्जिर णिस्साण तूण रव गज्जो, पासद्द० १२५६।

साणे = इशारे से। सं० संज्ञा > प्रा० सण्णा > साण > सान। बुझावइ—'सान बुझाना' भोजपुरी, अवधी और मैथिली में चालू मुहावरा है। (किष्किन्धा कांड ११४)। 'अ' प्रति का पाठ 'हक्कारिअ' है। सं० आकारयति का प्राकृत रूप हक्कारिअ, पासद्द० ११८१।

असवार चलत्ते पाअ अलत्ते पुहवी भए जा छोटी ॥११५॥
पीछे जे पडिआ तँ लडखडिआ वइठहि ठामहि ठामा ॥११६॥

---

११५ [अ] चलत्ते पाए अलत्ते० । [क] असवार चलन्ते पाअ घलन्ते० ।
[ख] असवार''''घलन्ते पाठ नहीं है, बाकी 'धरणो भै मउ क्षेटि इतना 'आवत्त विवट्ट पअ वरिवत्ते' के उपरांत जोड़कर एक पद किया है ।

११६ [अ] पीछी जे पलिअ सेनल खलिअउ वइसहि ठांमहि ठांम ।
[ख] पाछे (पीछे) । लटखरिआ (लडखडिआ) ।
वैसहि ('ठामहि' के स्थानपर) ।

एवं भेड़ और भैंसे अनगिनत थे । चलते हुए घुड़सवारों के घोड़ों के ऊँची टाप फेंकने से जो धूल उठती थी उससे धरती छोटी हुई जा रही थी ।

११६-११७. सेना की उस कूच में जो पीछे पड़ गए वे लड़खड़ा कर स्थान-स्थान पर बैठ रहते थे । फिर वे साथ नहीं

---

११४. वेसरि—सं० वेसर>प्रा० वेसर = खच्चर ।

गद्दह—सं० गर्दभ>प्र० गद्दह ।

वलद्दह—दे० बलद्द = बैल ।

इडिका—सं० एडक>प्रा० एडक = भेड़ । 'अ' प्रतिमें 'इडिका' शुद्धपाठ है । 'ख' प्रति में उसी का इडीका है, और 'क' प्रति में उसका अपपाठ इतिका हो गया है ।

११५. असवार चलत्ते पाअ अलत्ते—यह क्लिष्ट पाठ बीकानेर की 'अ' प्रति में है जो मूल श्रेष्ठ पाठ था । 'अलत्ते' के स्थान में 'क' 'ख' प्रतियों में 'घलन्ते' पाठ कर दिया गया ।

गोहन नहि पावहि वथ्थु नचावहि भूलल भुलहि गुलामा ॥११७॥

११७ [अ] गोहन। पावहि। वत्थु लगवहि। भूलहि भुलल०।
[क] न ('नहि' के स्थानपर)।
[ख] (पावहि) रखतदा सुविहि भूषलभवहि गुलावा।

पकड़ पाते थे। अपने घर या डेरों के पहचानने में भूले हुए गुलाम या सेवक इधर-उधर घूमते रह जाते थे।

अलत्ते—सं० उत्क्षिप् का धात्वादेश अल्लत्थ = ऊँचा फेंकना। पाअ-अलत्ते = पैर ऊँचे उठा कर फिर धरती पर रखना, जैसा कि तेज चाल के समय होता है। अल्लत्थे > अल्लत्ते > अलत्ते का पाठान्तर घलत्ते या घलन्ते हो गया है। घलन्ते—सं क्षिप् का धात्वादेश घल्ल = फेंकना, डालना, चलाना।

११७. गोहन = साथ। यह प्राचीन हिन्दी का प्रसिद्ध शब्द था। दे० पदमावत, संजीवनी टीका, तेहि गोहन सिंहल पदमिनी, ४१०।७; अन्य ५१५।४, ५२७।६, ६५०।२।

वथ्थु—सं० वास्तु > प्रा० वत्थु = घर या रहने का स्थान।

नचावहिं—सं० ज्ञा धातु का एक धात्वादेश णच्चा, णच्चाण (पासद्द० ४७०) = पहचानना।

भूलल—सं० भ्रंश् का धात्वादेश प्रा० अप० भुल्ल = भूलना। सं० भ्रष्ट > प्रा० भुल्ल (= भूला हुआ)—भूलल।

गुलामा = नौकर-चाकर।

४।३०

तुलकन्हि के फौदें हौदे हौदे चप्परि चौदिस भूमी ॥११८॥
अलुता जे घरन्ते कलह करन्ते हिंदू उतरथि धूमी ॥११९॥

---

११७ [अ] फौदे । [क] (फौदें) फौदें । [ख] हउद्दे हउद्दे ।
११९ [अ] अलुता जे घरन्ते कलह करंते हिंदू उतरथि धूमी ।
[क] अओताक घरन्ते.........होदू उतरथि भूमी ।
[ख] उतरहि (उतरथि के स्थान पर) ।

---

११८. तुर्कों की फौजों ने हौदे ही हौदे में बैठे हुए (अर्थात् बिना युद्धके) चारों दिशाओं की भूमि को दबा लिया ।

११९. जो अभी तक लुप्त होने से बचे रह कर अपने राज्य को धारण किए हुए थे वे हिन्दू राजा युद्धके लिये धुँधुआ कर ऊपर उठ रहे थे ।

---

११८. हौदे = हाथी और ऊँट पर रक्खी जाने वाली अम्बारी । अर० हौदज़ (स्टाफा० १५१७) ।

चप्परि—सं० आक्रम का धात्वादेश चप्प = आक्रमण करना, दबाना, पासह् ३९९ ।

११९. अलुता = अलुप्त, जिनकी सत्ता का लोप नहीं हुआ था । सं० अलुप्त > प्रा० अलुत्त > अव० अलुता ।

धरन्ते—सं० धरय् > प्रा० धर = पृथिवी का पालन करना । अथवा, सं० धृ > प्रा० धर = अपने आपको धारण करना ।

उतरथि—सं० उत् + तृ > प्रा० उत्तर = बाहर निकलना, ऊपर आना (पासद्द० १९३) ।

धूमी— यह श्रेष्ठ पाठ 'अ' प्रति में सुरक्षित है । सं० धूमित >

४।३१

अस पष एकचोई गणिअ न होइ सरइचा सरमाणा ॥१२०॥

---

१२० [अ] पख । गणिओ । सरइचा सरमाण ।

---

१२०. आस पास में लगे हुए एकचोई, सरइचा और सरमान नामक तम्बुओं की गिनती नहीं हो सकती थी ।

धूमिअ = धुँधुआ कर । जो पहले बैर छिपाये थे वे अब धुँधुआ कर सिर उठा रहे थे । अथवा, धूम शब्द का एक अर्थ द्वेष या अप्रीति भी है (पासद० ६०४) । उसी से धूमी = द्वेषपूर्वक, बैर बढ़ाकर ।

१२०. अस-पष = आस-पास में । आस्य (= मुख, सामने) > प्रा० आस > अस । पार्श्व (= बगल) > पास > पस । अथवा पक्ष > पक्ख > पख > पष ।

एकचोई—एक चोब पर खड़ा होने वाला एक चोबी तम्बू । विद्यापति ने एकचोई, सरमान, सरइचा, वारिगह और मण्डल इन पाँच प्रकार के तम्बुओं का यहाँ उल्लेख किया है । श्री बाबूराम सक्सेना की टीका में इनका अर्थ नहीं समझा गया और श्री शिवप्रसाद सिंह ने अर्थ छोड़ दिया है ।

सरइचा—एक विशेष प्रकारका तम्बू । अर० शिराअ + फा०चः (स्टाफा० ७४०) । वर्णरत्नाकर में 'वस्त्रगृहवर्णना' के अंतर्गत सरइचा और सरमान का उल्लेख किया गया है । इब्नबतूता कृत रेहला (यात्रावृत्तान्त) के अनुसार राजकीय 'सराचा' का रंग लाल होता था, जिसका इस्तेमाल अमीर-उमरा ही कर सकते थे । औरों के लिए उसका रंग सफेद होता था ।

सरमाण = ठक्कुर फेरू ने अपने 'गणितसार' ग्रंथ में इसे 'सरमान'

वारिग्गह मंडल दिग आखंडल पट्टन परिठम भाग्गा ॥१२१॥

१२१ [अ] परिचव लाण । [क] मण्डल । आखण्डल । [ख] पुहमी (पट्टन की जगह) ।

१२१. बारगाह और मण्डल नामक बड़े और सुन्दर शामियानों से पूर्वी दिशा की राजधानी जौनपुर का यश प्रसिद्ध हो रहा था ।

और जायसी ने 'सरवान' कहा है—उठि सरवान गगन लहि छाए । जानहु राते मेघ देखाए ॥ पद्मावत ४९५।६ । सरवान लाल रंग का ऊँचा शाही शामियाना होता था । फा० शारवान (स्टाफा० ७२३)।

१२१ वारिग्गह = बारगाह नामक दरबारी शामियाना । जायसी (पद्मा० ४९५।५), वर्णरत्नाकर (पृ० २३), आईन अकबरी (पृ० ५५–५६) और कान्हड़-दे-प्रबन्ध (१।७९, २।१०५) में बारगाहका उल्लेख आया है । आईन० के अनुसार बारगह दरबारके काममें आता था । बड़े बारगहमें दस हजार आदमी बैठ सकते थे और एक हजार फर्राश उसे एक हफ्तेमें खड़ा कर पाते थे । अकबरके समयमें सादे बारगहका मूल्य लगभग दस हजार रुपये होता था और कामदानी का लाखों रुपये (आईन० पृ० ५५)।

मंडल—कीर्तिलतामें पहले अम्बर मंडल का उल्लेख हो चुका है (२।२१६)। यह वस्त्रोंका बना हुआ गोल तम्बू होता था (आईन०, सं० २१, पृ० ५६)। जैसा इसके नामसे प्रकट है यह हिन्दू युगका वस्त्रगृह या तम्बू था । बौद्ध संस्कृत साहित्यमें 'मंडलमाड' का उल्लेख आया है । किन्तु इसका सटीक वर्णन माघकृत शिशुपालवधमें आता है जिससे विदित होता है कि इसकी रचना गुप्त युगमें ही होने लगी थी । माघ ने इसे सफेद रेशमसे बना हुआ गोल राजकीय आवास कहा

४।३२ [छपद]

जषणे चलिअ सुरुतान लेख परिसेष जानको ॥१२२॥
तरणि तेअ सम्वरिअ अट्ठ दिगपाल कट्ठ हो ॥१२३॥

---

१२२ [अ] जखणे। सुरताण। परिसेख। जाण। [ख] लंख परिसंख गणै ('लेख परिसेष जानको' के स्थान पर)।
१२३ [अ] तेज संवरिअ अठ दिकपाल कठ हो।

१२२-१२३. जिस समय सुलतान ने कूच किया, उसका पूरा हिसाब कौन जान सकता है? सूर्य का तेज छिप गया और आठों दिक्पालों को सेना की भीड़-भाड़ से कष्ट हुआ।

है (शुक्लांशुकोपरचित चन्द्राकृति नराधिपवेश्म, माव, ५।२२), जिसके चारों ओर नीले रंगकी कनातका पर्दा (नीलाभ्रपंक्तिपरिवेष) खड़ा किया जाता था।

दिगआखण्डल = इन्द्रकी दिशा, पूर्व दिशा। जौनपुर मशरिकी शहर कहलाता था। अर० मशरिकी = पूर्वका।

पट्टन = राजधानी, प्रमुख शहर।

परिठम = प्रतिष्ठा, यश।

भाणा = कहा जाता था, प्रसिद्ध था।

१२२. परिसेष = अवशिष्ट, बचा हुआ, सम्पूर्ण। सं० परिशेष।

१२३. तेअ—सं० तेजस् > प्रा० अप० तेअ = प्रकाश।

दिग्पाल कट्ठ हो = दिग्पालों को इस कारण कष्ट हुआ कि सेना की भीड़-भाड़से उठी धूल उनके क्षेत्र में भी भर गई।

धरणि धूलि अन्धार छोड्ड पेअसि पिअ हेरव ॥१२४॥
इन्द चन्द आभास कमण परि एहु समअ पेलव ॥१२५॥
कन्तार दुग्ग दल दमसि कहुँ खोणि खुन्द पअ भार भरै ॥१२६॥

---

१२४ [ख] चकि ('पेअसि' के स्थान पर)।
१२५ [अ] इंद चंद । कमणे । समअ पेलव ।
[क] कमन परिएहु समय पेल्लव ।
१२६ [अ] कहुँ । भारे भरे ।

१२४–१२५. पृथिवी ने धूल के द्वारा अंधेरे को उन्मुक्त किया । प्रियतमा ने पति की ओर जिज्ञासासे देखा कि इस समय सूर्य और चन्द्र दोनों का प्रकाश एक साथ ही क्यों मन्द पड़ गयाहै ?

१२६–१२७. सेना ने सर्वत्र जंगल और पर्वतों को रौंद कर जब कहीं पृथिवी को खूँद कर अपने बोझे से भरना शुरू किया तब

सम्वरिअ = सं० सम् + वृ > प्र० अप० संवर = निरोध करना, रोकना, छिपाना । सं० संवृत > प्रा० संवरिअ ।

१२४. अंधार छोड्ड = जब सूर्य ने अपना प्रकाश समेट लिया तो धरती ने धूल के रूप में अंधकार को उन्मुक्त कर दिया ।

१२५. इन्द—सं० इन्द्र = सूर्य ।

पेलव = सुकुमार, मन्द ।

इन्द चन्द आभास—दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा का प्रकाश स्वाभाविक है । पत्नी पति से जिज्ञासा करती है कि यह कौन सा विलक्षण समय है जब चन्द्र और सूर्य दोनों का प्रकाश मन्द पड़ गया है ।

१२६. कन्तार = जंगल ।

दुग्ग = पर्वत ।

हरि संकर तनु मिलिए रहु बम्भ हीअ डगमगिअ डरे ॥१२७॥

---

१२७ [अ] हरिसंकर तनु मिलिए। बंभहिअउ। [क] हरि शंकर तनु एक्कु रहु। [ख] में 'एक्कु' के स्थान पर 'मिलि' है संभवतः 'मिलिएक्कु' पाठ रहा होगा—सक्सेना जी।

पृथिवी को टेक देने के लिए शिव और विष्णु दोनों ने एक दूसरे का सहारा लिया जिसके कारण उनके शरीर एक दूसरे से मिल गए और यह देखकर डरसे ब्रह्मा का हृदय भी डगमगा गया।

कन्तार दुग्ग दल दमसि—जंगल के वृक्ष और पर्वत की चोटियाँ पृथ्वी की रक्षा करती हैं। सेना ने पहले तो उन्हें रौंद कर सफाचट कर डाला फिर उसके पैर पृथ्वी को खूँद कर उसके भीतर भरने या घुसने लगे। उस समय समुद्र के भीतर बैठे हुए विष्णु ने घबरा कर आश्रय के लिए शिव को पकड़ लिया। दोनों के शरीर इस प्रकार एक दूसरे से मिल गए कि वही हरिहर मूर्ति बन गई। कवि ने हरिहर मूर्ति के निर्माण के विषय में यह उत्प्रेक्षा की है। उन दो देवताओं की यह दशा देख कर ब्रह्मा का हृदय भय से काँप गया।

१२७. बम्भ—सं० ब्रह्मा (= ब्रह्मा, विधाता) के प्राकृत और अपभ्रंश में दो रूप होते हैं बम्ह और बम्भ (पासद० ७७६, ७७८)।

हरि संकर तनु मिलिअ रहु—यहाँ शिव और विष्णु की संयुक्त हरिहर मूर्ति की ओर संकेत है। सेना के खूँदने से अन्य सब रूप तो एकाकार हुए ही जाते थे, शिव और विष्णु के अलग अस्तित्व को भी लुप्त होते देख कर ब्रह्मा को भय हुआ।

४।३३ [छपद]

महिस उतए मनुसाए धाए असवारहिं मारिअ ॥१२८॥
हरिण हारि हल वेग धरए करे पाइक पारिअ ॥१२९॥

१२८ [अ] उतए ('उंठु' के स्थान पर)। असवारहि।
[ख] अगिराइ ('मनुसाए' के स्थान पर)।
१२९ [अ] पाइके।

१२८-१२९. भैंसे तरंग में आकर अलफ़ हो गए और झपट कर घुड़सवारों पर हमला करने लगे। हिरन अपनी तेज चाल भूल गए जिससे पैदल सिपाही भी उन्हें हाथ से पकड़ने में समर्थ हो रहे थे।

१२८. उतए—'अ' प्रति में यह अत्यंत उत्कृष्ट मौलिक पाठ सुरक्षित रह गया है। सं० उत्तान>प्रा० अप० उत्ताण = उन्मुख, उर्ध्वमुख। उससे क्रियारूप उतए = पिछले पैरों पर खड़े होकर मुँह ऊँचा कर लिया, अर्थात् अलफ हो गए। 'अलफ होना' इस अरबी शब्द ने प्राचीन 'उताना' शब्द को हटाकर उसकी जगह ले ली। विद्यापति ने अपनी समर्थ भाषा में कुछ शब्द चित्र दिए हैं जो सैनिक कूच की हलचल के द्योतक हैं। इस प्रकार के शब्द-चित्र प्रस्तुत करना कवि समय ही बन गया था। बाण ने 'हर्ष चरित' में भी कुछ ऐसे शब्द-चित्र दिए हैं। उनमें हिरन-खरगोशों का शिकार भी है।

मनुसाए = उमंगना, तरंग में आना (हि० श० सा० २६५०)।

१२९. हारि = हारना, थकना।

हलवेग = तेज चाल। हल = चाल। दे० हल्ल धातु = हिलना, चलना, (पासद्द० ११८७)।

धरए = पकड़ना।

तरसि रहिअ सस मूस उड्डि आकास पष्खि जा ॥१३०॥
एहु पाए दरमलिअ ओहु सञ्चान खेदि खा ॥१३१॥
इबराहिम साह पआनओ जं जं सेणा सञ्चरइ ॥१३२॥

---

१३० [अ] उड्डि । पंखि ('पष्खि' के स्थान पर) ।
[ख] (मूस) पेखिआ (का)स उड्डिजा ।

१३१ [अ] पाअ दरमलिअ वोहु सचाण । [क] एहु पाए दरमणिअ ओहु सैञ्चान....। [ख] दरमरिअ ।

१३२ [अ] इबराहिम । पआणउ । सेणा संचरइ ।
[ख] जहँ जहँ । संचरिअ ।

१३०-१३१. खरगोश और चूहे डर कर दबक रहे थे और पेड़ों के पक्षी उड़-उड़ कर आकाश में भर रहे थे। खरगोश और चूहे सैनिकों के पैरों से कुचले जा रहे थे और आकाश के पक्षियों को बाज झपट कर खा रहे थे। (नीचे ऊपर कहीं कुशल न थी)

१३२-१३३. इबराहिम शाह की कूच के सिलसिले में जहाँ-जहाँ सेना पहुँचती थी वहीं-वहीं खोद कर, खेद कर (पीछा करके),

---

१३०. तरसि = डर कर । सं० त्रस धातु ।

१३१. दरमलिअ = मर्दित, चूर्णित । सं० मर्दय् का धात्वादेश प्रा० अप० दरमल्ल (= चूर्ण करना, दलना, मलना, पासद्द० ५६०) । 'भविसयत्त कहा' में 'दरमलिअ' और 'दरमलन्त' प्रयोग आए हैं ।

खणि खेदि खुन्दि घिसि मारइ जीवहु जन्तु न उब्बरइ ॥१३३॥

४।३४ [गद्य]

एवञ्च दूर दीपान्तर राअन्हि करो निद्रा हरन्ते ॥१३४॥
*दलि *विहलि चूरि चाप करन्ते ॥१३५॥*

---

१३३ [अ] खणि लेखि खुंदि घिसि मारिअइ । जंतु न उब्बरइ ।
[क] खणि खेदि खुखुन्दि ।
[ख] खणि खेदि खुन्दि घरि मारिअै जिउअउ जंतु न उद्धरिअ ।
१३४ [अ] एवंच । दीपांतर । राअंहि । हरंते ।
१३५ [अ] विहल । ठुलि (चूरि की जगह) । [क] दल । विहल । चोपल ।
[ख] दरि विहइ शूरि चाप करन्ते ।

खूँद कर और पकड़ कर मनुष्य और पशुओं को मारा जाता था, कोई भी बचता न था ।

१३४-१३५. इस प्रकार सेना ने दूर-दूर के देशों के राजाओं की नींद हर ली । सेना को पीस कर, प्रजा को व्याकुल करके नगरों को चूर करके राज्यों को दबाते गये ।

---

१३३. खेदि—'अ' प्रति में खेदि की जगह 'लेखि' पाठ है । लेखना = खुर्चना ।

घिसि—'ख' प्रति में 'धरि' और 'अ' प्रति में 'घिसि' और 'क' प्रति में 'धसि' पाठ है । सं० धृष् = हिंसा करना, मारना । उससे प्राकृत में 'धरिस' होता है, संभवतः 'घिसि' उसी का रूप है ।

१३४. दीपान्तर = देशांतर । द्वीप = देश ।

१३५. दलि—'अ०' प्रति का पाठ । सं० दलय>प्रा० अप०

सिकार खेलन्ते, तीर मेलन्ते ॥१३६॥

१३६ [क] मीलन्ते। [ख]में अधिक पाठ है—गिरि गह्वर गोहन्ते।

१३६-१३८. वे शिकार करते और तीर फेंकते चल रहे थे।

दल = टुकड़े करना (पासद्द० ५६१)।

विहलि—सं० विह्वल् > प्रा० अप० विहल = व्याकुल करना (पासद्द० १०१०)।

चूरि = चूरा करके।

चाप करन्ते = दबाते हुए, कब्जा करते हुए। सं० आक्रम् का धात्वादेश चप्प > चाप = आक्रमण करना, दबाना (पासद्द० ३९९)। सेना द्वारा दूसरे राज्यों पर कब्जा करने के तीन प्रकार यहाँ कहे हैं—दलि, विहलि, चूरि अर्थात् (१) दलना, (२) विह्वल करना, (३) चूर्ण करना। ये क्रियाएँ साभिप्राय हैं—पहले सेना से मुठभेड़ करके उसे पीस डाला। फिर प्रजाओं में स्त्री-पुरुषों का अपहरण करके उन्हें विह्वल या व्याकुल कर दिया। अन्त में आग लगा कर नगर या दुर्ग को मिट्टी में मिला दिया। ये तीनों पूर्वकालिक क्रियाएँ हैं। 'अ' प्रति में 'दलि' पाठ तो है किन्तु 'विहलि' नहीं विहल है। हमारी सम्मति में यहाँ भी मूल पाठ 'विहलि' होना चाहिए। इतना सम्पादकीय संशोधन तारांकित शब्द रूप से सूचित किया गया है। तीसरी क्रिया चूरि ('क' प्रति) के स्थान में 'अ' प्रति में 'ठुलि' पाठ है जो प्राकृत और अपभ्रंश में नहीं मिला। 'ख' प्रति में 'झूरि' 'चूरि' का भ्रष्ट पाठ है। पासद्द० ५५३ के अनुसार दे० थुल्ल शब्द है (देशी० ५।२७) जिसका अर्थ है परिवर्तित, बदला हुआ।

'गिरि गह्वर गोहन्ते' एवं 'पर दप्प ममि भंजन्ते'—ये दोनों वाक्य

वन विहार जलक्रीड़ा करन्ते ॥१३७॥
मधुपान रतोत्सव करी परिपाटि राज्य सुख अनुभवन्ते ॥१३८॥

---

१३७ [अ] 'जल—करन्ते' पाठ नहीं है। [ख] पूरी पंक्ति नहीं है।

१३८ [अ] रते सेव।

[ख] नहीं है। इसकी जगह है—परदप्प भमि भजन्ते।

बीच-बीच में वन-विहार और जल-क्रीड़ा करते थे। मधुपान और रतोत्सव की परिपाटी से राज्य सुख का मजा ले रहे थे।

केवल 'ख' प्रति में हैं और निश्चय ही आगन्तुक पाठ होने से यहाँ मूल में नहीं रक्खे गए हैं।

१३६. वन-विहार—यहाँ कवि ने प्रयाण करती हुई सेना के चार मनोविनोदों का उल्लेख किया है—वन-विहार, जलक्रीडा, मधुपान, रतोत्सव। सैनिक प्रयाणों में इनका वर्णन साहित्यिक अभिप्राय ही बन गया था। जैसे माघ ने इनका पल्लवित वर्णन किया है—पुष्पावचय (सर्ग ७), जलक्रीड़ा (सर्ग ८), पानगोष्ठी (सर्ग १०), रात्रि क्रीड़ा (सर्ग १०)। उद्यान क्रीड़ा या पुष्पावचय को ही यहाँ वन-विहार कहा गया है।

१३८. रतोत्सव = रात्रि क्रीड़ा। सं० उत्सव > प्रा० अप० उस्सव, ऊसव (पासद्द० २३२, २३६)।

परिपाटि = ढर्रा। विद्यापति ने यहाँ स्पष्ट लिख दिया है कि इन चार विनोदों की जो परिपाटी या लीक चली हुई थी उसके अनुसार सैनिकों ने उनका पूरा सुख लूटा। ये उपभोग सेना की कूच के समय युद्ध के पहले किए जाते थे।

४।३५

वाट सन्तरि तिरहुति पइठ ॥१३९॥
तकत चह्हि सुरुतान वइठ ॥१४०॥

४।३६

दूह कहाणी सुनिए कहु तं खणो भौ फरमाण ॥१४१॥

---

१३९ [अ] तीरहुति पैठ। [ख] वाट संतरि तिपहूति पैट्ठ०।
१४० [अ] चढिन सुरताण बैठ। [क] तकम चडि।
[ख] तरखत चह्हि सुरुतान वैठु।
१४१ [अ] दूह कहांणो। एकहुं। भउ। [क] दुहु के आनी सुनि कहुँ।
[ख] दुणी कहानी।

१३९-१४०. रास्ता पार करके वे तिरहुत की सीमा में प्रविष्ट हुए। वहाँ सुलतान तख्त पर बैठे अर्थात् उन्होंने आम दरबार का आयोजन किया।

१४१-१४२. दोनों ओर का हाल सुनकर सुलतानने मुँह

---

१३९. वाट = मार्ग, रास्ता। सं० वर्त्म > प्रा० अप० वाट > हिं० बाट।

सन्तरि = तैर कर, पार कर। सं० संतॄ > प्रा० अप० संतर = तैरना, तैरकर पार करना। तिरहुतके मार्ग की नदियों की ओर विशेष संकेत है। आगे कहा भी है—पैरि तुरंगम गण्डक क पाणी।

१४०. तकत = तख्त। तख्तेरवाँके लिए पहले 'तकतान' शब्द आ चुका है।

केन पआरे निरसिअउ वड समथ्थ असलान ॥१४२॥

---

१४२ [अ] 'केन पआ' अक्षर कट गए हैं, 'रे निवसि अउ' पाठ बचा है। समत्थ। [क] केन पआरें निवसिअउँ।

[ख] केन पवारे निग्गाइह। अति (वड के स्थान पर)।

खोला और उस समय यह हुक्म हुआ—'असलान बहुत तगड़ा है। उसे किस प्रकार हराया जाय ?'

---

१४१. दूह कहांणी—दोनों पक्षों का हाल, अर्थात् अपना और असलानका बलाबल और तैयारी की तफसील।

कहाणी—सं कथानक > प्रा० अप० कहाणय (पासद्द० २९५) = पूरी वार्ता, या हाल चाल।

१४२. पआरे = ढंग से, प्रकार से। प्रकार > प्रा० पयार (पासद्द० ६७०) > पआर = ढंग, रीति, तरह।

निरसिअउ = परास्त करना चाहिए, किस प्रकार हराने योग्य है अर्थात् उसे कैसे हराया जा सकता है। सुलतान के इस वाक्य में कुछ निराशा की पुट है जिसे सुनकर कीर्तिसिंह उत्तेजित हो उठा। सं० निर् + अस् > प्रा० णिरस (= अपास्त या परास्त करना, हराना, पासद्द० ५०१)। निरस्त > णिरसिअ (देशी० ५।५९)। 'अ' और 'क' प्रतियों में निवसिअउ पाठ है किन्तु संस्कृत टीका में अर्थ 'निरसि-अउ' का किया गया है और वही मूल पाठ ज्ञात होता है।

४।३७

तो पअप्पइ कित्ति भूपाल ॥१४३॥
की कुमन्त पहु करिअ हीन वयण का समअ खप्पिअ ॥१४४॥
की परसेना गुणिअ, काइ सत्तु सामत्थ कथिअ ॥१४५॥

---

१४३ [अ] पअंपई कीत्ति।
[ख] पहिओ ('पअप्पइ' के स्थान पर)।

१४४ [अ] कि कुमंत। होण वअण की समय।
[क] अप्पिअ। [ख] काह कुमत प्रभु किज्जिअ। जम्पिह।

१४५ [अ] कांइ सत्तु सामह्म कोपिअ।
[क] काझि·····कोप्पिअ। [ख] का परसेना गुणिअै।

१४३-१४५. तब राजा कीर्तिसिंह ने कहा—

'हे प्रभु, यह कैसा कुमंत्र आप सोचते हैं ?' क्या ऐसा पोच वचन कह कर समय बिताना चाहिए ? क्या शत्रु की सेना की प्रशंसा करनी उचित है ? क्या वैरी के बल का बखान करना योग्य है ?

---

१४३. पअप्पइ = कहने लगा। सं० प्रजल्प् का धात्वादेश पयंप = कहना, बोलना (पासद्द० ६६७)। पयंपए, पयंपइ।

१४४. की = किम् > प्रा० कि > अव० की।
खप्पिअ—सं० क्षपित > प्रा० खप्पिअ = बिताना चाहिए। 'अ' प्रति का पाठ खप्पिअ, 'क' प्रति का अप्पिअ है।

सव्वहु देष्खह पिट्ठि चडि हओ लावओ रणभाण ।।१४६।।
पाषरे पाषरे ठेल्लि कहुँ पकलि देओ असलान ।।१४७।।

---

१४६ [अ] सव्वउ देख्खह पीठि चलि हओ ।
[क] सव्वउँ देष्खउँ ।
[ख] हौ णंचौ ।
१४७ [अ] में एकही 'पाखरे' है । ठेलि कहु मारि देवो असलान ।
[क] पाषरें पाषरें ठेल्लिकहूँ···· ।
[ख] पखर पखर यो (जो) रि कँ पक्करिअ देउ असलाण ।

१४६-१४७. और सब लोग देखते रहे, मैं संग्राम के योग्य उस शत्रु की पीठ मर्दन करके उसे छेदता हूँ। अपने घोड़े पर कवच कसकर मन के उत्साह से उसे खदेड़ कर मैं कहीं से भी पकड़ लाऊँगा ।

---

१४६. पिट्ठि चडि = पीठ मसल कर, अर्थात् मेरे सामने पीठ दिखा कर भागते हुए उसे मैं छेद दूँगा । चडि—सं० मृद् का धात्वादेश चडु (= मर्दन करना, मसलना, पासद्द० ३९८) ।

लावओ—(पीठ को बाणों से) छेद दूँगा । सं० लावय् > प्रा० अप० लाय = काटना, छेदना (पासद्द० ९००) । 'ख' प्रति में णंचौ पाठ है, उसका अर्थ है 'जानूँगा' । सं० ज्ञा का धात्वादेश 'णच्चा' (पासद्द० ४७०) ।

रणभाण = रण का भाजन या पात्र, लड़ाई के योग्य । वह युद्ध से वश में लाने योग्य है, शांति या संधि से नहीं । रणभाण शब्द यहाँ साभिप्राय है । भाण—सं० भाजन के प्रा० अप० में दो रूप हैं भायण और भाण (पासद्द० ८०३) ।

१४७. पाषरं = घोड़े पर सन्नाह कस कर, अश्व को कवच से

४।३८ [छप्पद]

अज्जु वैर उद्धरओ सत्तु जइ सङ्गर मावइ ॥ १४८ ॥
जइ ततु पक्ख सपक्ख इन्द अप्पन बल लावइ ॥ १४९ ॥

---

१४८ [अ] अज्ज वैर उद्धरउ । सत्तु सर (के पश्चात् अस्पष्ट) वइ ।
[क] वैरि । आवइ ।

१४९ [अ] जै । पक्ख सपक्ख । इंदु अप्पण रण लावइ ।

---

१४८. यदि शत्रु युद्धके लिए आया तो आज पुराने वैर का बदला चुका लूँगा ।

१४९-१५३. चाहे आकाशचारी इन्द्र भी उसके पक्षमें अपना बल क्यों न लगा दें, चाहे शिव और विष्णु ब्रह्माके साथ

सज्जित करके । सं० संनाहय् का धात्वादेश पक्खर (पासह० ६१९) ।

पाखरे = मन में तड़प कर, उत्साहित हो कर । इस अर्थ में यह देशी शब्द था । पक्खर > दे० पक्खडिय (= प्रस्फुरित, विजृम्भित, देशी० ६।२०; पासह० ६१९) ।

ठेल्लि = ठेलकर, बलपूर्वक खदेड़ कर ।

कहु—सं० कुतः > कहु = कहीं से भी; वह जहाँ भी होगा वहीं से ।

१४८. सङ्गर = युद्ध ।

मावइ—यह 'अ' प्रतिका श्रेष्ठ मूल पाठ है । सं० मा > प्रा० अप० मा, माव = समाना, अटना ।

वैर उद्धरओ = वैर का जो ऋण उसके ऊपर बाकी है वह सब वसूल कर लूँगा, या चुका लूँगा ।

१४९. सपक्ख इन्द = सपक्ष इन्द्र, आकाशचारी इन्द्र ।

जइ ता रष्खइ सम्भु अवर हरि बम्भ सहित भइ ॥ १५० ॥
फणिवइ लाग्गु गोहारि चाप जमराए कोप कइ ॥ १५१ ॥
असलान जे मारक तिल हुमञि तासु रुहिर नई देञो पा ॥१५२॥

---

१५० [अ] राखइ (वष्खइके स्थानपर) । सम्भु आव । बंभ ।
[क] शस्त्र । वष्खइ के स्थानपर रष्खइ ?
[शा] 'वष्खइ शंभु' पाठ है ।
१५१ [अ] वट्ट ('—वइ'के स्थानपर) । लाग । जमराज कोपि ।
१५२ [अ] जे मारक तिल हुमञि तासु रुहिर नइ देञो पा ।
[क] असलानजे मारञो तञो हुअञो तासु रुहिर लइ ।

मिलकर उसकी रक्षा क्यों न करें, चाहे शेषनाग उसकी गोहार पर क्यों न आजावें, और चाहे यमराज भी क्रोध करके आक्रमण क्यों न कर दें, तो भी मैं निश्चय पूर्वक असलान को मार कर

---

१५०. रक्खइ, रख्खइ—'अ' 'क' प्रतियों के अनुसार यही मूल पाठ था, 'वष्खइ' नहीं जैसा कि 'शा' का है ।

१५१. फणिवइ—फणिपति = शेषनाग ।

गोहारि—रक्षा के लिए पुकार । सं० गो + आकारयति (गायों की रक्षा केलिए बुलाना) > गो आआरयइ, > गोहारअइ > गोहारइ ।

चाप—प्रा० चप्प < सं० आक्रम = आक्रमण करना ।

१५२. जे—अप० जे = अवधारण सूचक अव्यय (पासह० ४५१) ।

मारक = मारनेवाला । सं० मारक > प्रा० मारग ।

तिलहुमञि—तिलहोम, तिलदान, तिलाञ्जलि । सं० हु (= हवन करना) > प्रा० अप० हुण । सम्भवतः मूलपाठ 'तिलहुणञि' था ।

रुहिर नई = रुधिर नदी, रक्त की नदी । सं० नदी > णई, णइ >

अवसान समग्र निग्र जीवधके जे णाहि पिठ्ठ देषाए जा ॥१५३॥

४।३९ [दोहा]

तव फरमाणहि वाचिअइ सएल हसम को सार ॥१५४॥

---

१५३ [अ] जेणहि ('जं नहि'के स्थानपर)। पीठ देखाइ।
[क] अवमान—अ० प्रति में शुद्ध पाठ अवसान है।

१५४ [अ] तबे। समण हसव कोसार ('सएल हसम को सार' के स्थान पर)। [ख] (वाचिअै) सयण को सार।

तिलदान के लिए उसके रक्त की नदी में पैर रक्खूँगा, यदि मृत्यु के समय वह अपने प्राणान्तक को पीठ न दिखा जाय।

१५४-१५५. तब समस्त सेना को बुलाकर शाही फरमान पढ़ा

नई। पा = पैर। सं० पाद > पाय, पाअ > पा। उदाहरण के लिए सं० पादमूल का प्रा० पामूल (पासद्द० ७२६)।

१५३. जी—सं० जीव > प्रा० अप० जीअ > जी = प्राण।

जीवधके = प्राणन्तक या प्राण हरनेवाले को। वधक = मारक। कीर्तिसिंह अपने आपको असलान का मारक और जीवधक कह रहा है। पदमावत ५७८।१, हबसी बंदिवान जियवधा।

१५४. सएल हसम = समस्त सेना। हशम = प्यादा फौज (स्टाफा० ४२१; जदुनाथ सरकार, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० २०३)। पहले ४।८ में भी यह शब्द आ चुका है। दोनों स्थानों में पदच्छेद ठीक न होने से 'हसम' शब्द दृष्टि में नहीं आया।

सार = बुलवाना, इकट्ठा करके सुनाना। सं० स्वरयति > प्रा० अप० सार (पासद्द ११३०)।

कित्तिसिह रा पूरनहि सेना करिअउ पार ॥१५५॥

४।४० [छंद—रोला]

पैरि तुरंगम पार भइल गंडक के पानी ॥१५६॥

१५५ [अ] —रा पुरणहि सेणा करिअउ पार ।
[क] कित्तिसिंह के पूरनहि सेना करिअउँ पार ।

१५६ [अ] तुरंगम पार होथि गंडक के पानी । [क] तुरङ्गम गण्डक का पाणी । [ख] पवरि तुरंगम भेल गण्डक के पाणी ।

गया—'राजा कीर्तिसिंह का काम पूरा करने के लिए सेना पार हो ।'

१५६-१५९. सेना का भंग करने वाले प्रतिष्ठित मलिक मुहम्मद

१५५. रा—राजा > राअ > रा ।

पूरनहि = काम पूरा करना । सं० पूरय् > प्रा० अप० पूर = पूर्ति करना, भरना, पासद० ७५६) । शाही फरमान की शब्दावली संक्षिप्त और सुनिश्चित होती थी ।

१५७. गरुअ मलिक महमंद मगानी—यह सुलतान इबराहीम-शाह के लिए कहा गया है । गरुअ मलिक = बड़े मलिक, मलिक-उल-मलिक । 'ख' प्रति में 'महमद' पाठ है जो महमंद या मुहम्मद का ही रूप है ।'

मगानी—यह 'अ' प्रति का श्रेष्ठ पाठ है । इसी का सरल पाठ 'क' प्रति में 'मदगामी' और 'ख' प्रति में गुमानी है । अर्थ की दृष्टि से ये दोनों पाठ सारहीन हैं । 'मगानी' फारसी मकानी का अवहट्ट रूप है । मकान = शाही शान-शौकत (स्टाफा० १२९८) । उसी से फा० मकानी = शान-शौकतवाला, ऊँचे पदवाला (स्टाफा० १२९८) । मलका-मकानी, बादशाह-मकानी इत्यादि विरुद मुस्लिम शासन में

*पर बल भंजन गरुअ मलिक *महमंद मगानी ॥१५७॥*
अरु असलाने फौदे फौदे निअ सेना सज्जिअ ॥१५८॥
भेरी काहल ढोल तबल रण तूरा बज्जिअ ॥१५९॥

---

१५७ [अ] बल। मलिक महिमद मगानी।
[क] गरुअ महमद मदगामी (मलिक पाठ नहीं है)।
[ख] परबल भंजनिहार मलिक महमद्दअ गुमानी।
१५८ [अ] निअ असवारे (अरु असलाने के स्थान पर)। फउदें फउदें तब सेना सज्जिअ।
[ख] असलाणे ठाव ठाव ('असलाने फौदे फौदे' के स्थान पर)।
१५९ [अ] रणतूला बंजिअ।
[ख] तत्तूरा ('रण तूरा' के स्थान पर)।

इबराहीम सुल्तान ने घोड़े पर तैर कर गंडक नदी पार की। उधर असलान ने टुकड़ियों में बाँट कर अपनी सेना को सज्जित किया। भेरी, कोहल, ढोल, नगाड़े और सेना के बाजे बज उठे।

प्रयुक्त किए जाते थे। फतहपुर सीकरी के अकबरी महलों में एक 'मलका-मकानी का महल' भी बताया जाता है।

१५९. भेरी—एक प्रकार की दुन्दुभी या नगाड़ा।

फौद—फा० फौज = सेना का एक दल या टुकड़ी।

काहल—हिं० श० सा० में काहल को 'बड़ा ढोल' लिखा है और पासद्द० में 'वाद्यविशेष' और 'काहला' को 'महाढक्का' कहा गया है। बाण ने हर्ष की सैनिक यात्रा के समय पाँच बाजों का उल्लेख किया है—पटह, नान्दीक, गुंजा, काहल और शंख। वहाँ 'काहल' तुरही

४।४१

राए पुरहि का पुव्व षेत पहरा दुइ वेरा ॥१६०॥
वेवि सेन संघट्ट भेल बाजल भट भेरा ॥१६१॥

---

१६० [अ] राअ पुरहि । 'षेत' पाठ नहीं मिलता ।

१६१ [अ] सेन्न संघट्ट । 'भेल' पाठ नहीं है । भेरा ।
[क] भेटें ('भेल' के स्थान पर) । वाजन ('बाजल' के स्थान पर) ।

१६०–१६३. राजधानी के पूर्व की भूमि में दोपहर के समय दोनों सेनाओं की मुड़भेड़ हुई । योद्धा मुड़भेड़ करते हुये आपस

ज्ञात होता है, जिसका एक भेद अब भी 'काहली' कहलाता है। तबल = एक प्रकार का बड़ा नगाड़ा। फारसी कोष के अनुसार तबल ढोल की संज्ञा है, जो घोड़े या ऊँट पर रख कर बजाया जाता था। उसी का छोटा रूप तबला है (स्टाफा० ८०९)।

रणतूरा = युद्ध के बाजे । सं० तूर्य > प्रा० अप० तूर = बाजा ।

१६०. षेत = (१) कृषि-भूमि, खेत (२) जमीन, भूमि (पासद्द० ३५१)। यहाँ यही दूसरा अर्थ संगत है ।

वेरा = वेला, समय ।

१६१. वेवि = दोनों । सं० द्वे > प्रा० बे। वेवि < सं० द्वावपि (द्वे अपि) । संघट्ट = संघर्ष, आघात, धक्का ।

भेरा = मुड़भेड़ । दे० भिड़ = मुड़भेड़ करना, भिड़ना । भिडिय = जिसने मुड़भेड़ की हो (पासद्द० ८०८) ।

पाओ पहारे पुहवि कम्प गिरि सेहर टुट्टइ ॥१६२॥
पलए विट्ठि सओ पलइ कांड पटवालन फुट्टइ ॥१६३॥

४।४२

वीर हुकारे होहि आगु रोमञ्चिअ अङ्गे ॥१६४॥

---

१६२ [अ] पाए पहरे पुहवि कंप । हुट्टइ ।

१६३ [अ] पलए । जओं (सओ के स्थान पर)। काण्ड पट-वालन । [क]....कांडे पटवालह । [ख] पटवारण ।

१६४ [अ] वीर रेकारें आगु होथि रोमांचिअ अहे । [क] वीर वेकारे आगु हो अथि रोमञ्चिअ अङ्गे ।

में टकराने लगे । पैरों के आघात से धरती काँप गई और पहाड़ों की चोटियाँ टूटने लगीं । प्रलय वृष्टि के समान बाण छूट रहे थे और उनसे रुई भरे कवच विदीर्ण होने लगे ।

१६४–१६७. वीर लोग हुङ्कारों के साथ आगे बढ़ रहे थे

---

१६३. पलए विट्ठि = प्रलय वृष्टि ।

सओ = सम, तरह, प्रकार । 'अ' प्रति में 'जओं' पाठ है ।

पलइ—सं० पत् > अप० पल् (= गिरना) ।

काण्ड = बाण ।

पटवालन—'अ' प्रति का पाठ पटवालन और 'ख' का पटवारण है । सं० पटवारण का अर्थ बाणों से रक्षा करने वाला रुई से भरा हुआ 'चिकटा' नामक कवच है (दे० ४।१७२)। पटवाल = । रुई भरा हुआ ।

चौदिस चकमक चमक होइ खग्गग्ग तरङ्गे ॥१६५॥
तोरि तुरञ असवार धाए पइसथि पर जुत्थे ॥१६६॥
मत्त मतङ्गज पाछु होथ फरिआइत सत्थे ॥१६७॥

---

१६५ [अ] चउदिस । चेके ('चमकक' के स्थान पर) । के होइ तरहें ('तरङ्गे' के स्थान पर) । [ख] चहु दिस चमक कीअ संक होई महि खग तरङ्गे ।

१६६ [अ] तोरि । पैसथि परजूथे । [क] तोरि....पर घथ्थें ('परयुत्थे' के स्थान पर) । [ख] तोरि ('तो वि' के स्थान पर) ।

१६७ [अ] पाछु होथि । फइआइत हूथे । [ख] मात (मत्त के स्थान पर) । जाहि ('होथ' के स्थान पर) । फरि आत कुथे ।

और उनके शरीर रोमाञ्चित हो रहे थे। चारों दिशाओं में तलवारों के अग्रभाग लहराते हुए चकमक से चमक रहे थे । पंक्ति तोड़कर घुड़सवार झपट कर शत्रु के झुण्ड में घुस रहे थे । ढाल लेकर चलने वाले सैनिकों के समूह मतवाले हाथियों के पीछे चल रहे थे ।

---

१६६. तोरि = तोड़ कर । अपनी पंक्ति से अलग होकर ।

तुरञ असवार = घुड़सवार ।

पइसथि = प्रविष्ट होते थे ।

परजुत्थे—यह 'अ' प्रति का श्रेष्ठ पाठ है । इसके स्थान पर 'क' प्रति में 'परघत्थे' और 'ख' में 'परयुत्थे' पाठ हैं ।

१६७. फरियाइत = ढलवाइत, ढाल लिए हुए सैनिक । यह शब्द

४।४३

सीगिणि गुण टङ्कार भार नह मण्डल पूरइ ॥१६८॥
पाषर उट्ठइ फौदें फौदें पर चक्कह चूरइ ॥१६९॥

---

१६८ [अ] सिगिण । गुण टंकार भारे साह मंडल ।
[क] भाव ।
[ख] गुण । भार ।
महि ('नह' के स्थान पर) । पुरिअ ।
१६९ [अ] पाषर । केवल एक 'फौदें' ।
[ख] पर चकह चूरिआ ।

१६८-१६९. धनुषों की प्रत्यंचा की टंकार बढ़ती हुई आकाश मण्डलमें भर गई। कवच से सज्जित घुड़सेना की टुकड़ियों पर टुकड़ियाँ धावा कर रही थीं जिससे शत्रुका चक्रव्यूह चूर-चूर हो रहा था।

पहले आ चुका है। फरक नामक अस्त्र विशेष धारी सैनिक (४।७०)।

सत्थ = समूह । सं० सार्थ ।

१६८. सीगिणि = धनुष । सं० शृंगिन् । यह शब्द पहले आ चुका है (४।६५)।

गुण = प्रत्यञ्चा । 'अ' 'ख' प्रतियों का गुण पाठ ही शुद्ध है।

भार = गुरुत्व, गम्भीरता, अर्थात् टङ्कार के शब्द की वृद्धि ।

१६९. पाषर = कवच से सुसज्जित अश्वसेना ।

फौदें फौदें = टुकड़ी पर टुकड़ी । तात्पर्य यह है कि घुड़सवार सेना की टुकड़ियाँ एक के बाद एक शत्रु सेना पर हमला करने लगीं। यह शत्रु सेना की व्यवस्था को तोड़ने के लिए युद्ध की एक प्रणाली थी।

चक्कह = सेना की चक्राकार व्यूह-रचना ।

तामसे वढ्ढइ वीर दप्प विक्कम गुरा चारी ॥१७०॥
सरमी केरा सरम गेल सरमेरा मारी ॥१७१॥

---

१७० [अ] वढइ। चारि।
१७१ [अ] सरमी केरा। मारी ('सारी' के स्थान पर)।
[क] सर मेरा मारी। [ख] सरविन्ह। सारी।

१७०-१७१. क्रोध के बढ़ने से वीर लोग अभिमान के साथ शौर्य की प्रशंसा करते हुए चक्कर मारने लगे। उस सरकटाने वाले युद्ध में शराब पीकर धुत्त बने गाली-गलौच करते हुए हयादार सैनिकों की भी हया चली गई।

---

१७०. तामसे = तमोगुण या क्रोध।
दप्प = दर्प, घमण्ड।
विक्कम = शौर्य, पराक्रम।
गुण = प्रशंसा।
चारी = परिभ्रमण करने लगे, चक्कर काटने लगे।

१७१. सरमी = शरम वाला, हयादार। 'अ' प्रति में 'सरमी', 'क' में 'सरमहुँ', और 'ख' में 'सरविन्ह' पाठ है। इनमें 'सरमी' ही श्रेष्ठ है।

सरमेरा = सिर कटानेवाले, प्राणान्तक (सर + मेरा)।

मेरा—सं० मुच् का धात्वादेश प्रा० अप० मिल्ल, मेल्ल = छोड़ना, त्यागना।

मारी = युद्ध, प्रहार। दे० पीछे ४।१९१ कित्तिसिंह करु मारि। 'अ' और 'क' प्रतियों में 'मारी' पाठ है। वही शुद्ध है। प्राचीन युद्ध प्रथा के अनुसार सैनिकों को घमासान युद्ध के लिए मुंहछुट शराब पिला

४।४४ [दोहा]

चौपट मेइनि भेट हो वलइ कण्ड कोदण्ड ॥१७२॥

---

१७२ [अ] चउपट । वलइ । कंड कोदंड ।
[क] बमइ । कोदण्डे ।
[ख] मारि ('भेट' के स्थान पर)। परइ (= 'वलइ' के स्थान पर)।

१७२--१७३. धनुष पर बाण चढ़ाते हुए भी वे चारों खाने चित्त धरती पर गिर जाते थे और ऊँचे उठे हुए अपने ही कवच

कर तैयार किया जाता था ,उसी की ओर यहाँ संकेत है । 'सरमी' शब्द की व्यञ्जना यह है कि मामूली पैदल सैनिकों की कौन कहे, बड़े-बड़े हयादार राजा और रावत भी मतवाले होकर अपनी लज्जा भूल गए और कुवाच्यों पर उत्तर आए ।

१७२. चौपट—इस दोहे में शराब पिये हुये सैनिकों की असहाय दशा का वर्णन है । चौपट = चारो खाने चित्त । सं० चतुष्पट (= चौपड़ के खेल का चार भुजाओं वाला कपड़ा)>प्रा० चउपड़, अव० चौपट । मुहा० चौपट गिरना = इस प्रकार गिरना कि चारों खाने नीचे की ओर या पट हो जाना ।

वलइ—इसका 'क' प्रति में पाठ 'बमइ', 'ख' में 'परइ' और 'अ' में 'वलइ' है । यही तीसरा श्रेष्ठ क्लिष्ट पाठ था । सं० आरोपयति का प्रा० धात्वादेश वलइ होता है (= ऊपर चढ़ाना, हेम० ४।४७; देशी० ७।८६; पासइ० ९२१) ।

वलइ कण्ड कोदण्ड = धनुष पर बाण चढ़ाते हुए । कण्ड = बाण (दे० पीछे ४, १६३) ।

चोट उपटि पटवाल दे थेव्व दएड भुअदएड ॥१७३॥

४।४५ [विद्युन्माला छंद]

हुङ्कारे वीरा गज्जन्ता, पाइक्का चक्का भज्जन्ता ॥ १७४ ॥

---

१७३ [अ] उलटि पटवाल दे थैव्व दंड भुजदंड ।

[क] में 'भुज दण्डे' पाठ प्रायः अशुद्ध है ।

[ख] चोट उपटि पटवार थेघ रहा''''भुअ दण्ड ।

१७४ [ख] पाठ छंदः—विदुर्म्माला छंद ।

से चोट खा जाते थे और अपना भुजदण्ड ही थूनी की तरह उन्हें सहारा देता था ।

१७४-१७५. हुंकार करते हुए वीर गरज रहे थे । पैदल सेना

---

१७३. उपटि = उपट कर, उछल कर ।

पटवाल—'क' प्रति में पटवाड़, 'ख' में 'पटवार' और 'अ' प्रति में 'पटवाल' पाठ है । तीनों ही समानार्थक हैं । पटवाल = कवच (दे० पीछे ४।१६३) । गिरते हुए योद्धा अपने ही कवच के उछलने से चोट खा रहे थे ।

थेव्व-दण्ड = सहारे की थूनी । 'अ' प्रति का पाठ थेव्व, 'ख' का थेघ, और 'क' प्रति का थेघ है । मूल प्रति का पाठ 'थेव्व दण्ड' ज्ञात होता है । इसका अर्थ है विगलित होना या गिरने से बचाने का दण्ड या टेक । सं० विगल का धात्वादेश थिप्प, थेप्प > थेव्व (पासद्द० ५५२, ५४२) । पाठान्तर थेघ का अर्थ 'टेक, सहारा' होगा (दे० पीछे ४।१८) ।

१७४. धावन्ते = दौड़नेवाले । यहाँ घुड़सवार सेना की ओर संकेत

धावन्ते धारा दुट्टन्ता, सन्नाहा वाणे फुट्टन्ता ॥ १७५ ॥

४।४६

राउत्ता रोसे लग्गीआ खग्गेही खग्गा भग्गीआ ॥ १७६ ॥

---

१७५ [अ] धावत्ता । दुहत्ता ('दुट्टन्ता' के स्थान पर) ।
[ख] साहाणो वाणा ।
१७६ [अ] राउत्ता उत्ता रोसे लग्गिआ । खग्गेहि खग्गे भग्गिआ ।
[ख] में यह पंक्ति नहीं है ।

की व्यूह रचना को तोड़ रहे थे। दौड़ते हुए घुड़सवारों की पंक्तियाँ बिखर रही थीं। बाण लगने से कवच विदीर्ण हो रहे थे।

१७६-१७७. रावत लोग क्रोध में भर गए और तलवार से

है। धारा = घोड़ों की एक चाल।

दुट्टन्ता—'अ' प्रति का पाठ 'दुहत्ता' है जिसका मूल दूहन्ता था। देशी० (४।४५) के अनुसार 'दुहअ' का अर्थ चूर्णित या चूर-चूर किया हुआ होता था। यहाँ वही शब्द मूल पाठ ज्ञात होता है उसी का सरल पाठ दुट्टन्ता किया गया है।

सन्नाहा वाणे फुट्टन्ता—इसी को पहले 'काण्डे पटवालन फुट्टइ' (४।१६२) वाक्य द्वारा कहा गया है।

विद्युन्माला छंद—प्रा० विज्जूमाला, प्राकृत पैंगलम् २।६६।

मो मो गो गो विद्युन्माला, अर्थात् दो मगण और दो गुरु के अनुसार इसके आठों वर्ण गुरु होते थे।

१७७. आरुट्ठा—सं० आरुष्ट = क्रुद्ध, रुष्ट (पउम चरिअ ५३।१४१)।

आरुट्ठा सूरा आवन्ता ऊँमग्गे मग्गे धावन्ता ॥ १७७ ॥
एकक्के रंगे भेट्टन्ता पारारी लच्छी मेट्टन्ता ॥ १७८ ॥
अप्पा नामाना सारन्ता वेलक्के सत्तू मारन्ता ॥ १७९ ॥

---

१७७ [अ] रुट्ठा सूरा आवत्ता । उमग्गे । धावत्ता ।
[ख] उम्मग्गा मग्गा पेलंता, संगामे खेडी खेलंता ।
१७८ [अ] एक्कंगे रंगे भेट्टंता पारा रो लछी मेट्टंता ।
[क] परोरी (पारारी) । [ख] एक गोरंगे (भेटन्ता) ।
१७९ [अ] तरत्ता (सारन्ता के स्थान पर) । ख सत्तु मारंता ।

तलवार खटखटाने लगीं । शूर लोग कुछ क्रोध में भरकर इकट्ठे होने लगे और उमंग में भरकर मार्ग में दौड़ते हुए आने लगे ।

१७८-१७९. उस तुमुल युद्ध में एक एक के साथ भेंट करता या भिड़ रहा था और हर एक योद्धा अपने विपक्षी की लक्ष्मी को मिटाने का प्रयत्न करता था अर्थात् उसका सर्वनाश कर देना चाहता था । अपने अपने नामों का उच्चारण करता हुआ हर एक सैनिक बेलक बाण से अपने वैरी को मार देना चाहता था ।

---

१७८. एकक्के रंगे—एक के साथ एक का तुमुल युद्ध । रंगे = युद्ध-भूमि (पासद्द० ८७१) । पारारी = पराई, विपक्षी की । प्रा० अप० पारक्क (हेम० ११४४ ; २।१४८) । सं० परकीय > पाराक्क, स्त्री० पाराकी > पारारी ।

लच्छी मेटन्ता = लक्ष्मी मिटाना, विनाश करना ।

१७९. नामाना सारन्ता—नाम बुकाते हुए । सारन्ता—सं० स्वरयति > प्रा० अप० सारइ = उच्चारण करना ।

वेलक्के—फा० बेकक = एक प्रकार का तीर (स्टाफा० २।२४) ।

४।४७

ओआरा पारा बुज्झन्ता, कोहाणा ठाणा जुज्झन्ता ॥१८०॥

१८० [अ] उ आटा पाट बुज्झन्ता । कोहाना । जुझ्झन्ता ।
[क] अओ अवारा परा बुज्झन्ता । को आणो ठाला ।
[ख] ओआरे पारे बूझन्ता, कोहाणो वाणे जूझन्ता ।

१८०. धनुर्धारी इस पार से उस पार तक छूटते हुए अपने बाणों से सबको जगा रहे थे और क्रुद्ध होकर भिन्न-भिन्न स्थान या मुद्राओं में युद्ध कर रहे थे ।

(दे० पीछे ४।७८) । संभवतः बेलक बाण गला काटने के लिए विशेषतः प्रयुक्त होता था ।

१८०. ओआरा पारा = वार-पार, इस तरफ से उस तरफ तक ; अर्थात् एक देश में नहीं सारी सेना में । तात्पर्य यह कि और हथियारों के युद्ध में तो सेना के एक भाग में खलमली मचती थी, किन्तु धनुर्धारियों के बाण चलाने से सेना में इस पार से उस पार तक खलमली मच जाती थी । 'अ' प्रति में 'उआटा-पाटा' पाठ है। उआटा, ओआटा = इधर आया हुआ। पाटा = पार गया हुआ। बुज्झन्ता—प्रा० अप० बुज्झ = जगाना, होश में लाना, पासद्द० १८८ ।

ठाणा जुज्झन्ता = बाण चलाने की विशेष मुद्रा में खड़े होकर युद्ध करना । ठाणा—सं० स्थान । धनुर्युद्ध में पाँच स्थान कहे गये हैं—वैशाख, मण्डल, समपद, आलीढ, प्रत्यालीढ; स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम् । त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति । अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढं तु ततोऽग्रतः । दक्षिणे वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढ विपर्ययः ॥ दे० रघुवंश ३।५२ पर मल्लिनाथ की टीका । तात्पर्य यह कि क्रोध में भरे हुए धनुर्धारी योद्धा स्थान बदल-बदल कर युद्ध कर रहे थे ।

४।४८ [छपद]

दुहु दिस पाखर उट्ठ माँझ संगाम मेट हो ॥१८१॥
खग्गे खग्गे संघलिअ, फुलुग उप्फलइ अग्नि को ॥१८२॥

---

१८१ [अ] दिस । उठु मझ ।
[ख] दुहु दिशि वज्झण वज्ज मास संगाम खेतहो ।
१८२ [अ] संहलिअ ('संघलिअ' के स्थान पर)। उच्छलइ । ('उप्फलइ' के स्थान पर)। अग्गि को ।
[ख] असफुलिग उच्छरिअ ।

१८१-१८२. दोनों तरफ की घुड़सवार सेना चलीं और युद्धभूमि के बीच में एक दूसरे से मिलीं। तलवार से तलवार टकराई और आग की चिनगारियाँ छूटने लगीं।

---

१८१. पाखर = घुड़सवार सेना ।

उट्ठ—'अ' प्रति का 'उठु' पाठ है। उसका मूल 'उट्ठु' था और वही शुद्ध है।

१८२. संघलिअ—सं० संघट्ट > प्रा० अप० संघट्ट = आघात लगना, टकराना (पासद्द० १०४२) > संघड > अव० संघल । संघट्टित > संघलिअ ।

फुलुग = स्फुलिंग, चिनगारी ।

उप्फलइ—सं० उत्पाटय > प्रा० अप० उप्फाल (= उठना, उखाड़ना) उप्फालइ (हेम० २।१७४)। उप्फलइ = उठना, उखाड़ना । 'अ' प्रति में उच्छलइ (= उछलना, छिटकना, ऊँचे जाना) पाठ है।

अस्सवार असिधार तुरअ राउत सजो टुट्टइ ॥१८३॥
वेलक वज्ज निघात काअ कवचहु सजो फुट्टइ ॥१८४॥
अरि कुंजर पंजर सल्लि रह रुहिर चौकि गए गगन भर ॥१८५॥

१८३ [अ] अस्सवारे। सौ टुट्टइ। राउत।
[ख] असिधार ओर तुरइ पक्खर सौ टुटहि।
१८४ [अ] कवचहुं सौ फुट्टइ। [ख] वज्झ निपन्न। काइ....सौ फुट्टहि।
१८५ [अ] सन्नि जा तुहिर चीकि गए गअन भर। [क]....रुहिर धारे गए।
[ख] (रुहिर) ढिक गय पण्व भर।

१८३-१८४. घुड़सवारों की तलवारों की धारा से राउत के साथ घोड़ा भी कट जाता था। कहीं बेलक तीररूपी वज्र की चोट से कवच समेत शरीर विदीर्ण हो जाता था।

१८५-१८६. शत्रु के हाथियों के अस्थिपञ्जर में घुसा हुआ बाण भीतर ही रह गया और रक्त की धार की हलकी वृष्टि से आकाश भर

१८३. तुरअ राउत सजो = राउत सवार के साथ घोड़ा भी।
१८४. वेलक = एक प्रकार का बाण। दे० पीछे ४।७८; ४।१७९।
१८५. सल्लि = शल्य, बाण।
चौकि = हलकी वृष्टि, फुहार। दे० चिक्का (= हलकी मेघ वृष्टि, देशी० ३।२१, पासद्द० ४०७)। 'क' प्रति का पाठ 'धारे' और 'ख' प्रति में 'ढिक' है। किन्तु 'अ' प्रति में 'चौकि' पाठ अत्यन्त श्रेष्ठ और क्लिष्ट मूल पाठ का सूचक है। कवि का तात्पर्य यह है कि छोटे-छोटे नावक तीर हाथियों के शरीर में भीतर घुस गये और उनके छेदों से निकलते हुए रुधिर की पतली धाराएँ आकाश में ऊँचे उठ कर फुहार की तरह बरसने लगीं।

रा कित्तिसिंह को कज्ज रसे वीरसिंह संगाम कर ॥१८६॥

४।४९ [रड्डा]

धम्म पेखइ अवरु सुरुतान ॥ १८७ ॥
अन्तरिष्ख ओत्थविअ इन्द चन्द सुर सिद्ध चारण ॥ १८८ ॥
विज्जाहर णह भरिअ वीर जुज्झ देष्खह कारण ॥ १८९ ॥

---

१८६ [अ] रसे। [ख] कित्तिसिंह के कज्ज वस।
१८७ [अ] पेखइ। [क] पेष्खइ। [ख] में 'धर्म.......मारि' पाठ नहीं है।
१८८ [अ] अंतरिख तुत्थरिइअ। [शा] ओच्छविअ।
१८९ [अ] विज्जाहरे। देखंते (देष्खह के स्थान पर)। [शा] विज्जाण (विज्जाहर)।

गया। राय कीर्तिसिंह के काम में आसक्त होकर वीरसिंह युद्ध कर रहे थे।

१८७-१८९. इस युद्ध को स्वर्ग से धर्मराज और पृथ्वी पर सुल्तान देख रहे थे। और भी युद्ध देखने के लिए सूर्य, चन्द्रमा, देवता, सिद्ध और चारणों से अंतरिक्ष आच्छादित हो गया। वीरों का युद्ध देखने के लिए विद्याधर आकाश में भर गए।

---

१८६. कज्जरसे = कार्य में आसक्ति रख कर या दिलचस्पी लेकर।

१८८. धम्म पेखइ—यदि मृत्यु हो जाये तो स्वर्ग में फल देने के लिए यमराज साक्षी थे और यदि जीत हो तो पृथ्वी पर उसका फल देने वाले सुलतान युद्ध के साक्षी थे।

१८९. ओत्थविअ = आच्छादित। सं० अवस्तृत > प्रा० ओच्छइअ > ओत्थइअ (पासद्द० २४८–१)। इन्द्र = सूर्य। (दे० पीछे ४।१२५)

जहि जहि संघल सत्तु घल तहि तहि पल तरवारि ॥ १९० ॥
सोणित मज्जिअ मेइणी कित्तिसिंह कतु मारि ॥ १९१ ॥

४।५० [भुजंगप्रयात-छंद]

पले रुण्ड मुण्डो खले बाहुदण्डो ॥ १९२ ॥

---

१९० [अ] जहि-जहि संहल । तहि-तहि । [क] जहिँ जहिँ ।
१९१ [अ] सोणित मज्जिअ मेइणी । कतु मारि । [क] करु ।
१९२ [अ] तुंड मुंडों खले बाहुदंडो । [क]····खरो बाहुदंडो ।

१९०-१९१. जहाँ-जहाँ संघट्ट के लिए शत्रु पहुँचता था वहीं-वहीं कीर्तिसिंह की तलवार प्रकट हो जाती थी । वह जहाँ भी मार करता वहीं धरती रक्त से डूब जाती थी ।

१९२-१९३. रुण्ड-मुण्ड गिर रहे थे, और भुजदण्ड अपने

---

१९०. संघल = संघट्ट, संघर्ष ।

घल—प्रा० घल्ल (सं० क्षिप् का धात्वादेश) फेंकना, डालना, घालना हेम० ४;३३४;४२२; (पासद्द० ३८५) । तात्पर्य यह कि शत्रु अपनी चालाकी से युद्ध का स्थान बदल देता था पर कीर्तिसिंह की तलवार वहीं प्रकट हो जाती थी । पल—सं० प्रकटय् का धात्वादेश अप० पल = प्रकट करना, पासद्द० ७०१ ।

१९२. पले = पलइ, गिर रहे थे ।

रुण्ड मुण्ड—'अ' प्रति में पाठ 'तुण्ड मुण्ड' भी है । तुण्ड = मुँह । मुण्ड = मस्तक । खले—सं० स्खल् का धात्वादेश खल = पड़ना, गिरना, लटकना, झूलना (पासद्द० ३४३) ।

सियालू कलङ्कइ कङ्काल खण्डो।॥१६३॥
धरा धूरि लोट्टन्त टुट्टन्त काश्रा॥ १६४॥
ललन्ता चलन्ता पक्खालन्त पाश्रा।॥ १६५॥

---

१९३ [अ] सिआलू कलंकेइ कंकाल। [क] सिआरू कलंकोइ····।
[ख] सिआरे कलंकेय।
१९४ [अ] लुट्टंतं। काआ। [क]····काया।
[ख] बूडन्त (टुट्टन्त के स्थान पर)।
१९५ [अ] ललन्ता चलन्ता। पझालन्त पाआ।
[क] ललन्ता।

स्थान से स्खलित हो रहे थे या कटकर गिर रहे थे। शृगाल कंकाल खण्डों को मुँह मार कर दागी कर रहे थे।

१६४. खण्डित होते हुए शरीर पृथ्वी की धूलमें लोट रहे थे। (युद्ध भूमि में) विलास पूर्वक चलनेवाली (अप्सराओं के) पैर रक्त में सन गये और उनसे रक्त टपक रहा था।

---

१९३. सिआलू—शृगाल। प्रा० अप० सिआल<सं शृगाल। कलंकेइ—सं० कलङ्कय् >प्रा० अप० कलंक, कलंकइ (भविसयत्तकहा) = कलंकित करना, दागी करना।

१९४. ललन्ता चलन्ता = विलास पूर्वक चलते हुए। ललन्ता—लल्, लड् >प्रा० अप० लल = विलास करना। कृदन्तरूप ललन्त, (पासद्द० ८९८)। विलास युक्त चाल वाले पैरों से कवि ने उन अप्सराओं की ओर संकेत किया है जो युद्ध भूमिमें आकर वीरों को अपना पति चुन कर स्वर्ग में ले जाती हैं। इसके लिए वे आपस में स्पर्धा भी करती हैं। युद्ध भूमि के वर्णन में यह अभिप्राय संस्कृत काव्यों में मिलता है,

अरुज्झाल अन्तावली जाल बद्धा ॥१९६॥
वसा वेग बूडन्त उड्डन्त गिद्धा ॥१९७॥

१९६ [अ] जाल बद्धो।
१९७ [अ] रसा ('वसा' के स्थान पर)। बुड्डन्त। उड्डन्त गिद्धो।

१९६–१९७. आकाश से नीचे उड़ कर आए हुए गिद्ध उलझी हुई अतड़ियों के जाल में फँस जाते थे और फिर चर्बी के प्रवाह में डूब कर उड़ जाते थे।

उसी की ओर कवि ने यहाँ संकेत किया है। इस एक छंद में ऐसे आठ अभिप्रायों का उल्लेख है।

पझालन्त—सं० प्रक्षर् का अप० पज्झर, पज्झरइ (= झरना, टपकना, हेम० ४।१७३, पासद्द० ६३१)। पझालन्त पाआ = टपकते हुए पैर, वे पैर जिनसे रक्त की बूँदें टपक रही हों। यह अप्सराओं की उस मुद्रा की ओर संकेत है जब वे वीरों को साथ लेकर स्वर्ग जाने के लिए आकाश में उठती थीं।

१९६. अरुज्झाल = अरुझी या उलझी हुई। सं० रुद्ध > प्रा० रुज्झ। अन्तावली = अँतड़ी।

जाल बद्धा—तात्पर्य यह है कि गिद्ध अँतड़ी खाने के लिए उन पर बैठते हैं और उनके उलझ जाने से वे ही जाल की तरह उनके पैरों का फँदा बन जाती हैं। इस दशा में वे चर्बी के प्रवाह में डूबते हैं। उसकी चिकनाई से जब उनके पैर जाल से छूटते हैं तो वे उड़ जाते हैं।

गआ णिक्करन्तो पिवन्तो भमन्तो ॥ १९८ ॥
महामासु खंडो परेतो वमन्तो ॥ १९९ ॥

---

१९८ [अ] गआ णिक्करंतो पिबंतो भमत्तो । [क] गअण्डी ।
[ख] गया । रमंतो ('भरन्तो' के स्थान पर) ।

१९९ [अ] महामांस । परेतो वमत्तो । [क] परन्तो भरन्तो ।
[श] परेतो ।

१९८–१९९. भूत-प्रेत रक्त की नदी में मरे हुओं को बाहर खींचकर उनका रक्त पीते और घूमते हुए नाचते थे एवं नर-मांस खा-खा कर उसके टुकड़ों का वमन करते थे ।

---

१९८. गआ णिक्करन्तो—इस श्रेष्ठ पाठ का उद्धार 'अ' प्रति से ही किया जा सका है । 'क' प्रति का भ्रष्ट निरर्थक पाठ 'गअण्डी करन्तो' और 'ख' प्रति का 'गया करन्तो' है । पाठ 'गआ' ही था यह 'क' प्रति के 'गअण्डी' के 'गअ' इन दो अक्षरों से भी सूचित है । गआ और गया अर्थ की दृष्टि से दोनों एक ही हैं ।

गआ—सं० गत > प्रा० अप० गअ, गय = गया हुआ, गुजरा हुआ, मरा हुआ । णिक्करन्तो = खींच कर निकालते हुए । प्रा० निक्कमण (= बाहर निकालना) < सं० निष्क्रम (पासह ४८४) । इन दो पंक्तियों में बेताल और पिशाचों की क्रियाओं का वर्णन है ।

१९९. महामासु = महामांस, नर मांस । मांस खण्डों को पुनः पुनः खा कर और वमन करके प्रेत मानों सदा के लिए अपने आपको तृप्त बनाना चाहते थे ।

४।५१ [भुजंगप्रयात छंद]

सिआ सार फेकार रोलं करन्तो ॥२००॥
बुहुख्खा बहू डाकिनी डक्करन्तो ॥२०१॥

२०० [अ] पेक्कार। करंती। [ख] सिआफाल फेकार तारं करंती।
२०१ [अ] बुहुक्का वहु। डक्करंतो। [क] बुहुष्वा···। [ख] भुखावली डाकिनी डक्करन्ती।

२००-२०१. शृगालियाँ शरीर के टुकड़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जातीं, शोर करतीं और आपस में झगड़ती थीं। और बहुत सी डाकिनियाँ इतना सामान होते हुए भी भूख से डकराती थीं।

२००. सिआ—सं० शिवा = सियारी, शृगाली।

सार—'अ' और 'क' दोनों प्रतियों में यही पाठ है। सं० सारय् (= सरकाना, खिसकाना), एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाना शृगाल जाति का यही स्वभाव है कि वह मृत शरीर के अलग-अलग टुकड़ों को ले जा कर अपने भिट्ट में रख आती है।

फेकार—सं० फेत्कार (= शृगाल की आवाज) > प्रा० अप० फेक्कार, (पासद्द० ७७४)।

रोल—कलह, झगड़ा (पासद्द० ८९१)। देशी के अनुसार रोल शब्द के दो अर्थ हैं—(१) कलह, झगड़ा (२) कोलाहल (देशी० ७।१५; पासद्द० ८९१)। यहाँ पहला अर्थ ही संगत है।

२०१. बुहुक्खा—यह उत्तम पाठ 'अ' प्रति में है। सं० बुभुक्षा > प्रा० अप० बुहुक्खा, (पासद्द० ७८९।)

डक्करन्तो = डकराती थीं।

बहुप्फाल बेआल रोलं करन्तो ॥२०२॥
उलट्टो पलट्टो कबन्धो पलन्तो ॥२०३॥
सरासार भिन्नो करै देइ सानो ॥२०४॥

---

२०२ [अ] बहुप्फाल बेआल बेआल रोकंतो। [ख] मुहुफाल (बहु-प्फाल)। रंकं ('रोलं' के स्थान पर)।

२०३ [अ] पलंतो। [क] पेलन्तो कबन्धो। [ख] उलट्टे पलट्टे कबंधो पवंधी।

२०४ [अ] सरासार भिन्नो। [क] सरो सान। [ख] सराबार साती ने देइ साणम्।

२०२–२०३. बहुत चीर-फाड़ करनेवाले बेताल आपस में झगड़ते थे और कबन्धों को उलट-पुलट कर खाते थे।

२०४-२०५. बाण वृष्टि से घायल हुए योद्धा हाथ से इशारा

---

२०२. बहुप्फाल = बहुत चीर-फाड़ करनेवाले। सं० पाटय् (= फाड़ना) > प्रा० फाड़, फाल (हेम० १।१९८, १।२३२; पासद्द० ७७०)।

१०३. पलन्तो—पल = (१) जाना (२) खाना। पलइ (= खाता है, षड्भाषाचन्द्रिका, पासद्द० ७०१)। यह दूसरा अर्थ ही यहाँ संगत है।

कबन्धो पलन्तो—तुक की दृष्टि से शब्दों का यही क्रम उचित है जिसका समर्थन 'ख' प्रति के पाठ से भी होता है।

२०४. सरासार—(शर + आसार) = बाण वृष्टि।

सानो = इशारा। सं० संज्ञा > प्रा० अप० सण्णा > साना, सान।

उसस्से निसस्से विमुक्केइ पाणो ॥२०५॥
जहा रत्त कल्लोल नाना तरङ्गो ॥२०६॥
तहा सारि सज्जो निसज्जो मयङ्गो ॥२०७॥

४।५२ [छपद]

रकत क राङ्गल माथ उफरि फेरवी फोरि षा ॥ २०८ ॥

---

२०५ [अ] उसस्से निसस्से विमुञ्चेइ पानो । [क] उमस्से । [ख] उसस्से निसस्सेय मुक्केय पाणं ।

२०६ [अ] जहा कल्लोन नावा तरंगो । [ख] तहाँ····माया तरंगो ।

२०७ [अ] निसज्जो मअंगो । [क] निमज्जो मयंगो । [ख] जहा ('तहा' के स्थान पर) ।

२०८ [अ] रकत क रांगल मांथ उपरि । खा ।
[ख] करागव । (माथ) फेरि विफेरि पा ।

करते हैं और श्वास-प्रश्वास छोड़ते हुए प्राण त्यागते हैं ।

२०६-२०७. जहाँ रक्त की नदी अनेक तरंगों से लहराती थी वहाँ झूल सहित हाथी उसमें बैठ सकता था ।

२०८–२०९. रक्त के रंगे हुए मस्तक को धड़ से उखाड़कर शृगाली फोड़ कर खाती थी । जल्दबाजी करनेवाला बेताल जब

----

२०५. उसस्से निसस्से = उच्छ्वास-निश्वास ।

२०७. सारि = झूल, हाथी की लोहे की पाखर ।

निसज्जो—'अ' प्रति में 'निमज्जो' पाठ और 'क' 'ख' प्रतियों में निमज्जो पाठ है । निसज्जो ही मूल पाठ ज्ञात होता है । सं० निषद्य > प्रा० अप० णिसज्जा = उपवेशन, बैठना, (पासद्द० ५१०) ।

२०८. रकत क रांगल = रक्त का रंगा हुआ, रक्त में सना हुआ । यह

हाथे न उठूठए हाथि छाडि वेआल पाछु जा ॥ २०६ ॥

२०९ [अ] उठ्इ । छाड वेआल । [ख] पलटि ('छाडि' के स्थान पर)।

हाथी का रक्तपान शुरू करके उसे उठाकर ले जाना चाहता है और वह नहीं उठता तो छोड़कर उलटे पाँव भागता है।

'अ' प्रति का शुद्ध पाठ है। 'क' प्रति में 'रकत करांगन' और 'ख' में 'रकत करागव' भ्रष्ट पाठ हैं।

उफरि = उखाड़ कर। सं० उत्पाट्य प्रा० उप्फाल (= उखाड़ना, पासह० २०७)। इसी का 'अ' प्रति में पाठान्तर 'उपरि' है। सं० उत्पाट्य का दूसरा धात्वादेश उप्पाड़ भी होता है (पासह० २०६)।

फेरवी = शृगाली, गीदड़ी। फेरव = शृगाल, गीदड़ (हि० श० सा० २३३२)।

२०९. हाथे = जल्दी में। दे० हत्थ = शीघ्रता, जल्दी-जल्दी करने वाला, देशी० ८।५९, (पासह० ११८२)। कीर्तिलता में यह शब्द इसी अर्थ में पीछे आ चुका है—मषडूम नरावइ दांस जओ हाथ ददस दस नारओ, २।१९०।

छाडि = छोड़ कर। सं० मुच् का धात्वादेश छड्ड, पासह० ४१९।

वेआल—सं० वेताल = पिशाच से भी निकृष्ट योनि।

पाछु जा—वेताल के पैर पीछे की ओर होते हैं अतएव वह आगे की ओर देखता हुआ पीछे की ओर भागता है। व्यंजना यह है कि वेताल पहले तो हाथी का रक्त पीना शुरू करता है पर जल्दी के कारण वह उसे उठाकर ले जाना चाहता है, पर जब उठा नहीं पाता तो भाग जाता है।

*नव कबन्ध घलफलइ मम्म *वेआलण पेल्लइ ॥ २१० ॥*
रुहिर तरङ्गिणि तीर भूत गण जरहरि खेल्लइ ॥ २११ ॥

२१० [अ] नवकबंध घलफलइ । वेआलह ('वेआवह' के स्थान पर)। [क] नर कबन्ध घरफलइ मम्म वे आवह पेल्लइ । [ख] फर कबंध चर फरै वेवि (इसके आगे का पाठ अस्पष्ट है)।

२११ [अ] तुहिर तरंगिणी। [आ] जरफीर ('जरहरि' के स्थान पर)।

२१०–२११. नया कटा हुआ कबन्ध उठ कर हरकत करता है किन्तु मर्म स्थानों के विदीर्ण होने से पीड़ित होता या गिर जाता है। रक्त की नदी के किनारे एकत्र भूत-प्रेत जलक्रीड़ा करते हैं।

२१०. नव कबंध—नया कबन्ध रक्त की उष्णता रहने तक हरकत करता है। घलफलइ = चेष्टा करना, हरकत करना।

मम्म = मर्म स्थान।

वेआलण = विदीर्ण होना, फटना। सं० विदारण ∠ प्रा० अप० वेआलण, (पासद्द० १०२०)। 'अ' प्रति का पाठ 'वेआलह' और 'क' का 'वेआवह' है। यहाँ अर्थ की दृष्टि से 'वेआलह' के स्थान में 'वेआलण' संशोधित पाठ रक्खा गया है, और उसे तारकांकित चिन्ह से सूचित किया गया है।

पेल्लइ = पीड़ित होना।

२११. जरहरि = जलक्रीडा। सं० जलहर = मेघ की तरह एक दूसरे पर पानी उछाल कर क्रीडा करना।

२१२. डक्करइ = शोर करना, डकराना।

उछलि डमरु डक्कार वर, सब दिस डाकिनी डक्करइ ॥ २१२ ॥
नर कंध कबन्धे महि भरइ कित्तिसिंह रा रण करइ ॥ २१३ ॥

४।५३ [छपद]

वेवि सेन्न संघट्ट खग्ग खंडल नहि मानहि ॥ २१४ ॥

---

२१२ [अ] उछलइ उमरु डक्कार । सवदिस ।
[ख] डवरु ('डमरु' के स्थान पर) । दह दिस ।
२१३ [अ] नर कंधर कबंधे । [क] नर कबन्ध महि भरइ
[ख] रण कवंधह महि भरै कीत्तिसिंघ संगाम कर ।
२१४ [अ] वेवि । [क] बेवि । [ख] वेवि सयाण संघट्ट भे (अस्पष्ट पाठ) । खग्ग ण माणहि ।

२१२-२१३. डमरू से डक्कार शब्द निकल रहा था और चारों ओर डाकिनियाँ डकरा रही थीं । मनुष्यों के मस्तक और कबन्धों से धरती भर रही थी, जिस समय रावत कीर्तिसिंह युद्ध कर रहे थे ।

२१४-२१५. दोनों सेनाएँ संघर्ष करती हुई तलवार टूट जाने

---

२१३. कंध कबंधे = गर्दन या मस्तक और कबंध से । कंध—सं० स्कन्ध = कंधा, गरदन या मस्तक । 'क' प्रति में 'नर कबंध' और 'ख' प्रति में नर कबन्ध पाठ है । 'अ' प्रति का पाठ 'नर कंधर कबंधे' है, उससे सूचित होता है कि मूल पाठ नरकंध कबंधे था जो छंद के अनुकूल है ।

२१४. वेवि = दोनों ।

सेन्न—सं० सैन्य > प्रा० सेण्ण > सेन्न ।

संघट्ट = संघर्ष ।

सञ्जर पलइ सरीर धाए गए चलिअ विमानहि ॥ २१५ ॥
अन्तरिक्ख अपसरा विमल कए वीजए अञ्चल॥ २१६ ॥
भमर मनोहर भमइ पेम पिच्छिल नअनञ्चल ॥ २१७ ॥

२१५ [अ] संगल । विमानहि । [क] विरानहि ।
[ख] अग्गिम परै सरीर वीर (अस्पष्ट) चढ़हि वराणहि ।
२१६ [अ] अंतरिक्ख अपसरा विमल कए वीजइ अंचल ।
[क] अन्तरिक्ख अछवारि·········मल विज्जए ।
[ख] अंतरिक्ष अपसरा वाण यकै (अस्पष्ट) अंचल ।
२१७ [अ] मनोहर । पिञ्चिल ('पिच्छल' के स्थान पर) । नअ-नांचल । [क] मनोभव । पेमपिच्छल ।
[ख] जनु भवै पेम पेखिअ नयणंचल ।

पर भी मानती न थीं। जैसे ही युद्ध में शरीर गिर जाता था योद्धा दौड़ कर विमान पर चढ़ जाते थे।

२१६-२१७. आकाश में अप्सराएँ पुण्यात्मा वीरों के ऊपर अंचल से पंखा झलती थीं और प्रेम से स्निग्ध एवं भौरों के समान सुन्दर चितवन को घुमाती थीं।

खग्ग खंडल—तलवार के टूट जाने पर भी।

नहि मानहि = मानते न थे, युद्ध से रुकते न थे।

२१६. विमल कए = उज्ज्वल कर्म वाले, पुण्यात्मा। कए = कर्म। सं० कृत > प्रा० अप० कय > अव० कए। 'ख' प्रति में 'वाणय कै' पाठ है, जिसका अर्थ होगा वाचना करके, यश वर्णन करके। सं० वाचना > प्रा० वाणा। वीजए सं० वीजय् = हवा डुलाना, पंखा करना।

गन्धव्व गीति दुन्दुहिश्र वर परिमल परिचए जान को ॥२१८॥
वर कित्तिसिंह रण साहसहि सुरअरु कुसुम सुविठ्ठि हो ॥२१९॥

---

२१८ [अ] अवर परिमल परिचअ जान को।
[क] परिमन।
[ख] पाठ अस्पष्ट।
२१९ [अ] रण साहसि। सुविट्ठ हो।
[ख] कित्तिसिंघ वर साहस सुर अरु कुसुम (अस्पष्ट)।
[ख] पुस्तक यहाँ पर समाप्त हो जाती है अन्त में केवल 'शुभमस्तु' है।

२१८–२१९. गन्धर्व दुन्दुभी पर उत्तम यश के गीत गा रहे थे। पर वीरों के पूरे यश-सौरभ का परिचय किसे विदित था? कीर्तिसिंह के रणभूमि में श्रेष्ठ साहस को देख कर कल्पवृक्ष से पुष्पों की वृष्टि होने लगी।

---

२१७. पेम पिच्छिल = प्रेम से सने हुए। पिच्छिल = स्निग्ध, स्नेह युक्त।

अपसरा—'अ' और 'ख' प्रति का पाठ 'अपसरा' है किन्तु 'क' प्रति में 'अछवारि' है। संभव है मूल पाठ 'अछरारि' हो जो संस्कृत 'अछरा-वलि' के निकट ज्ञात होता है।

२१८. परिमल = सौरभ। यहाँ यश की सुगन्धि से तात्पर्य है। अर्थात् जो यश के काम मर्त्यलोक में किये थे उनकी सुगन्धि स्वर्ग लोक में भर रही थी। पर स्वर्गवालों को उनकी पूरी वीरता का परिचय न था।

२१९. सुरअरु = सुरतरु, कल्पवृक्ष।

सुविठ्ठि = सुवृष्टि।

४।५४ [रड्डा छंद]

तव्वे चिन्तइ मलिक असलान ॥२२०॥
सव्व सेन महु पलइ पातिसाह कोहान आइअ ॥२२१॥
अनअ महातरु फलिअ दुठठ दैव महु निअर आइअ ॥२२२॥
तो चल जीवन पलटि कहु थिर निम्मल जस लेओ ॥२२३॥

---

२२० [अ] तव्वे चिंतइ ।
२२१ [अ] सव्वे सेन्न महुपलिअ । पाति साह । [शा] में 'आइअ' नहीं है ।
२२२ [अ] अनअ महातरु फलिअ । देव ('दैव' के स्थान पर) निअ समअ पाइअ ।
२२३ [अ] चल जीवन । कहुँ । निम्मल जल लेओं ।

२२०–२२१. तब मलिक असलान सोचने लगा । सारी फौज मेरे ऊपर टूट पड़ी है । बादशाह ने क्रोध करके चढ़ाई की है ।

२२२–२२४. मेरे अन्याय का भारी वृक्ष फला है, या मेरा बुरा भाग्य मेरे निकट आ गया है । तो इस चञ्चल जीवन के बदले में किसी तरह मैं भी स्थायी और निर्मल यश प्राप्त करूँ

---

२२१. महु = मेरी ओर, मुझ पर ।
पलइ = गिर रही है, हमला कर रही है ।
२२२. अनअ = अनय, दुर्नीति, अनीति ।
दुट्ठ दैव = बुरा भाग्य, विपरीत भाग्य ।
२२३. पलटि—प्रा० पलट्ट < सं० पर्यस्त = पलटना, बदलना ।
कहु = किसी तरह, कहीं से भी । सं० कुतः > अप० कहु (षड्भाषा चन्द्रिका, पासद्द० २९५) ।

कित्तसिंह सञो सिंह जञो भट भेला एक देञो ॥२२४॥

४।५५ [छंद:]

हसि दाहिन हत्थ समत्थ भइ ॥२२५॥
रण वत्त पलट्टिअ खग्ग लइ ॥२२६॥

---

२२४ [अ] सो ('सञो' के स्थान पर)। जञो भट भेला एक देञों। [क] सिंह भञो भट्ट भेलि।

२२५ [अ] हसि दाहिन। हत्थ समत्थ।

२२६ [अ] रणवत्त। [क] रणरत्तं।

और कीर्तिसिंह के सामने शेर की तरह वीरता की एक झटक दूँ।

२२५–२२६. यह विचार आते ही असलान ने मुस्करा कर और शक्ति का अनुभव करके युद्ध में भरपूर भाग लेने के लिए पलट कर दाहिने हाथ में तलवार ली।

---

२२४. भट भेला = जुझार योद्धा की भिड़न्त, प्राणान्तक मुठभेड़। सं० भेलय् > प्रा० अप० भेल = भिड़ना। 'क' प्रति में 'भट्ट भेलि' पाठ है, किन्तु 'अ' प्रति का भटभेला ही उत्तम मूल पाठ था।

२२५. हँसी = हँसकर, युद्ध में मरने के आनन्द से प्रसन्न होकर। असलान के मन में भी वीर भाव जाग्रत् हो गया।

समत्थ = शक्तिवाला, शक्तिमान्। सं० समर्थ > प्रा० अप० समत्थ > अव० समत्थ।

२२६. रण वत्त—युद्ध में व्याप्त या पूरी तरह फैला हुआ। सं० व्याप्त > प्रा० अप० वत्त, पासद्द० ९२४। 'अ' प्रति में रण वत्त और 'क', 'ख' प्रतियों में रणरत्त पाठ है।

तहिं एक्कहि एक पहार पले ॥२२७॥
जहिँ खग्गहि खग्गहि धार धरे ॥२२८॥
हअ लंगिम चंगिम चारु कला ॥२२९॥

---

२२७ [अ] तंहि ।

२२८ [अ] जहि खग्ग खग्गहि ।

२२९ [अ] लंगिम । [क] 'लग्गिय' ।

२२७–२२८. तब वे दोनों (असलान और कीर्तिसिंह) एक पर एक प्रहार करने लगे और एक की तलवार की धार दूसरे की तलवार की धार को रोकने लगी ।

२२९–२३०. युद्ध करते हुए उनका सारा यौवन, सौन्दर्य

---

२२९. हअ = विनष्ट । सं० हत > प्रा० हय > अव० हअ ।

लंगिम = यौवन, जवानी । कर्पूर मञ्जरीमें 'लंगिम चंगिम' ये दोनों शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं—पिसुणइ तनुलट्ठी लंगिमं चंगिमं च, अर्थात उसकी शरीर यष्टि नव-यौवन और सौन्दर्य को प्रकट कर रही थी, पासद्द० ८९३ । 'लंगिम चंगिम' यह श्रेष्ठ पाठ केवल 'अ' प्रतिमें प्राप्त होता है । 'क' 'ख' में 'लंगिम' का भ्रष्ट पाठ 'लग्गिअ' हो गया है ।

चंगिम = सौन्दर्य । दे० चंगिमन् , पासद्द० ३९१ ।

चारुकला = सुन्दर कलाएँ, हयकौशल, शस्त्रकौशल, युद्ध कौशल आदि ।

तरवारि चमकइ विज्जु झला ॥२३०॥
टरि टोप्परि टुट्टि सरीर रहे ॥२३१॥
तनु सोणित धारहि धार वहे ॥२३२॥

४।५६ [छन्द]

तनु रङ्ग तुरङ्ग तरङ्ग बसे ॥२३३॥

---

२३० [अ] छला ('झला' के स्थान पर)।
२३१ [अ] टोप्परि। सरीर।
२३२ [अ] सोनित। धारहि। धरे ('वहे' के स्थान पर)।
२३३ [अ] तनुरंग तुरंगम तरंग रसे। [क] में 'तुरंग' नहीं है।

और श्रेष्ठ कलाएँ नष्ट हो गईं। तलवारें बिजली की चमचमाहट जैसी चमकने लगीं।

२३१–२३२. उनके टोप गिर गए और शरीर टूट गए। देह से रक्त की धार पर धार बहने लगी।

२३३-२३४. घोड़ों का शरीर रुधिर की तरंगों के कारण रंग

---

२३०. झला = चमक, चमचमाहट। सं० ज्वाला > प्रा० झला।

२३१. टोप्परि = शिरस्त्राण, टोपा। दे० टोप्पर, पासद्द० ४६०। प्राकृतपैंगलम् में इस शब्द का प्रयोग हुआ है—पहु दिज्जिअ बजाअ सिज्जिअ टोप्पर कंकट बाहु किरीट सिरे, २।२०९। टोप्पर को ही प्राचीन अवधी में 'टोपा' कहने लगे, राग सनाहा पहुँची टोपा, पद्मावत ५१२।४।

२३३. तनु रंग = शरीर रंग गया या रंजित हो गया।
तरङ्ग = रुधिर नदी की लहरें।

तनु छड्डइ लग्गइ रोस रसे ॥२३४॥
सव्वउ जन पेक्खइ जुज्झु कहा ॥२३५॥
महभारह अज्जुन कण्ण जहा ॥२३६॥
नं आहव माहव संभु करे ॥२३७॥

---

२३४ [अ] रुसे ('रसे' के स्थान पर)।
२३५ [अ] सव्वउ। पेष्षइ। जुझ।
२३६ [अ] महभारइ। [क] महभावइ।
२३७ [अ] आहव माहव संभु। [क] सस्तु (संभु)।

गया। क्रोध में भर कर वे अपना शरीर छोड़ने लगे।

२३५-२३६. सब लोग युद्ध का हाल देखने लगे—महाभारत में जैसे अर्जुन और कर्ण का हुआ था ;

२३७-२३८. अथवा मानो कृष्ण और रुद्र युद्ध कर रहे हों और

वसे = वश में या अधीन हो जाने से, लहरों में पड़ जाने से।

छड्डइ लग्गइ = छोड़ने लगे।

२३४. रोस रसे = क्रोध के रस में डूब कर।

२३६. महभारह—'अ' प्रति में 'महभारइ' और 'क' में 'महभावइ' पाठ है किन्तु 'ह' को भूल से 'इ' लिखा गया है, मूल पाठ महभारह था। महभारह = महाभारत। अर्जुन और कर्ण के दृष्टान्त से भी महाभारत के युद्ध का ही संकेत निश्चित ज्ञात होता है।

२३७. नं = जैसे। अप० णं (= इव, हेम० ४।४४४)।

आहव = युद्ध।

माहव—यह उत्तम पाठ 'अ' प्रति का है। संस्कृत टीका में इसका ठीक अर्थ 'माधव' किया गया है।

वाणासुर जुज्झह वत्त भरें ॥२३८॥
महराअन्हि मल्लिके चप्पि लिऊ॥२३९॥
असलान निआनहि पिट्ठि दिऊ ॥२४०॥

२३८ [अ] बाणासुर बुज्झ विवत्त भरे ।
२३९ [अ] मल्लिके चपलि लिहू । [क] चप्पि लिऊँ ।
२४० [अ] निआनहि । पिठ्ठु दिहू ।
[क] निआनहु पिट्ठि दिऊँ ।

बाणासुर के युद्ध-के जैसा हाल फिर से हो रहा हो।

२३९-२४०. महाराज कीर्तिसिंह ने मलिक असलान को दबा लिया और अन्त में असलान ने पीठ दिखा दी।

संभु—'क' प्रति में भ्रष्ट पाठ 'सस्तु' है। उसीका मूल शुद्ध पाठ 'अ' प्रति में 'संभु' है।

नं आहव माहव संभु करे = जैसे कृष्ण और रुद्र संग्राम कर रहे हों। बाणासुर के शोणितपुर में कृष्ण और रुद्र के भीषण संग्राम का वर्णन हरिवंश पुराण में आया है, विष्णुपर्व, अध्या० १२४–१२५। बाणासुर और कृष्ण की सेना में भी वहाँ भयंकर युद्ध हुआ था। उसी का प्रसंग मानों फिर से उपस्थित हो गया था।

२३८. वाणासुर जुज्झह वत्त = बाणासुर के युद्ध की वार्ता या हकीकत। 'अ' प्रति में 'वत्त भरे' की जगह 'विवत्त भरे' पाठ है जिसका अर्थ होगा युद्ध फिर से लौट आया।

२३९. चप्पि लिऊ = चाँप लिया, दबा लिया, आक्रान्त कर लिया। सं० आक्रम् का धात्वादेश प्रा० अप० चप्प, पासद्द० ३९९।

४।५७

तं खणे पेष्खिअ राअ सो अरु सुष्खेअ करेओ ॥२४१॥
जें करें मारिअ बप्प महु से कर कमन हरेओ ॥२४२॥

---

२४१ [अ] खने पेख्खिअ । सुक्षेप करे नु ('सुष्खेअ करेओ' के स्थान पर) ।

२४२ [अ] जे करि । हरेनु ('हरेओ' के स्थान पर) ।

२४१-२४२. उस क्षण राजा कीर्तिसिंह ने असलान को देखा और कटाक्ष वचन कहे—जिस हाथसे तुमने मेरे बाप को मारा था वह हाथ अब कहाँ चला गया ?

---

२४०. निआनहि = अन्त में । सं० निदान > प्रा० निआण ।

२४१. सुष्खेअ = आक्षेप । 'अ' प्रति में 'सुक्षेप' पाठ है ।

२४२. कमन हरेओ = कौन हर ले गया, कहाँ चला गया । 'अ' प्रतिमें 'करे नु' और 'हरेनु' पाठ हैं । कीर्तिसिंह के कथन की व्यंजना यह है कि यदि तेरी उस भुजा में पुरुषार्थ हो तो अब मेरे सामने उसे प्रकट कर । मेरे पिता का वध करने में तू ने केवल कायरता का परिचय दिया था । पहले कहा जा चुका है कि शैतान तुल्य असलान ने पराक्रम-बल में राजा गणेश से हार कर संधिके लिए उनके पास बैठ कर विश्वासघात करके उन्हें मार डाला था (द्वितीयपल्लव का आरम्भ) ।

४।५८ [गद्य]

अरे अरे असलान प्राणककातर, अवज्ञात मानस ॥२४३॥
मश्र साहस, परित्याग साहस धिक, जीवनमात्ररसिक ॥२४४॥
की जासि अपजस साहि, सत्तु करी डिठि सञो पीठि दए ॥२४५॥

---

२४३ [अ] प्राण क कातर। अवज्ञातमानस। [क] प्राण कातर।
२४४ [अ] मअ साहस, परित्याग साहसिक ('साहस धिक' के स्थान पर)।
[क] समर परि लाग ('परित्याग' के स्थान पर।
[शा] समर परित्याग साहस धिक।
२४५ [अ] जाहि ('जासि' के स्थान पर)। अथ जस। सत्रु क दीठि सौं पीठि देखाए।

---

२४३. अरे ओ असलान, तू अपनी जान बचाने के लिए भयभीत है। तेरा मन अपनी अवज्ञा के भाव से भरा हुआ है।

२४४. तेरा साहस मर चुका है। छोड़कर भागने के तेरे भय को धिक्कार है। तू बस अब केवल जान बचाना चाहता है।

२४५-२४६. अपयश कमा कर अब क्या भागता है? शत्रु

---

२४३ इस गद्यांश का पाठ 'अ' प्रति में उत्कृष्ट है। वही यहाँ रक्खा गया है। यह तुकान्त युक्त गद्य का नमूना है। जैसे अवज्ञात मानस, मअ साहस; परित्याग साहस धिक, जीवनमात्ररसिक।

२४४. मश्र साहस = मरे हुए साहस वाला। सं० मृत > प्रा० मश्र। साहस = भय। सं० साध्वस। यह शब्द पहले आ चुका है (२।२१९)। परित्याग = भगोड़ापन।

२४५. साहि = साध कर, ले कर।

भाहू भइसुर क सोझ जाहि ॥२४६॥

४।५९ [दोहा]

जइ कं जीवसि जीव गए जाहि जाहि असलान ॥२४७॥
तिहुअण जग्गइ कित्ति मझु, तुज्झु दिअउ जिवदान ॥२४८॥

४।६०

जइ रण भग्गसि तइ तोजे काअर ॥२४६॥

---

२४६ [अ] भाहू भइसुर । [क] भाहु भैसुर ।
२४७ [अ] जइ कं जीवसि जीव गए ।
[क] जै धके जीवसिऽऽजीवओ ।
२४८ [अ] तिहुअन जग्गउ । मझु दिअउ । [क] मम····दिअउँ ।
२४९ [अ] तै (जइ के स्थान पर) । तओं (तोजे) ।

की दृष्टि के सामने पीठ देकर तू अब ऐसे जाता है जैसे छोटे भाई की बधू जेठ के सामने सीधे जाती है ।

२४७-२४८. यदि तू प्राण रहित शव के समान जीवित रहना चाहता हो तो जा भाग जा। तुझे जीवदान देनेसे त्रिभुवन में मेरा यश जागता रहेगा ।

२४६-२५०. 'यदि तू रण से भागता है तो तू कायर है

---

२४६. भाहू = भातृवधू, छोटे भाई की बहू । भइसुर = जेठ, भसुर (हि० श० सा० २५५१)। सोझ जाहि = बिना आँख मिलाए मुँह छिपा कर जाती है ।
२४७. जइ = यदि । कं = किसी तरह ।
जीव गए = प्राण जाने पर ।

अरु तोहि मारइ से पुनु काअर ॥२५०॥
जाहि जाहि अनुसर गए साअर ॥२५१॥
एमं जंपइ हसि हसि नाअर ॥२५२॥

४।६१ [रड्डा]

तो पलट्टिअ जित्ति रण राअ ॥२५३॥
शंख ध्वनि उच्छलिअ, नित्त गीत वज्जन वज्जिअ ॥२५४॥

---

२५० [अ] 'अरु' पाठ नहीं है। पुन।
२५१ [अ] जाहि जाहि। ठाए साएर।
२५२ [अ] एमं जंपइ हँसि हँसि। [क] हसि हसि वे नाअर।
२५३ [अ] पलट्टि जीति रण राअ।
२५४ [अ] शंखधुनि उछ्छलिअ। नित्त ग (पाठ अस्पष्ट)।
[क] वज्जन वज्जिअ। [शा] प्रति का पाठ वज्जन वज्जिअ है।

और तेरे रण करने पर जो तुझे मारे वह और अधिक कायर है।

२५१-२५२. अरे, जा, जा, भाग, धरती छोड़ कर समुद्र में डूब मर'—ऐसा हँस-हँस कर वे दोनों नागर (कीर्तिसिंह और वीरसिंह) कह रहे थे।

२५३-२५४. तब उसके बाद युद्ध जीत कर राजा कीर्तिसिंह लौटे। शंख ध्वनि होने लगी। नृत्य, गीत होने लगा और बाजे बजने लगे।

---

२५२. एमं—एवं। सं० एवं >अप० एमं (पासद्द० २४१)।

चारि वेश्र झंकार सुह महुत्त श्रहिषेक किज्जिश्र ॥२५५॥
वन्धव जन उच्छाह कर तिरहुति पाइश्र रूप ॥२५६॥
पातिसाह जसु तिलक करु कित्तिसिंह भउँ भूप ॥२५७॥

४।६२ [छन्द-शार्दूलविक्रीडित]

एवं सङ्गरसाहसप्रमथनप्रालब्धलब्धोदयां ॥२५८॥
पुष्णाति श्रियमाशशाङ्कतरणीं श्रीकीर्तिसिंहो नृपः ॥२५९॥
माधुर्यप्रसवस्थली गुरुयशोविस्तारशिक्षासखी ॥२६०॥

२५५ [अ] शुभ ('सुह' के स्थान पर)। मुहुत्त अभिषेक।
२५६ [अ] बंधव। उत्साह ('उच्छाह' के स्थान पर)
२५७ [अ] पातिसाह ज (पाठ अस्पष्ट) रु कीर्त्तिसिंह भउ भूप।
२५८ [अ] 'प्रालब्ध' के स्थान पर 'प्रारम्भ'।
२५९ [अ] 'पुष्णाति' के स्थान पर 'पुष्णातु'।
२६० [अ]'खेलतु कवेः'। उसके स्थान पर [क] में खेलनकवेः।

२५५-२५६. चारों वेदों की झंकार (मंत्रध्वनि) के साथ शुभ मुहूर्त में अभिषेक किया गया। बंधु-बांधवों में उत्साह छा गया और तिरहुत ने फिर अपनी शोभा प्राप्त की।

२५७. बादशाह मलिक इबराहीम ने उनका तिलक किया और कीर्तिसिंह फिर राजा हुए।

२५८-२५९. इस प्रकार संग्राम भूमि में साहस-द्वारा शत्रुको मथ डालने से प्राप्त हुई और प्रवर्धमान लक्ष्मी को राजा श्रीकीर्तिसिंह जब तक सूर्य-चन्द्र हैं तब तक पुष्ट करते रहें।

२६०-२६१. माधुर्य को जन्म देनेवाली कवि विद्यापति

यावद्विश्वमिदञ्च खेलतु कवेर्विद्यापतेर्भारती ॥२६१॥

इति महामहोपाध्याय सठ्ठक्कुर श्रीविद्यापतिविरचितायां कीर्तिलतायां चतुर्थः पल्लवः समाप्तः । शुभम् । संवत् ७४७ वैशाख शुक्लतृतीयायां तिथौ । श्री श्री जय जगज्ज्योतिर्म्मल्लदेव भूपानामाज्ञया देवज्ञ नारायणसिंहेन लिखितमिदं पुस्तकं सम्पूर्णमिति शिवम् ॥

[क] प्रति में प्रतिलिपि करनेवाले का कुछ भी उल्लेख नहीं दिया है।

[अ] महामहोपाध्याय ठक्कुर श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां

चतुर्थः पल्लवः समाप्तः ॥

नेत्र नगरसोर्वीभिर्मितेऽब्दे विक्रमार्क्क····
···र्षेऽसिते षष्ठ्यां लिखितं भृगुवासरे ॥
यादृशमितिन्यायान्न मे दोषः ॥

की यह वाणी जब तक यह संसार है तब तक क्रीड़ा करती रहे।

महामहोपाध्याय सठ्ठक्कुर श्री विद्यापति की रची हुई कीर्तिलता में चौथा पल्लव समाप्त हुआ ॥ शुभम् ॥ [नेपाल] संवत् ७४७ (= ७४७ + ८७८ = १६२५ ई०) के वैशाख मास की शुक्ल तृतीया तिथि को श्री श्री जय जगज्ज्योतिर्मल्लदेव राजा की आज्ञा से दैवज्ञनारायण सिंह की लिखी यह पोथी समाप्त हुई।

---

२६१. 'क' प्रति में 'खेलनकवेः' अपपाठ है। 'अ' प्रति का 'खेलतु कवेः' मूल शुद्ध पाठ है।

यह हरप्रसाद शास्त्री-द्वारा उतारी गयी प्रतिलिपि में नेपाल दरबार की प्रति की पुष्पिका है। 'क' प्रतिमें कोई पुष्पिका नहीं है। 'अ' प्रति के अन्त में जो श्लोक है उससे ज्ञात होता है कि वह सं० १६७२ विक्रमी (ई० १६१५) में लिखी गई। उसे श्री गोपालभट्ट के अनुज श्री सूरभट्ट ने स्तम्भतीर्थ या खम्भात में लिखवाया।

इति शुभं भूयात्

परिशिष्ट २

[अ] प्रतिमें संस्कृत टीका

प्रथमः पल्लवः

श्री गणेशाय नमः

श्री गोपालगिरापङ्कुरपि शैलं विलङ्घते ।
तदादेशवशादेषा क्रियते मंगलैरलम् ।।

६. तिहुअणेत्यादि—त्रिभुवनक्षेत्रे किमिति तस्य कीर्तिवल्ली प्रसरिता । अक्षरसंभारस्तं यदि मंचं न वध्नामि (? वध्नाति) ।

७. ततोहं भणामि निश्चिनं कृत्वा यादृशं तादृशं काव्यं । खलः खलत्वेन दूषयिष्यति । सुजनः प्रशंसतु सर्वः ।

८. सुअणेत्यादि—सुजनः प्रशंसतु काव्यं मम, दुर्जनो वदतु मंदं । अवश्यं विषधरो विषं वमति अमृतं विमुंचति चंद्रः ।

९. सज्जणेत्यादि—सज्जनादिचन्तयति मनसा मनसा । मित्रं क्रियते सर्व-एव । भेदं कुर्वन् मयि यदि दुर्ज्जनो वैरी न भवति ।

१०. बालचंद्रेत्यादि—बालचंद्रो विद्यापति भाषा, द्वयोरपि न लगति दुर्ज्जन-हासः । स परमेश्वरशेखरे शोभते । असौ नागरमनो मोहयति ।

११. कं प्रबोधयामि ? कं मानयामि ? किमिति नीरसमनसि रसं गृहीत्वा लापयामि । यदि सुरसा भविष्यति भाषा यः बुध्यते स करिष्यति प्रशंसा (म्) ।

१२. मधुकरो बुध्यते कुसुमरसं काव्यं साधुविदग्धः । सज्जनः परोपकारमनाः दुर्ज्जनो मनो मलिनः ।

१३. सक्कय इत्यादि—संस्कृतवाणीं बुधजनः भावयति । प्राकृतरसं कोपि

न प्राप्नोति । देशीयवचनं सर्वजनमिष्टं तेन तादृशं जल्पामि प्राकृतं ।

१४. भृंगीत्यादि—भृंगी पृच्छते, भृंग ! शृणु कः संसारे सारः । मानिनि-जीवनं समानं वीरपुरुषावतारः ।

१५. वीरेत्यादि—वीरपुरुषः कः जातः स्वामिन् ! न जानामि नामा । यदि उत्सवे स्फुटं कथयसि । अहं आकर्ण्णन कामा ।

१६. कित्तीत्यादि—कीर्तिलुब्धः शूरः संग्रामे धर्मपरायणहृदयः । विपत्कालेन खलु दीनं जल्पति । सहजभावे सानन्दः स्वजनो भुंक्ते यस्य सम्पत्ति । रभसेन द्रव्यं दत्त्वा विश्रामयति । सत्यस्वरूपहृदयः, एतैर्लक्षणैः संलक्ष्य पुरुषं प्रशंसामि वीरम् ।

१७. यतः पुरिसेत्यादि—पुरुषत्वेन पुरुषः न खलु पुरुषो जन्ममात्रेण । जलदानेन खलु जलदः न खलु जलदः पुंजितो धूमः ।
सो पुरिस इति—स पुरुषो यस्य मानः स पुरुषः यस्य अर्ज्जने शक्तिः । इतरः पुरुषाकारः पुच्छविहीनः पशुर्भवति ।

१८. पुरिसेत्यादि—पुरुषकथा अहं कथयिष्ये यस्याः प्रस्तावे पुण्यम् । सुखेन सुभोजनेन शुभवदनेन दिवसो याति सम्पूर्णः ।

१९. पुरिसेत्यादि—पुरुषोभवद् बलिराजा यत्र करो कृष्णेन प्रसारितो । पुरुषोभवद्रघुराजा येन रणे रावणो मारितः । पुरुषो भगीरथो भवतु येन निज कुलमुद्धृतं । परशुरामः पुनः पुरुषो क्षत्रिय क्षयं कृतं । पुनः पुरुषं प्रशंसामि कीर्तिसिंहगणेश सुतं । येन शत्रून्समरे संमर्द्य वप्रवैरं उद्धृतं ध्रुवम् ।

२०. राअइत्यादि—राअचरितं रसालमिदं नाथ न रक्षय संगोप्य । कस्य वंशस्य राजा सः कीर्त्तिसिंहः कः भवति ।

२१. तक्केत्यादि—तर्ककर्कशवेदान् पठति त्रिभिर्दानै दलयति दारिद्रयं । परंब्रह्म परमार्थं बुध्यते । वित्तेन वत्तु ली करोति कीर्त्तिम् । शक्त्या शत्रुणा संग्रामे युध्यते । ओइनीवंशः प्रसिद्धो जगति । कः तस्य न करोति सेवां द्वौ एकत्र न प्राप्यते भूपतिः पुनर्भूदेवः ।

२२. येन शरणागतो न परिहृतः, येन अर्थीजनो विमना न कृतः। येन अतथ्यं न भाषितं। येन पाद उन्मार्गे न दत्तः। तस्य कुलीयबृहत्त्वं कथने क उपायः। यत्र जातः उत्पन्नमतिः कामेश्वरसमो राजा।

२३. तसु इत्यादि—तस्य नन्दनः भोगीशो राजवरभोगपुरन्दरः अभवत्। हुताशनतेजाः कान्त्या कुसुमायुधसुन्दरः याचक सिद्धिकेदारदाने पंचम-बलिः ज्ञातः। प्रियसखा उक्त्वा प्रियरोजसाह सुरत्राणेन सम्मानितः। प्रतापेन दानेन संमानेन गुणेन येन सर्वे कृता आत्मवशं। विस्तार्य कीर्त्ति-महोमण्डले कंदकुसुमसंकाश यशाः।

२४. तासु इत्यादि—तस्य तनयो नय विनय गुरुकः राजा गणेशः, येन प्रस्थापित दशदिक्षु कीर्त्तिकुसुमसंदेशः।

२५. दानेन गुरुको गणेशः येन याचकोऽनुरंजितः। माने गुरुको गणेशः। येन रिपु बृहत्त्वं भग्नं। सत्ये गुरुको गणेशो येन तुलित आखण्डलः। कीर्त्या गुरुको गणेशो येन धवलितं महीमण्डलं। लावण्ये गुरुको गणेशो यं प्रेक्ष्य संभाव्यते पचशरः। भोगीशतनयः सुप्रसिद्धो जगति गुरुको राजा गणेशात्परः।

गद्य—तस्य पुत्रः युवराजेषु मध्ये पवित्रः। अगणेयेत्यादि स्पष्टार्थः।

२६. तासु इत्यादि—तस्य कनिष्ठो गरिष्ठो गुणे कीर्त्तिसिंहभूपालः। मेदिनी–स तु चिरं जीवतु करोतु धर्म-पालनं।

२८. येन राज्ञा तुलजा विक्रमविक्रमादित्यीय तुलनया साहसं संसाध्य पातिसाहमाराध्य दुष्टानां (....दर्प्प) श्चूर्णितः। पितृवैरमुद्धृत्य मातृणां मनोरथः पूरितः। प्रबलेत्याद्यर्थः स्पष्ट एव।

बुड्डन्तेत्यादि—मज्जद्राज्यमुद्धृत्य धृतम्। प्रभुशक्त्यादि तिसृणां परीक्षाज्ञाता दृष्टा विभूतिः परावृत्त्या नीता। अहितानामहंकारो कृतः हरितस्तरवारिवारातरंगः। सांगसमुद्रस्य फेनप्रायं यश उद्धृत्य दिगन्ते विस्तारितम्।

[इति प्रथमः पल्लवः]

द्वितीयः पल्लवः

१. किमीत्यादि—केनोत्पन्नं वैरं केनोद्धृतं तेन। पुण्यकथा प्रिय! कथय, स्वामिन् शृणोमि सुखेन।

२. लक्खणेत्यादि—लक्ष्मणसेन नरेशो लिख्यते पक्षि पंच द्वौ। तत्र मधुमासे प्रथमपक्षे पंचमी कथिता या। राज्यलुब्धोऽसलानो बुद्धिविक्रम-बलैर्न्यूनः पार्श्वे उपविश्य विश्वास्य राजा गणेशो मारितः। म्रियमाणे राज्ञि कोलाहलः प (तितः) मेदिन्यां 'हाहा'शब्दोऽभवत्। सुरराज-नगरे नागररमणीवामनयनमुत्स्फुरितं ध्रुवम्।

३. ठाकुरेत्यादि—प्रभुः ठकोऽभवत् चौरैस्तरसा····संपादिता, दासेन गोस्वामिनी गृहीता, धर्मो गत्वा प्रतारणायां निमग्नः, खलेन सज्जनः परिभूतः, कोपि न भवति विचारकः, अकुलीना कुलीनयोर्विवाहः अधम उत्तमस्य शत्रुः, अक्षररसबोद्धा नहि, कविकुलं भ्रमित्वा भिक्षुकोऽभवत्, तीरभुक्तिस्तिरोहिता, सर्वैर्गुणैः राजा गणेशो यदि स्वर्ग गतः।

४. राम इत्यादि—राजा मारितः शांतोऽभवद्रोषः। लज्जितो निजमनसि इदमसलाणतुरुष्कश्चिन्तयति। मंदं कृतं मया कर्म धर्म स्मृत्वा निज-शिरो धूनयति। एतद्वयोरुद्धारेऽन्यं न पश्याम्यन्यं। राज्यं समर्पयामि। पुनः करोमि कीर्त्तिसिंहसम्मानम्।

५. सिंहेत्यादि—सिंहपराक्रमो मानधनो वैरोद्धारेषु सुसज्जः। कीर्त्तिसिंहो नांगीकरोति शत्रुसमर्पितराज्यं।

६. माए इत्यादि—माता जल्पति पुनः गुरुलोकः मंत्री मित्रं शिक्षाप-यति। कदापि एतत्कर्म न क्रियते, कोपि न राज्यं परिह्रियते, वप्रवैरं चिरं चित्ते ध्रियते। नभनेन राजा गतः सुरपुरलोकसमाजं। त्वं शत्रुं मित्रं कृत्वा भुंक्ष्व तीरभुक्तिराज्यं।

७. तस्यां वेलायां मातृमित्रमंत्रीमहाजनो नतेषु वदत्सु हृदयगिरिकंदरा

निद्राणपितृवैरिकेसरी जजागार महाराजाधिराज श्रीमत्कीर्त्तिसिंहदेवो वक्तुं लगितः।

अरे इत्यादि—अरे अरे लोकाः, वृथा विस्मृतस्वामिशोकाः, कुटिल-राजनीतिचतुराः मम वचनं चित्ते कुरुत।

८. मातेत्यादि—माता भणति ममत्वमेव मंत्री राज्यनीतिं। मम प्रीता एका परं वीरपुरुषरीतिः।

९. मानेत्यादि—मानविहीनं भोजनं, शत्रुदत्तं राज्यं, शरणं प्रविष्टं जीवनं त्रीणि कातरकार्याणि।

१०. जो अपमाने इत्यादि—योऽपमानेन दुःखं न मानयति, दानखड्गयोर्मर्म न जानाति, परोपकारे धर्मं न पोटयति, स धन्यो निश्चिन्तं स्वपिति।

११. परेत्यादि—पर पुरुषार्थम····कथयामि वक्तुं न याति किमपि तरसा। ममापि ज्येष्ठो गरिष्ठोऽस्ति मंत्री विलक्षणो भ्राता।

१२. बप्पेत्यादि—वप्र वैरमुद्धरिष्यामि, न पुनः प्रतिज्ञां त्यजामि, न पुनः शरणागतं मुंचामि। दानेन दलयामि परदुःखं, न पुनः नाक्षरं भणामि, प्राणेन पणं करोमि, न पुनः स्वां शक्तिं प्रकाशयामि। अभिमानं रक्षिष्यामि, जीवे सति नीचसमाजे न करोमि रतिं। तेन तिष्ठतु किं वायातु राज्यं वीरसिंहो भणति स्वात्म मतिम्।

१३. वेर्वात्यादि—द्वौ सम्मतो मिलितौ तां केषां (मर्यादा!) द्वयोः सहोदरसंगः। द्वौ पुरुषौ सर्वगुणविलक्षणौ नूनं बलभद्रकृष्णौ न पुनर्वर्णितौ रामलक्ष्मणौ। राज्ञो नंदनः पादेन चलितः ईदृशः विधाताज्ञः तं प्रेक्षतां केषां न नयनयोर्निसृतमश्रु।

१४. लोकस्त्यजः पुन. परिवारः राज्यभोगः परिहृतः वरतुरंगपरिजनाः परिमुक्ताः। जननीपादौ प्रणम्य जन्मभूमेर्मोहस्त्यक्तः। रमणी त्यक्ता नवयौवना धनं त्यक्तं बहु। पातिसाहमुद्दिश्य चलितः गणेशराज्ञः पुत्रः।

१५. पाज्ञेत्यादि—यदा चलितौ द्वावपि कुमारौ हरिहरंति स्मरंति सर्वः। बहूनि त्यक्तानि दीर्घप्रांतराणि। जनाकीर्णं प्राप्तमंतरांतरा। यत्र गम्यते यत्र ग्रामं भोगीशराज्ञो बृहन्नाम। केनचित् पटः केनचोध्वाटकः ? केनचित्संपत्तिः स्तोकं स्तोकम्।

कुत्रापि पत्री भृता प्राप्ता। कुत्रचित्सकरो लग्नो नितराम्। केनचिद्दत्तमृणं केनचित्कृतो नदीपारः। केनचिदुद्ग्राहितो भारः केनचित्पंथा कथितः। विज्ञः केनचिदातिथ्यं विनयं कृतं। कतिपयैर्दिवसैरध्वा सन्तीर्णः।

१६. अवश्यं उद्यमे लक्ष्मी वसति अवश्यं साहसे सिद्धिः। पुरुषो विलक्षणो यत्र चलति तत्र तत्र मिलति समृद्धिः। तत्क्षणे नगरं प्रेक्षितं जोणापुरं तस्य नाम। लोचनस्य वल्लभं तस्या (लक्ष्म्या) विश्रामम्।

१७. पेक्खिअ इत्यादि—प्रेक्षितं पट्टनं चारुमेखलं यमुनानीरप्रक्षालितम्। पाषाणकुट्टितं कुट्यांनग्नं चूर्णैरुपरि प्रक्षालितं। पल्लवितकुसुमितफलितोपवनचूतचंपकशोभितं। मकरंदपानविमुग्धमधुकरशब्देन मानसमोहकम्।

नदीकुटिलभागवापीबंधकाष्ठादिबंधकितनदीभिः भव्याभव्य निकेतनं। अतिबहुतग्रामविवरं विवर्तैश्च भ्रांतो भवंति महांतोपि चेतनाः। सोपानतोरणयंत्रजोटनजालजलगवाक्षमंडितं। ध्वजधवलगृहशतमहत्त्र प्रेक्षितम्। कनककलशेन मंडितम्।

स्थलकमलपत्रप्रमाणनेत्रा मत्तकुंजरगामिनी। चतुष्पथवर्त्मनि परावृत्य प्रेक्षते सार्थसार्थैः कामिनी। कर्पूरकुंकुमगंधचामररत्नकाचनाम्बर·····व्यवहार मूल्येन वणिक् विक्रीणीते। क्रीत्वा आनयति बर्बरः।

सम्मानदानविवाहोत्सवगीतनाटककाव्यैः आतिथ्यविनयविवेककौतुकः समयः प्रेरितः सर्वैः पर्य्यटति खेलति हसति पश्यति सर्वः यत्र गम्यते। मातंगतुंगतुरंगघटाभिः वर्त्मंत्यक्त्वा वर्त्म न प्राप्यते।

१८. ततः, पुनः । ताहीति—तस्य नगरस्य प्रतिस्थापना प्रतिस्थापनेन शत-संख्यहट्टबाटभ्रमणशाखानगरशृंगाटकाक्रीडगोपुरचक्रहट्टा वीथी वलभी । आट्टालककूपजलोत्तोलनघटा कौशीसप्राकारपुरविन्यासकथा कथयामि का, मन्ये द्वितीयो अमरावत्यावतारोऽभवत् । अपि चापि च । हाटकेत्यादि—हट्टायाः प्रथमप्रवेशे अष्टधातुघटनाटाङ्कारैः कांस्यघटकपण्यस्थकांस्यकेंकारैः । प्रचुरपौरजनपदसंभारसंभिन्न, धनहटा, स्वर्णहटा, पर्णहटा, पक्वान्नहटा, मत्स्यहट्टायाः रवकथां वदन् भूयते नीकवादी ? मन्ये गंभीरगुर्गुरावर्त्तकल्लोलकोलाहलैः श्रवणं पूरयन् मर्यादां मुक्त्वा महार्णवो तिष्ठति ।

मध्याह्न वेलायां समर्द्द सज्जते सकलपृथ्वीचक्रस्य वस्तु विक्रेतुमायाति । मानुषस्य मर्दनात् पिष्टनं जायते । अंगेनांगं उद्वर्त्तते । अन्यस्य तिलकं अन्ये लगति । नर्त्तकादपि परस्त्री वलयं भज्यते । ब्राह्मणस्य यज्ञोपवीत चाण्डालं स्पृशति । वेश्यायाः पयोधरो यतीनां हृदयं चूर्णयति । घनं संचरंति घोटका हस्तिनः कति न कति न वराकन् चूर्णयंति । आवर्त्तविवर्त्त····भवति । नगरं न भवति नरसमुद्रः सः ।

१९. बहुल इत्यादि—बहुलप्रकारैर्वणिजो हट्टां हिंडितुं यदा गच्छंति क्षणो नैकेन सर्वं विक्रीणाति । सर्वाण्येव क्रीणंतो सर्वदिक्षु प्रसारितश्चापलः रूपयौवनाग्रगामिनो वणिग्वधूमंडयित्वा विशति सहस्रं-सहस्रं नागरो । संभाषणे किंचिदपि व्याजं कृत्वा तया सह कथां सर्वः कथयति क्रीणाति विक्रीणाति । आत्मसुखं दृष्टिकुतूहलं लाभस्तिष्ठति ।

२०. सव्वउ इत्यादि—सर्वेषा ऋजुनयनं, तरुणी····क्षते वक्रं चौर्यप्रेम प्रिया सा स्वदोषेण सशंका ।

२१. बहुलेत्यादि—बहवो ब्राह्मणः बहवः कायस्थाः राजपुत्रकुलं बहुलं । बहुलजातयोः मिलित्वा वसंत्युपर्युपरि । सर्वे सुजनाः सर्वे सधनाः । नगरराजा सर्वनगरोपरि या सर्वमंदिरदेहल्यां रमणी दृश्यते सानंदा । तस्या मुखमण्डलेन गृहे-गृहे उदितः चन्द्रः ।

२२. एकहट्टायाः प्रांते अपरहट्टायाः क्रोड़े राजपथसंनिधाने संचरता अनेको दृष्टो वेश्यायाः निवासः । यस्याः निर्माणे विश्वकर्मणोऽभवत् बृहत्प्रयासः । अपरा वैचित्र्यकथा कथनीया का । यस्याः केशधूप-धूम ध्वजरेखाः ध्रुवोपरि गच्छति । केषां केषांचित् तादृशी शंका तस्याः कज्जलेन चन्द्रे कलङ्कः ।

लज्जेत्यादि—लज्जा कृत्रिमा । कपटतारुण्यं धननिमित्तं बिभर्त्ति प्रेम-लोभेन विनयसौभाग्यार्थं कार्म्मण्यं विना स्वामिना सिन्दूरं परामृशति परिजनेनापमानं ।

२३. यद् गुण मानविदग्धः गौरवं लभते भुजंगः । वेश्या मंदिरे ध्रुवं वसंति धूर्त्तरूपोऽनंगः ।

२४. ताम्बोल्यादि—तस्या वेश्यायाः मुखसारमंडलेन । अलकतिलकपत्रा-वली खंडनेन दिव्यांबरविधानेन । पुनः-पुनः केशपाशबंधनेन, सखी-जनप्रेक्षणेन, मुग्धा सुन्दरी तन्वी क्षीणमध्या, तरुणी तरट्टीति वेल्लोति च····विचक्षणा, परिहासपेशला सुन्दरी सार्थो यदा दृश्यते तदा मन एवं भवति चत्वारः पुरुषार्थाः तत्र तृतीयार्थ त्रयोप्युपेक्षणीयाः।

तन्हिकेत्यादि—तस्याः केशकुसुमं वसति मन्ये मान्यजनस्य लज्जा-वलंबित मुखचन्द्रचन्द्रिकां वीक्ष्य अन्धकारो हसति । नयनांचल संचारेण भ्रूलताभंगः । यथा कज्जलकल्लोलिनीः वीचिविवर्त्तनेन बृहत्-बृहत् शफरी तरंगः । अतिसूक्ष्मसिन्दूररेखा निन्दते पापं, मन्ये पंचशरस्य प्रथमप्रतापः ।

दोषेत्यादि—दोषेण हीना मध्येन क्षीणा रसिक आनयति धूतेन जित्वा पयोधरस्य भरेण भंक्तुमिच्छति । नेत्रस्य तृतीयभागेन त्रिभुवनं—धयति । सुस्वरेण वदति, राज्ञि शोभते । केषां केषांचिदेवं आशा कथं लगच्चंचलवातः तस्यां कुटिलकटाक्षसदर्पकन्दर्पशरश्रेणि यदि नागरमनसि निमग्ना गौरिति ग्राम्यं त्यजति ।

२५. सव्वउइत्यादि—सर्वा नार्य्यो विलक्षणा सर्वे सुस्थिता लोकाः । श्री-

इवराहिमसाहगुणेन खलु चिन्तामणिशोकः ।

२६. सब्वतहु इत्यादि—सर्वत्र प्रेक्ष्य सुखितं भवति लोचनं सर्वत्र मिलति सुस्थानं सुभोजनं क्षणमेकं मनो दत्वा शृणु विलक्षण, किंचद्वदामि तुरुष्काणां लक्षणं ।

२७. तदोत्यादि—ततः द्वौ कुमारौ उपविष्टौ हट्टायां यत्र लक्षं घोटकाः । मातंगानां सहस्रं कुत्रचित् चोटयो मंदाः । कुत्रचित् दासो दासी, कुत्रचिद्दूरे निष्काशितो हिन्दुमन्दः, कुत्रचित्तुरुष्कजलपात्रं । कुत्रचिद्वाजिशाला प्रसारः कुत्रचित् शरशारगाः । कुत्रचित् हट्टाप्रसारकः, वणिजि वणिजि भ्रमंतो द्वौ राजानौ । तोलयतो मांसं, लशुनं गृजनं । गृह्णतः प्रवृत्ताः बहवो दासाः । क्रीणंतो द्रव्य वक्षिका मार्जयन्तो मोजां भ्रमंता । मीरमल्लीकसेखलावखोजाः ।

अवे बे भणंतो मद्यं पिबन्तः कलिमां कथयन्त कलामेन जीवन्तः । कसीदां कलयन्तः मसीद भ्रमन्तः कितेबं पठन्तः तुरुष्काः अनन्तम् ।

२८. अतिगहेत्यादि—अत्यन्तं स्मरति निजदेवं भुंक्त्वा भंगाचूर्णम् । विना कारणेन क्रुध्यति, वदनं तप्तताम्रकुण्डं । तुरुष्कः अश्वारूढो हट्टां भ्रममाणो मांसं याचते । वक्रदृष्ट्या निरीक्ष्य''''रयाश्मश्रूनि थूत्करोति । सर्वस्वं मद्ये क्षयं कृत्वा तरमा वादरम इति जिज्ञास्यम् । अविवेकस्त्रियं कथयामि किं पश्चात्पदातयो गृहीत्वा भ्रमन्ते ।

३०. गीतीति—गीतिर्गुर्वी यस्याः मत्तो भूत्वा मत्तरुफं गायति । चरखं नृत्यति तुरुष्किणी अन्यत्किमिति कस्यापि न भावयति । सैयदः सेरणीं ददाति सर्वस्योच्छिष्टं सर्वे खादन्ति । आशीर्ददति दरवेशाः । न प्राप्नुवन्ति गालीं दत्वा व्रजन्ति । मखदूमेति जिज्ञास्यं ।

३१. किंचेत्यादि—हिन्दूतुरुष्कयो मिलितो वासः । एकस्वधमणापरस्य हासः । कुत्रचित् बांगः कुत्रचित् वेदः । कुत्रचित् मिसमिलः कुत्रचित् छेदः ।

कुत्रचिदुपाध्यायः कुत्रचित्खोजा । कुत्रचिन्नक्तं कुत्रचित् रोजा ।

कुत्रचित् तुरुष्को बलं करोति । पथि व्रजन्तो बिर्भति गृहीत्वा आनीयते । ब्राह्मणो बटुः मस्तके दीयते गोस्फिचं । तिलकं अवलेहृति यज्ञोपवीतं त्रोटयति, उपरि दातुमिच्छति घोटकं । श्राद्धान्नेन मदिरां संधत्ते । देवकुलं विभज्य मसीदं बध्नाति । गोरिणा गोमठेन पूर्णा मही पादस्यापि धारणे स्थानं नहि । हिन्दूरिति दूरे निष्कारयति । स्वल्पव्यस्कस्तुरुष्कः विभीषिकां दर्शयति ।

२२. हिन्दुहोत्यादि—हिन्दुं सम्पूर्णं गिलितुमिच्छति । तुलुष्कं प्रेक्ष्य भवति बुद्धिः । अयमपि यस्य प्रतापेन न वशः सचिरं जीवतु सुरत्राणः ।

२३. हट्टहोत्यादि—हट्टायां हट्टायां भ्रमन्तौ द्वौ राजकुमारौ । दृष्टिकुतूहलकार्य्यवशतः प्रविष्टावीशद्वारम् ।

२४. लोहट्टेत्यादि—लोकानां संमर्द्दन बहुविधवाद्येनाम्बरमण्डलं पूरितं । आगच्छतां तुरुक्काणं खानमल्लिकानां पदभारैः चूर्णितः प्रस्तरः । दूरेप्यागच्छंतो बृहंतो राजानः तरसा द्वारे वारिताः । यद्वत: छायां आगच्छंतो बहिः विपक्षाः गणितुं न पार्यन्ते ।

सब्ब सम्मदगारेति—जिज्ञास्यं । वित्तं बिस्तारयन्तो पृथ्वीपालाः आगच्छन्तः द्वारे उपविष्टाः दिवसं यापयन्तः वर्षेऽपि दर्शनं न प्राप्नुवन्ति । उत्तमपरिवाराः श्याम उवाराः महलं धर्मशालयाजानन्तः सुरत्राण नमस्कारे ।

नहइ अलायेति—जिज्ञास्यं । आत्मना स्थित्वा स्थित्वा आगच्छन्तः । सागर गिर्यन्तरद्वीप दिगन्तः येषां निमित्तेन गम्यते सर्वे वर्त्तुलाः राजपुत्रराणाः एतद्वारे प्राप्यन्ते ।

अयम इति—वदन्तः विरुदं भणंतः भट्टघट्टाः दृश्यन्ते । आगच्छन्तो यान्तो कार्यं कुर्वन्तो मानवाः केन लेख्यन्ते । तेलङ्गाः वंगचोलकलिंगराजदूतैः मण्डितं । निजभाषया जल्पितसाहसे न कम्पते यथा सुरराज पण्डितः । राजपुत्राश्चलन्तो बहवः अन्तःपटेन शोभन्ते । संग्रामसुभव्या यथा गन्धर्वाः रूपेण परमानो मोहयन्तः ।

३५-३६. एहुत्यादि—अयं भव्यो द्वारः सकलमहिमण्डलोपरि । अत्रात्मना-व्यवहारः रंकोपि राजानं गृह्णाति । अत्र शत्रुः अत्र मित्रं । अत्र शिरो नमति सर्वस्य । तत्र शास्ति प्रमादो । अत्र भवति सौख्यं सर्व निज-भाग्याभाग्यबलं । तत्रैव ज्ञायते सर्वेषां । अत्र पातसाहः सर्वोपरि तस्यो-परि परमेश्वरः परम् ।

दवालादि—खोरमगहं तं सर्वे वदन्ति भव्यं । मन्ये अद्य पर्यन्तं विश्वकर्मणा अस्मिन्नेव कार्ये स्थितं । यस्य मस्ते सूर्यरथवहलपर्य्यटन सप्तघोटकाष्टाविंशति टापाः नादंजि । प्रमदवनादीनां परमार्थं पृच्छान्यं त्रपितः । अभ्यंतरीया वार्त्ता को जानन्ते ।

एमेत्यादि—एवं प्रेक्षितं दूरात् आलोलमिति जिज्ञास्यं । क्षणं मुहूर्तं विश्रम्य शिष्टप्रभृतीनां परिचर्या मानितः । गुणेनानुरंजितो लोकः सर्व महलस्य वर्ग ज्ञातम् ।

३७. सगुणमज्ञाना पृष्टाः तेन उल्लपितोंत आश्वासः । ततः सन्ध्यायां मध्ये पुर विप्रगृहे निवासः ।

[इति द्वितीयः पल्लवः]

तृतीयः पल्लवः

१. कर्णे सल्लीनः अमृतरसः तव कथनेन कांत । कथय विलक्षण पुनः कथय अग्रिमवृत्तः ।

२. रयनीत्यादि—रजनिर्विरमिता, अभवत्प्रत्यूषं । हसितं अरविन्दकान-नम् । निद्रया नयनं परिहृतं । उत्थितो राजा प्रक्षाल्यदाननं गत्वा दूतमावाह्याकथयत् सकलकार्यं । यद्यपि प्रभुः प्रसन्नो भवति तथापि शिष्टायत्तं वाक्यम् ।

३. तब्बहृत्यादि—कृतः प्रस्तावः । पातिसाहो गोचरितः शुभमुहूर्त्ते सुखं

राजा मिलितः । हयांबरं गृहीत्वा हृदयदुःखवैराग्यो माष्ट्रितौ । खोदालंबेति जिज्ञास्यं सुप्रसन्न भूत्वा पृष्टः कुशलमयी वार्त्ता । पुनः पुनः प्रणामं कृत्वा कीर्त्तिसिंहः । वृत्तं ।

४. अज्जेत्यादि—अद्योत्सवः, अद्य कल्याणं । अद्य सुदिनं, अद्यसुमुहूर्त्तः । अद्य माता मां पुत्रमजीजनत् । अद्य पूर्णः पुरुषार्थः पातिसाहोपानत्-प्राप्ता । अकुशलं द्वयोः एक एव अपरस्तवप्रतापः । पुनः लोकांतर-गतो गणेशराजा मम बप्रः ।

५. फरमाणेत्यादि—फरमाणमभवत् । कस्मात् तीरभुक्तिः गृहीत्वा येन साधयित्वा भयेन कथां कथयति नान्यः । अत्र त्वं तत्र असलानः ।

६. पढमेत्यादि—प्रथमं प्रेरितं तव फरमाणं गणेशराजा तेन मारितः । तथापि न गृहीतः विहारः । याचयित्वा चलं चामरः पतति, धृतं छत्रं । तीरभुक्तिरुप्रोहिता । तथापि तस्मिन् रोषो नहि राज्यं करोतु असलानः । अतः परं क्रियते अभिमानाय जलांजलिदानं ।

७. वे भूपालेत्यादि—द्विभूपाला मेदिनी द्विनायका नारी सहितुं न पारयति द्वयोर्भवं अवश्यं कारयति फंदनम् ।

८. भुवने जाग्रति तव प्रतापः त्वया खड्गेन रिपुर्मारितः । त्वां सेवितुं सर्वे राजान आयांति । तव दानेन मही भविता । तव कीर्त्ति सर्वे लोका गायंति । त्वं न भवसि असहिष्णुः यदि श्रुत्वा रिपुनाम इतरो वराकः किं करोतु । वीरत्वं निज स्थाने ।

९. एमेत्यादि—एवं कोपितः सुरत्राणः रोमांचितं भुजयुगलं भ्रूयुगले भग्नो ग्रंथिः पतितः । अधरबिम्बं प्रस्फुरितं नयनं कोकनदकांति दधौ । क्षाण तम वारिकेषु सर्वेषु तत्क्षणेऽभवत् फरमाणं । स्वसंपत्त्या संपलज्जय तीरभुक्तिप्रयाणः ।

१०. तपतेत्यादि—तपतो भवत इसला····शब्द उच्छ्वलितद्वारे । घनं परिजनसंसारे धरणी धसमसायिता पदभारेण । तप्तं भुवनं भूतं सर्वं मनसि सर्वत्र शंका बृहद्द्रे बृहत् कोलाहलं उद्वेग उत्पन्नो लंकायां ।

देवानेत्यादि जिज्ञास्यम् । मन्ये अद्यैव सर्वे शीघ्रं गत्वा दास्यामो अस-
लानम् ।

११. तेजे इत्यादि—तदा सोदरौ सानन्दौ, कीर्त्तिसिंहो वर नृपतिं गृहीत्वा
वीथीं बहिरागतः । अत्रान्तरे विवर्त्तवार्त्ता काचित् सुरत्राणेन प्राप्ता
पूर्वस्यां सेना सज्जिता । पश्चिमे भवतु प्रयाणः । अन्यं कुर्वन् अन्यम-
भवत् विधिचरित्रं को जानाति ।

१२. तं खणइत्यादि—तत्क्षणे चिंतयन् राजा सः सर्वमभवत् मम लज्जा
विना किं परिश्रमेण सिद्धिर्भवति । कालैर्याति कालं ।

१३. तस्मिन् प्रस्तावे चितामवावनत राजमुखारविंदं प्रेक्ष्य महायुवराजः
श्रीमद्वीरदेवो मंत्री अभणत् । ईदृश उपतापो गण्यते न गण्यते ।

१४. दुःखे इत्यादि—दुःखेण सिध्यति राजगृहकार्यम् । तत्र उद्वेगो न
क्रियते । सुहृदं दृष्ट्वा संशयं परिह्लियते । फलं दैवायत्तं पुरुषकर्म
साहसः क्रियते । यदि साहसेनापि न सिद्धिर्भवति चिंतया क्रियतां
किं । भवतु मा भवतु एकः परं वीरसिंह उत्साहः ।

१५. अहवेत्यादि—अथवा स विलक्षणः त्वं गुणवान् । स सधर्मः त्वं शुद्धः,
स सदयः, त्वं राज्यखण्डितः, स जिगीषुः, त्वं शूरः, स राजा,
त्वं राजपण्डितः, पृथ्वीपतिः सुरत्राणः, त्वं राजकुमारः । एक चेतसा
यदि सेव्यते, ध्रुवं भविष्यति प्रकारः ।

१६. एत्थंतरेत्ति—अत्रान्तरे पुनः शब्दः पतितः । सैन्यसंख्यां को जानातु
नलिनीपत्रे यदि मही चलति तदा सुरत्राणः तकतानः ।

१७. चलियइत्यादि—चलितस्तकतानात् सुरत्राणो तामवाहिमः कूर्मो
भवति शृणु धरणि धारणबलं नास्ति मे । गिरिश्चलति मही पतति
नागो मनसा कंपितः । तरणिरथगमनपंथाधूलिभरेण झंपितः ।
तरलाः शतं वाद्यंते कति भेर्यो भरेण फुक्किताः । घनघनशब्दं
श्रुत्वा इतरो रवो गुप्तः । तुरुष्का लक्षं हर्षेण हसंति अथवा धावंति
फालेन । मानधनाः मारणं कुर्वन्ति बहिष्कृत्य करवालं ।

१८. मदो गलति पादः पतति गजश्चलति यत्क्षणे । शत्रुगृहे उत्पन्ना भीति-निद्रा नास्ति चिंतया । खड्गं गृहीत्वा गर्वं कृत्वा तुरुष्को यदा युध्यति । अपि सकलोपि सुरनगरः शंकया मुग्धः ।

संशोष्य जलं कृतं स्थानं पत्तिपदभारैः ज्ञात्वा ध्रुवं शंकाभवत् । त्यक्तः संसारः । केपि अरयो बन्धयित्वा चरणतले स्थापिताः । केपि पुनः नतं कृत्वा आत्मनि स्थापिताः ।

१९. चौसा अन्तरेत्यादि—चतुःसागरांतर्द्वीपदिगंतः पातिसाह दिग्विजयो भ्रमति । दुर्गमं गाहमानः करं प्रार्थयन् वैरिसार्थसंहरण यमः ।

२०. बंदीत्यादि—बन्दी कृता विदेशगुर्गगिरिपट्टनज्वालितः । सागरः सीमा कृतः पारं गत्वा शत्रवो मारिताः । सर्वस्वेन दण्डितः शत्रुः घोटो गृहीतः अग्रेसरः कृतः । स्थाने एकस्मिन् स्थित्वा स्थानदशकं मारितं धाट्या । इमराहिमसाहि प्रयाणोसौ पृथिव्यां नरेशः कः सहति । गिरिसागर पारे जीवनं नहि, प्रजा यदि भूयते तदा जीवनं तिष्ठति ।

२१. रैअतीत्यादि—प्रजा भूत्वा यत्र गम्यते तृणमेकमपि स्प्रष्टुं न पार्यते । बृहती शास्तिः स्तोकापि कार्ये, कटके लंपकानां कोलाहलो भवति ।

२२. चोरो घूर्णते नासा करेण । शपथो न मान्यते द्वितीयमस्तकेन । क्षेरेण क्रीत्वा पानीयमानीयते । पातुं पटेन मनीक्रियते ।

२३. पर्णशते सुवर्णमुद्रा, चंदनमूल्येन इन्धनं विक्रीणीते । बहूनि कपर्दकानि सक्तुरल्पः घृतवेतने दीयते घोटकः ।

२४. कुरुबकतैलमंगे लाप्यते । दासी वृषभः समर्घ प्राप्यते ।

२५. दूरेत्यदि—दूरंगतः द्वीपदिगंतं रणे साहसो बहुकृतः । बहुषु स्थानेषु-मूलं फलं भक्षितम् । तुरुष्केण सह संचरितः । परमदुःखेनाचारो रक्षितः । संपत्तिर्निवर्तिता क्षीणतनुरंबरमभवत् पुराणं । यवनः स्वभावेन निष्करुणः । ततो न स्मरति सुरत्राणः ।

२६. वित्तेहृत्यादि—वित्तेन हीनः नास्ति वाणिज्या । न विदेशे ऋणं लभ्यते । न पुनः मानधनो भिक्षां भावयति । राजगृहे उत्पत्तिः दीन-

वचनं न वदने आयाति। सेवितः स्वामी न स्मरति। दैवं न पूर-यत्याशाम्। अहह महान् किं करोतु। चतुःसंख्या विशेषेण गण्यते उपवासः।

२७. पिअ इत्यादि—प्रियो न पृच्छते, भृत्यो न वा मित्रं न भोजनं संपद्यते। भृत्यो विभज्य गच्छति बुभुक्षादग्धः घोटको घासं न लभते। दिवसे दिवसेति दुःखं ल..........तथापि न पलायितः। अखतनीति जिज्ञास्यम्। श्रीकेशवकायस्थः अपरः सोमेश्वरः आसनं गृहीत्वा सहित्वा स्थितो दुरवस्थाम्।

२८. वाणिअ इत्यादि—वाणिग्भवति विलक्षणः धर्म्मः प्रसारितो हट्टः। भृत्यमित्रकांचनं विपत्कालकषणपात्रम्।

२९. तँसन इत्यादि—तस्मिन् परमकष्टकाष्ठायाः प्रस्तावे द्वयोः सोदरयोः समाजः। अनुचिते लज्जा, आचारस्य रक्षा, गुणस्य परीक्षा, हरिश्चं-द्रस्य कथा, नलस्य व्यवस्था, रामदेवस्य रीतिः, गुणस्य प्रीतिः, मित्रस्य प्रतिग्रहः, साहसे उत्साहः। अकृत्ये बाधः। बलिकर्णदधीचीनां स्पर्द्धां साधयति।

३०. तं खणे इत्यादि—तत्क्षणे विंतितमेकं परं कीर्त्तिसिंहवरराजेन। अस्माकमेतद् दुःखं श्रुत्वा कथं जीव्यते मात्रा।

३१. तसु इत्यादि—तस्यास्ते मंत्री आनन्दखानः यः सन्धिभेदविग्रहान् जानाति। सुपवित्रं मित्रं श्री हंसराजः सर्वस्वमुपेक्षते अस्मत्कार्य्ये।

३२. श्री अस्मत्सहोदरो राजसिंहः, संग्राम पराक्रमे रुद्रसिंहः। गुणेन गुरुर्मन्त्री गोविंददत्तः, तस्य वंश बृहत्वं कथयामि कति।

३३. हरस्य भक्तो हरदत्त नामा, संग्रामकार्य्ये यथा परशुरामः। पश्यामि हरिहरधर्माधिकारिणं, यस्य प्रणतिना भवति पुरुषार्थाश्चत्वारः।

३४. नयमार्गे चतुर उपाध्यायो भवेशः। यस्य चिते न लगति कलुषलेशः। अपरः न्यायसिंह राजपुत्रः स्वशः संग्रामकार्य्ये अर्जुनसमानः।

३५. तसु इत्यादि—तेषां प्रबोधेन मात.......ध्रुवं न करिष्यति शोकम्।

विपत्तिर्नागच्छति तस्य भवनं यस्यानुरक्तो लोकः ।

२६. चापीत्यादि—आक्रम्य कथयामि सुरत्राणाय ऋजुणा करोम्युपायम् । विना वचनेन यत् मनसि पतति । अतः परं किं तद्वचनम् ।

२७. जेञे इत्यादि—येन साहसेन क्रियते रणझंपः । येन अग्नौ तरसा पतनं क्रियते । येन सिंहकेसरो गृह्यते । येन सर्प्पफणा ध्रियते । येन रुष्टो यमः सक्षते । तेन द्वाभ्यां सहोदराभ्यां गोर्चरितः सुरत्राणः । तावदेव जीवने स्नेहस्तिष्ठति यावन्न लगति मानः ।

२७. अहसना इत्यादि—एतादृश प्रस्तावे परमकष्टं स्वसज्जनिरपेक्ष अकटु अकठोर महाराजाधिराज श्रीमत्कीर्त्तिसिंहगोचरेण सुरत्राणस्य मनः करुणायास्पर्शि । प्रसन्नो भूत्वा पातिसाहो दृष्टः । राज्यं त्यक्तं त्यक्ताः परिवाराः पितृबधेन सामर्षः परमदुःखेन परदेशे आगतः मां सर्वे भणंति । अद्य यावत् किमपि न प्राप्तं । तेन दुःखेन निरपेक्षो भणति किं करोति राजकुमारः । स तव आननं अन्यं न संपद्यते । सर्वो दोषो अस्माकीनः । सर्वे नहि पण्डिताः । वपरखेत्यादि जिज्ञास्यं । लज्जां न मानयतु सज्जनाः । धर्मतिथिं कथयित्वा यांतु ।

२८. ततः परावृत्तः पुनरपि सुरत्राणः । पुनः प्रसन्नो अभवद्विधिः, पुनरपि दुःखदारिद्र्यखण्डितः । कटकेन तीरभुक्तिः, राजवदनमुत्साहेन मंडितं । फलितः साहसकल्पतरुः सानुग्रहफरमाणाः पृथिव्यां तस्य अशक्यं किं, यस्य प्रसन्नः सुरत्राणः ।

[इति तृतीयः पल्लवः]

चतुर्थः पल्लवः

१. कह कह इत्यादि—कथय कथय कांत सत्यं वद, केन परिसेना संचरिता । केन तीरभुक्तिरभवत् पवित्रा । पुनः असलानेन किं कृतम् ।

कित्तीत्यादि—कीर्त्तिसिंहगुणमहं कथयामि । प्रेयसि अर्प्पय कर्णम् । विना जनेन विना धनेन बंधेन विना चालितः सुरत्राणः ।

गरूको इति—गुरूकौ द्वौ कुमारौ गुरुः मलिकमसलानः यस्य चालनेन यस्मिन् आत्मना चलितः सुरत्राणः ।

२. सुरत्राण इति—सुरत्राणस्य चलनेन समस्तसेनायां शब्दः पतितः । घोदे इत्यादि—जिज्ञास्यं, वाद्यो वदत सेना सज्जा, करितुरगपदाति-संघट्टनं जातं । बहिष्कृत्वा दहलेजो दत्तः ।

३. सजहेत्यादि—सज्जय सज्जय शब्दो वृत्तः ज्ञायते न इयदियत् । राज-मनोरथः सम्पन्नः कटके तीरभुक्तौ ।

४. पढमेत्यादि—प्रथमं सज्जिताः, हस्तिघटाः ततस्तुरंगः । पाइक्काः चक्रं जानातु कः । चलितं सैन्यचतुरंगम् ।

५. अनवरतेत्यादि—अनवरतो हस्ती मदमत्तो गच्छति । भंजनवृक्षं, क्रामन् पार्श्वं, कुर्वन् शब्दम्, मारयन् घोटं, संग्रामे स्थिरः, भूमिष्ठ-मेघः, अंधकारकूटः, दिग्विजये त्यक्तः, सशरीरः गर्वः, दर्शने भव्यः । चालयन् कर्णं पर्वतसमानः ।

६. गुरुर्गुरुः शुंडां मारयित्वा चूर्णयति मानुषमुंडम् । विध्याद्रिधात्रा पृथक् कृतः । कुंभोद्भवस्य नियममतिक्रम्य पर्वतो वर्द्धितः । भोक्तुं खणितुं मारयितुं जानाति । हस्तिपकस्यापि अंकुशं महत्त्वेन मानयति ।

७. पाइगाह पदभारो भवत् पल्लानितस्तुरंगः । थप्प थप्पस्तलपालकस्य श्रुत्वा रोमांचितमंगम् ।

८. अनेक इत्यादि—अनेको वाजी तेजस्वी ताजी सुसज्य सुसज्यानीतः । पराक्रमेण यस्य नाम द्वीपे द्वीपे ज्ञायते । विशालस्कंधः चारुबंधः कर्णशुक्तिशोभितः । उत्फाल्य लंघयित्वा हस्तिनं गच्छति । शत्रु-सैन्यक्षोभकः ।

९. समस्तशूरः उरसा पूर्णः चतुर्षु पदेषु विस्तरः । अनंतयुद्धमर्म बुध्यते स्वामिनं तारयति संगरे । स्वजातौ शुद्धः क्रोधेन क्रुद्धः उत्तोल्य

धावंति कंधरां। विमुक्तस्तेजसा मारयति टापेन संचूर्ण्य गच्छति वसुंधराम्।

१०. विपक्षस्य सैन्यं प्रेक्ष्य द्वेषयित्वा ह्रेषयित्वा तामसेन। निसाणशब्दं भेरिनादं क्षोणीं बध्नाति तामसेन। कशाभीतः वातं जयति चामरेण मंडितः। विचित्रचित्रः नृत्यति नित्यं अवरोहणे वल्गायां पंडितः।

११. एवं च। विचित्य विचित्य तेजसा ताजी अश्वसंग्राहेन सुसज्य सुसज्य लक्ष संख्यको आनीतो घोटकः। यस्य मूल्यं मेरुस्तोकम्।

१२. कटकं सज्जय सज्जय। वक्रेण वक्रेण वदनेन, काचलेन काचलेन नयनेन। सुवृत्तेन सुवृत्तेन बंधेन, तीक्ष्णेन तरलेन स्कंधेन। यस्य पृष्ठे आत्मनोहंकारः साधितः, पर्वतानप्युल्लंघ्य शत्रुर्मारितः। मन्ये शत्रोः कीर्तिकल्लोलिनी लंघयित्वा भवत्पारं तस्य जलसंपर्केण चतुर्षु पादेषु श्वेतः। सुरुलीत्यादि प्रभृतिनाना गतीः कुर्वन् शोभते कीदृशः मन्ये पादतले पवनो देवता वसति। पद्मस्याकारः मुखपारः। मन्ये स्वामिनो यशश्चंदनेन तिलकं वर्तते।

१३. तेजवंतेत्यादि—तेजवान् तवपालइति जिज्ञास्यम्। तरुण तामस भरेण वर्द्धितः। सिंधुपार संभूतः तरणि रथे वहन आनीतः। गमनेन पवनं पश्चात्कुरुते, वेगेन मनोपि जित्वा गच्छति। धावति धसमसायति वाद्यान् भूमौ गर्ज्जति पादः। संग्रामभूमितले संचरते, नृत्यति नर्त्तयति विविधं। अरिराज्याल्लक्ष्मीं बलात् गृह्णाति, आशां पूरयत्य-श्ववारस्य।

१४. तमिति—तं तुरंगममधिरूढः सुरत्राणः ध्वजश्चामरो विस्तारितः। स तुरंगमः क्षत खचित आनीतः। यशः पौरुषं वरं लभते। राजगृहे दिशि विदिशि ज्ञातः। द्वौ सोदरौ राजगिरी अलभतां। द्वौ तुरुष्कौ पार्श्वं प्रशंसितुं यांति। दूरे शत्रवो गृह्णन्ति भंगम्।

१५. तेजीत्यदि—मुक्त्वा, उतारी, तिजि तुरंगं चतुर्दिशमतिक्रम्य गच्छति। तरुणतुरुष्कोश्ववारो वंशसदृशी कशा स्फुटति। मोजया मोजया संजोड्य

शरेण तरकसो भृतश्चापः, शृंगिनीं ददाति निःसीमं गर्वं कृत्वा गुरुणा दर्पेण निःसृतात्मना अनवरता तस्यां गणनां कर्त्तुं पारयति कः । पदभारेण कोलो अभिमोटनं करोति, कूर्मः पार्श्वपरिवर्त्तनं ददाति ।

१६. कोटीत्यादि—कोटयो धनुर्द्धराः धावन्ति पादातयः लक्षसंख्यं चलिताः चलनप्रवृत्ताः । चलिताः चर्मधराः रंगेन चमकं भवति । खड्गाग्र-तरंगेन मत्तो मंगोलो वचनं न बुध्यते। खुदकारी कारणेन रणे युध्यते ।

१७. आमेन मांसेन कदापि करोति भोजनं, कादम्बरीरसेन लोहितं लोचनम् । योजनानि विंशति दिनार्द्धेन धावति, क्षुधायाः पुरोडाशेन वर्षं गमयति ।

१८. विल्वं संछिद्य कमानं योजयति । वेगेन चलति गिरिरुपरिघोटकेन । गोब्राह्मणवधेन दोषं न मानयति । परपुरनारीं बन्दं कृत्वा आनयति ।

१९. ह्रासयति रुष्टो भवति हासेन तरुणतुरुकशतसहस्रं । अपरः कति-बर्कटाः दृश्यंते गच्छन्तः मारयित्वा गां मिसमिलं कृत्वा भुञ्जन्तः ।

२०. धागडइत्यादि—धकड़ाः कटके धूर्त्ताः बहवः यं दिशं धाटया गच्छन्ति तद्दिशः राजगृहतरुणी हट्टे विक्रीणाति ।

२१. सावरेत्यादि—यष्टिरेका एका तेषां तस्य हस्ते चीवरकेन कुचीवरकेन वेष्टितं शिरः ।

२२. दूर दर्शनं अग्निना ज्वालयति । नारीं विभाद्य बालं मारयति । लूट्या अर्ज्जनं उदरेण व्ययः अन्यायेन वृद्धिः कन्दनेन क्षयः ।

२३. न दीनस्य दया न शक्तस्य भीतिः, न दिनान्तरसम्पत्तिः न विवाहि-तया गृहम् ।

न साधोः शंका न चोरस्य भीः । न पापस्य गर्हा न पुण्यस्य कार्यम् । न शत्रोः शंका न मित्रस्य लज्जा ।

२४. न स्थिरं वचनं न स्तोको ग्रासः । न यशसा लोभः न अपयशस्य त्रासः । न शुद्ध हृदयः न साधोः संगः । न पाने उपशमः न युद्धे भंगः ।

२५. ऐसो इत्यादि—एष कटके लम्पाको गच्छन् । दृश्यन्ते बहवः । भोजनं

भक्षणं मुंचति । न गमनेन भवति परिभूतः ।

२६. ता इति—ततः पश्चात् आवर्त्तः पतितः हिन्दूबलगमनेन राजा गणितुं न पार्यते । राजपुत्रो लेख्यते केन ।

२७. दिगन्तर इति—दिगन्तरराजानः सेवामायाताः ते कटके गच्छन्ति । निजनिजधनगर्वेण संगरभव्याः पृथिव्यां न मिलन्ति । राजपुत्राश्चलन्ति बहवः पदभरेण मेदिनी सकम्पा पताकाचिह्नं भिन्नं भिन्नं धूल्या रविरथझम्पः ।

२८. योजनं धावति, तुरगं नर्त्तयति, वदति दृढवचनं । लोहितपीतश्यामलः लम्भितश्चामरः । श्रवणे कुण्डलं दोलयति । आवर्त्तविवर्त्तेन पदपरिवर्तेन युगपरिवर्त्तनं भानम् । घनतरलशब्देन श्रूयते न कर्णेन, संज्ञया आकर्ण्यते ।

२९. अन्यः वेसरि खचरः पुनः गर्द्दभाः लक्षं वृषभाः बलीवर्द्दाः इडिक्काः महिषाः कोटिः । अश्ववारे चलति पाद संचारेण पृथ्वी भवति स्तोका । पश्चातयः पतति समुग्धो भवति । उपविशति स्थाने स्थाने तद्देशं न प्राप्नोति वसु मुंचति । मुग्धो भुवनं भ्रमति दासः ।

३०. तुरुक्काणं सैन्य वृन्देन वृन्देनाक्रम्य चतुर्दिग्भूमिः स्थानं धावयन् कलहं कुर्वन् तिष्ठति भ्रमणे ।

३१. असपथं इत्यादि जिज्ञास्यम् ।

३२. जं खणेत्यादि—यत् क्षणे चलितः सुरत्राणः लेखा परिशेषो जानातु कः तरणिना तेजः संवलितं । अष्टदिक्पालेषु कटुमभवत् । धरायां धूल्यांधकारः । त्यक्तं प्रेयस्या प्रिय प्रेक्षणं । इन्द्रचन्द्रयोः एवं केन प्रकारेण एष समयो यापयितव्यः कान्तारे दुर्ग वनानि संमर्द्य क्षोणीं संक्षुभ्य पदभारभरेण हरि शंकरतनू मिलित्वा स्थिते हृदये ब्रह्मा डगमगायति भीत्या ।

३३. महिसेत्यादि—महिष उत्थितः पौरुषं कृत्वा वेगेनाश्ववारेण मारितः । हरिणेन हारितो वेगः धर्तुं करेण पदातिना पारितं । संत्रस्य स्थितं

शशमूषकाभ्यां उत्थानं कृत्वा आकाशं पलायति। असौ पादेन संचूर्णितः। तं च श्येनो विद्राव्य भुंक्ते। इबराहिमसाहप्रयाणः सः यत्र यत्र सेना संचरति खणित्वा विद्राव्य मर्द्दयित्वा वेगेन म्रियते जीवेन जन्तुः न उद्धृतः।

३४. एवं चेति—दूर द्वीपान्तरस्य राज्ञां निद्रां हरणं वनं विकटं भ्रमण चांचल्यं कुर्वन् आखेटकं खेलन शरं क्षिपन् वन विहारादि वनोत्सवस्य परिपा··············समनुभवन।

३५. वर्त्म संतीर्य तीरभुक्तिः प्रविष्टः एकतमुपविश्य सुरत्राण उपविष्टः।

३६. कथा द्वयं श्रुत्वा तत्क्षणेऽभवत् फरमाणः। केन प्रकारेण निरस··· ············मर्षो असलानः।

३७. तो प इति—ततो प्रजल्पति कीर्त्ति भूपालः। का कुमंत्रणा प्रभुणा क्रियते। हीन वचनं किमिति मयि जल्पितं किमिति···········गण्यते। कः शत्रुसामर्थ्यः संक्रुद्ध्य सर्वे प्रेक्ष्यते। पृष्ठे उपविश्य अहं नापयामि रणबुद्धिम्। वर्मणा संचाल्य मारयित्वा ददाम्यसलानम्।

३८. अज्जेत्यादि—अद्य वैरमुद्धरामि शत्रुर्यदि संगरमायाति। यदि तस्य पक्षसमक्ष इंद्र आत्मनो बलं लापयति यदि तं रक्षन्ति शम्भु अम्बु हरि ब्रह्माणो मिलिता भूत्वा फणिपति लगति उद्धारे। आक्रामति यमराजः संक्रुद्ध्य असलानं यत् मारयामि तथाप्यहं रुधिर नद्यां ददामि पादम्। अवसान समये निज जीवनाय येन पृष्टि दर्शयित्वा गमिष्यन्ति।

३९. तबे इत्यादि—तदा फरमाणो वाचितः। सकलसामग्रीः सार। कीर्त्तिसिंह बहुना सेना कृतं पारम्।

४०. पैरोत्यादि—उपप्लुत्य तुरंगमः पारं भवति गण्डकस्य पा········। ये परबलभंजन गुरुकः गुरुक मलिक महिमद दमगानी, स्वयं असलानेन व्यूहं व्यूहं तदा सेना सज्जिता। भेरी काहलं ढक्का तरल रणभूमौ वाद्यते।

४१. राजपुरस्य क्षेत्रे पूर्वस्यां प्रहरद्वयवेला द्वौ सेने संघट्टे अभूताम्।

अभवद्द्वंद्वयुद्धम् । पादप्रहारेण पृथिव्यां कम्पः गिरिशेखरं स्फुटति । प्रलयवृष्टि यदि पतति, कांड पटवाल इति जिज्ञास्यम् ।

४२. वीरो विकारेण अग्रे भवति रोमांचितेनांगेन चतुर्दिक्षु चकमकाकस्मिक भीतिर्भवति खड्गाग्रतरंगेन तथापि·······धसित्वा प्रविशति परयूथम् । मत्तमतंगः पश्चाद्भवति चामिक यूथेन ।

४३. शृंगिणीगुणटांकार भरेण नभो मण्डलं पूरितं वर्म उत्तिष्ठते । सेना ···········चूर्णयति । तामसेन वर्द्धते वीरो दर्प्प विक्रम गुणानाक्रम्य लज्जावतो लज्जागता । लज्जयैवममार ।

४४. चौपदेत्यादि—चत्वराणां मेदिन्यां दर्शनं भ्र··············कोदण्डः प्रहारः परिवर्त्त्य पटवारो ददाति । थेम्ब दंडेति जिज्ञास्यम् ।

४५. हुंकारेत्यादि—हुंकारेण वीरा गर्ज्जन्ते पायिक्क चक्रं भज्यते । धावमानाः त्रुटंति । वर्म वालेन त्रुटंति ।

४६. राजपुत्राः रोषलग्नाः खड्गेन खड्गो भज्यते । आरुष्टाःशूरा आगच्छन्ति उन्मार्गं मार्गे धावंति ।

एकांगेन रंगे मिलंतः परकीयां लक्ष्मीं लुम्पन्तः । आत्मनो भावं तारयंतः शस्त्रविशेषेण शत्रूणां मारयन्तः ।

४७. पारावारे·······बुडुन्तः क्रुद्धास्ताले युद्धतः ।

४८. दुहु दिश इत्यादि—द्वयोर्द्दिशोः वर्म उत्तिष्ठति मध्ये संग्रामे मिलनं भवति । खड्गेन खड्गः संहतः स्फुलिंगमुत्थितश्चाग्ने । अश्ववारो असि बिभर्त्ति । तुरगो राज्ञा सह त्रुटति । वेणकवज्रनिघातेन कायः कवचेन साकं शत्रुस्स्फुटति । अरि कुंजरे शल्यो गच्छति । रुधिरधाराः गत्वा गगनं पूरयन्ति । राजाकीर्त्तिसिंहवशेन संग्रामं करोति ।

४९. धम्मेत्यादि—धर्मं प्रेक्ष्य पुनः सुरत्राणः अन्तरिक्षे उपागताः इंद्र चंद्र सुर सिद्ध चारणाः विद्याधरेण नभो चारितं । वीर युद्ध दर्शन कारणेन यत्र यत्र संघटते शत्रुघटा तत्र तत्र पतति तरवारिः । शोणित मेदिनी कीर्तिसिंहेन कृतं मारणम् ।

५०. पलेति—पतितं रुण्डं मुण्डं, स्खलितो बाहुदण्डः। शृगालेन कलंकितः कंकालखण्डः। धराधूल्यां लुटंति त्रुटंति कायानि—चलंतः प्रज्जाटयंति पादम्।
अवरुद्धा गृह्णन्ति बलिनो जालबद्धा वासा वेगे मज्जंतो उत्थिता गृद्धाः। गताः निष्कालयंतः पिबंतो महामांसखंडम् परेता बमंति।

५१. शृगालाः फेत्कारनादं कुर्वंति। बुभुक्षाकुला डाकिनी क्रंदति। बहूत्फाला वेतालाः शब्दं कुर्वंति वर्त्तते परिवर्त्तते पतंतः कबंधाः।
शरामारभिन्नाः करेण ददति संज्ञाम्। उच्छ्वास्य निःश्वास्य विमुंचंति प्राणम्। यत्र रक्तकल्लोलनानातरंगः तरसा विसंज्ञो निमग्नो मतंगः।

५२. रक्तेत्यादि—रक्तरंजितं मस्तकं उत्फाल्य फेरवी उत्स्फुटय खादति। हस्तेन नोत्तिष्ठते हस्तो त्यक्ता वेताला पश्चाद् गच्छंति। नरकबंधेन धडफडायितम। मर्म्म वेतालाः प्रेरयंति। रुधिरतरंगिणीतीरे भूतगणाः जलक्रीड़ां खेलंते। उच्छ्वलति डमरुकडेंकारवरम्। सर्वदिशि डाकिनो डंकरोति। नरस्कंधकबंधैः महीभृता कीर्तिसिंहनृपो रणं करोति।

५३. वेवि इत्यादि—द्वयोः सेनयोः संघट्टः खड्गखंडनं न मानयति संगरं। पतति शरीरम्। धमित्वा गत्वा विशति विमाने। अंतरिक्षे अप्सराः विमलं कृत्वा वीजंते अंचलम्। भ्रमरमनोहरं भ्रमंति प्रेमपिच्छिलनयनांचला। गंधर्वगीतिद्वंद्वे हृदयवरपरिमलपरिचयं जानातु कः। वरकीर्त्तिसिंह साहसेन सुरतरुकुसुमवृष्टिर्भवति।

५४. तब्वेत्यादि—तदा चितयति मलिक असलानः। सर्वाः सेनाः पतिताः। पातिसाहः क्रुद्ध आगतः। अनय महातरुः फलितः। इष्टदैवेन निज समयः प्राप्तः।
ततः चलजीवनः परावृत्य स्थिरनिर्मलं यशः गृह्णामि कीर्तिसिंहेन सह सिंह इव द्वंद्व युद्धमेकं करोमि।

५५. हसीत्यादि—हसित्वा दक्षिणकरे समर्थो भूत्वा रणवार्त्ता परावर्तिता। खड्गं गृहीत्वा तत्रैकेन एकस्मिन् प्रहारः प्रहारः पातितः। यत्र खड्गेन खड्गस्य धाराधृता।
हत चंगिम चंगिम चारु कलाः तरवारिः शोभते विद्युच्छटा पतित्वा शिरोवर्म त्रुटित्वा तनु शोणितधारया धारित्वा धृतम्।

५६. तनुरंगतुरंगतरंगवशेन तनुस्त्यक्ता लग्नो रोषरसे सर्वे जनाः प्रेक्षंते युद्धकथाम्। अहं मन्ये अर्ज्जुन कर्णो यथा।
नूनं आहवं माधवशंभू कुरुतः। बाणासुरयुद्धविवर्त्तभवे महाराजेन मल्लिको गृहीतः। असलानेन पृष्टिर्दत्ता।

५७. तं खणे इत्यादि—तत् क्षणेन प्रेक्षितं राजा सःपुनः आक्षेपं करोति। येन करेण मारितो वप्रो मम, स करः कुत्र गतः॥

५८. अरे रेत्यादि—किमिति गच्छति अपयशः संसाध्य शत्रोर्दृष्टे पृष्टं संदर्श्य भ्रातृवधू भ्रातुः समक्षं गच्छ।

५९. यदि गच्छसि विशेषेण जीवसि जीवगत्वा याहि याहि असलान त्रिभुवने जाग्रतु असलानः। तव दत्तं जीवदानम्।

६०. तैरण इत्यादि—तदा रणे भग्नो भवसि तेन त्वं कातरः। पुनः त्वां मारयसि स पुनः कातरः। गच्छ गच्छ अनुसर गत्वा सागरम्। एवं जल्पति हसित्वा हसित्वा नागरः।

६१. ततः परावृत्तो राजा शंखध्वनिरुदचरत्,
नृत्यगीतवाद्य·········तम्। चतुर्वेदझांकारः।
शुभमुहूर्त्ते अभिषेकः कृतः। बांधवजनेन
उत्साहः कृतः तीरमुक्त्या प्राप्तो रूपः। पातिसाहेन
य··················कृतम्। कीर्त्तिसिंहोभवद् भूपः।
[इति चतुर्थः पल्लवः]

॥ इति कीर्तिलता समाप्ता ॥

श्री रामाय नमः ॥
वंशी विभूषित क [राम्नवनीर] ··· दाभात्
पीतांबरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेंदुसुन्दरमुखादरविंदनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
श्री श्रीमद्गोपाल भट्टानुजेन श्री सूरभट्टेन स्तम्भतीर्थे
लिखायितमिदम् ॥

॥ सर्वेषां कल्याणं भवतु ॥

॥ श्रीः ॥

परिशिष्ट २

शब्दानुक्रमणी

[अ]

अ (सं०च < प्रा०अ) = और, २।१००
अंतर = बीच, २।२२४, ३।८१
अइस = ऐसा, २।५२, ३।५२
अइसनओ = ऐसी भी, २।१५०
अइसनो २।१३१
अइसेओ (सं० अतिश्रेयम्), २।२१३
अओका = इसका, २।१९३
अकुशल ३।१६
अकृत्य = अकरणीय, ३।१२४
अक्खर = अक्षर, शब्द, १।१६,
अखिल ४।४६
अखउरि = अघौरी, ३।११६
अखर २।१४, २।४५
अंग ३।१५९, ४।२७
अंगवइ = स्वीकार करता है, २।२२
अंग-चंगे = शरीर से तगड़े, ४।७०, ४।१६४
अगणेअ = अगणित, १।८५
अग्गि ३।१५०
अग्गिम = आगेका, ३।२
अग्नि ४।१८२
अच्छे ३।१२७
अछ (सं० आक्षि) = रहना, २।४२
अछए = है, ३।१२९
अजाति = नीच जाति, २।१३
अज्ज ३।१३, ३।१४, ३।१५, ३।२८,
अज्जणे = उपार्जन में, १।४८
अज्जन (सं० अर्जन) = कमाई, ४।९२
अज्जु ४।१४८
अज्जुण = अर्जुन, ३।१४४
अज्जुन = अर्जुन, ४।२३६
अञ्चल ४।२१६
अटलें = अट्टाल के समान विशाल, ४।४४
अटलें = अटल, स्थिर, ४।४४
अटारी २।९७
अट्ठ = आठ, ४।१२३
अट्ठाइसओ २।२४३
अणवरत = निरन्तर, ४।१५, ४।६६
अणे (सं० अनीति), २।१८१
अणे भणे = ऊटपटांग बकता है, २।१८१

[ऊ]

[ऋ]

[ए]

कइ = करके, ३।४१, ३।७५
कइ = को, ४।२७
कइ = कवि, १।१७, २।१७८, २।२३४, २।३३५, ४।५६, ४।१५१
कइकुल = कवि जन, २।१४
कइसे २।१५०
कउ = को, ३।१३७
कए = करके, २।२७, ३।१२, ४।१०, ४।६५, ४।८१, ४।८५
कए (सं० कृत > प्रा० कए), ४।२१६
ककस = कर्कश, प्रौढ, १।६०
कङ्काल ४।१९३
कज्ज (सं० कार्य) = अदालती फर्याद या दरबारी अर्दास, (परिभाषिक शब्द), २।२१५, २।२२७, ३।६, ३।४९, ३।५३, ३।१३८, ३।१४४, ४।१८६
कज्जल २।८९, २।१४४
कज्जलध्वज (सं० दीपक), १।८,
कओ = कहता हूँ, ४।३
कओण = कौन, ३।१८
कटक = सेना, ३।९२, ४।४२
कटकहिं = नियमितसेना, ४।१०२
कटकाई = सेना की यात्रा, ३।१५६
कटकाओ = सेना यात्रा, ४।१०६
कटकाओ = सेनायात्रा, ४।१२
कटाक्ष २।१५१
कट्ठ = कष्ट, ४।१२३
कट्ठे (सं० कष्ट), ३।१०५
कड्ढि = निकाल ली, ३।७२
कढन्ता (सं० क्रथ् का धात्वा० कढ्ढ) = पढना, उच्चारण करना, २।१७२
कण्ड = बाण, ४।१७२
कण्ण = कृष्ण, २।५१
कण्ण (सं० कर्ण), ३।१
कत = कितनी; ३।६९
कत = क्यों, ३।१४८
कत = कौन, ४।५८, ४।६६
कत = कैसा, ४।८४
कतन्हिक = कितनों के, ४।८८
कतहु २।१९४, २।१९५, २।१९६, २।१९७, २।१९८, २।१९९, २।२००
कतु ४।१९१
कतेहु = कितने ही, २।७४
कत्त (सं० कियत् = कितनी), ३।१३६
कथा २।९८, ३।१२२
कथिअ ४।१४५
कनअकलसहि = स्वर्ण कलश, २।८६
कनिक = अन्न, गेहूँ, ३।९९

[ग]

[झ]

[ञ]

[ट]

[थ]

[न]

नीति २।३३
नीमाज = नमाज, २।१९९
नीर २।७९
नीरस = रसरहित, शुष्क, १।२८
नीसत्ति = अशक्ति, निर्बलता, २।४६
नृपः ३।१६४, ४।२५९
नेम्रों (सं०नेतृ > प्रा०णेत्त) = नायक, ३।५२
नेत्तहि = नेत्र, २।८७
नेत्र २।१४८
नेवाला = ग्राम, २।१८२
नेह (सं० स्नेह), ३।१५३
न्याय सिंघ = एक व्यक्तिवाचक नाम, ३।१४३

[प]

पंचम = पाँचवा, १।७२
पंचमी २।५
पंचसर = कामदेव, १।८२
पंडिअ ३।६०
पअ (सं० पद) = स्थान, ४।२६
पअ (सं० पद), ३।७३, ३।७७, ४।६७, ४।१०८, ४।११२, ४।१२६
पअप्पइ (सं० प्रजल्पका धात्वा० पयंप = कहना), ४।१४३
पअभरे = पैरोंके दबाव से, २।२१७
पआन (सं० प्रयाण), ३।३६, ३।८७
पआनओ = प्रयाण, ४।१३२
पआरे (सं० प्रकार), ४।१४२
प्रआस (सं० प्रयास) = परिश्रम, २।१२८
पआसओ = प्रकाशित करूँगा, २।४६
पइ (सं० प्रति > प्रा० पइ) = केवल, पँ, २।१४
पइ = भी, ३।५७
पइ = अधिक, अतिशय, ३।१६ ३।१२५
पइ (सं० पति) = स्वामी, ४।५५
पइज्जल्ल (फा० पैजार) = जूते, २।१६८
पइट्ठ = प्रविष्ट, २।१५
पइट्ठे (सं० प्रविष्ट), २।३६, २।१५८
पइठ (सं० प्रविष्ट), ४।१३९
पइसथि = घुसते थे, ४।१६६
पउआ (सं० प्राकृत = जन, सामान्य मनुष्य), ३।१५९
पए (सं० पति) = स्वामी, २।२३७
पए (सं० पद), ३।३८
पएदा = प्यादा, नौजवान लड़का, २।१७९
पएरहु = पैर भी, २।२०९

पकलि = पकड़कर, ३।४२

पकलि = पकाकर, ४।१४७

पक्ख (सं० पक्ष)अपनी तरफका, अपने दलका, ३।१५९

पक्वानहट्टा = मिठाइयोंका बाजार, २।१०३

प्रक्रिया = रीति, क्रियाएं, १।८९

पखारिआ (सं० प्रक्षालित) २।७९

पक्ख = पक्ष, २।५

पक्ख पंच बे = संवत् २५२ वाँ राज्यवर्ष, २।४

पख्ख (सं० पक्ष) = तरफ, ४।१४९

पख्वर = धोया, ३।५

पख्वरंहि ४।४०

पक्खि (सं० पक्षी), ४।१३०

पङ्कजानां २।२५२

पच्छिम ३।४६

पच्चूस (सं० प्रत्यूष) = प्रातःकाल, ३।३

पछुआव = पीछे छोड़ना, ४।५३

पजटइ = घूमते हैं, २।९३

पझालन्त (सं० प्रक्षर > अप० पज्झरें = टपकना), ४।१९५

पञ्चशर २।१४५

पञर ४।१८५

पञेडा (सं० प्रचण्ड) = भयंकर, ३।८५

पटवाल = कवच, ४।१७३

पटवालन = रूई भरा हुआ चिलटा, ४।१६३

पट्ठाइअ = भेजा, फैलाया, १।७७

पट्टन = प्रधान नगर, २।७९, ३।८३ ४।१२१

पड्इ = घँसना, गिरना, ३।६७

पडिआ (सं० पतित), ४।११६

पडु (सं० पत्) = पड़ना, उत्पन्न होना, ३।६३

पढ़ = पढ़ना, १।६०

पढन्ता २।१७३

पढम = प्रथम, २।५, ३।२०

पण अत्तिअ (सं० प्रज्ञप्त) = प्रकट किया गया, ३।१४०

पणत्ति (सं० प्रज्ञप्ति) = व्यवस्था, ३।१४२

पण्डिया (सं० पण्डित) = साधु, संयत, ४।३९

पण्डीआ = पण्डित, २।२२९

पण्णमिअ = प्रणाम किया, २।५६

पतिग्गह (सं० प्रतिग्रह) = सहायता, ३।१२३

पतिपक्ख = शत्रु (मूलमें 'पतिवक्ख' की जगह 'पतिपक्ख' पढ़िए), १।६५

परसुराम = परशुराम, १।५५
३।१३८
परसेना ४।१४५
परलोक २।१०९
परा २।१३३
पराअण = परायण, १।४२
परारि = पराई, २।१९१
परि = पड़ गया, ४।१२५
परिअण (सं० परिजन) = नोकर,
२।२४८
परिगणना = गिनती, ४।६६
परिग्रह = परिणय स्वीकार, १।९७
परिचए ४।२१८
परिचय (सं० परित्यक्त) = परि-
त्यक्त, २।१३३
परिजन = सेवक, २।५५, ३।३८
परिठव = प्रतिष्ठा, २।९५
परिठम = प्रतिष्ठा, ४।१२१
परित्याग = युद्धसे भागना, भगोड़ापन,
४।२४४
परिपाल = रक्षा, पालन, १।९१
परिपाटि = परिपाटी, ४।१३८
परिवण्णा (सं० प्रतिपन्न) = अंगीकृत,
२।४३
परिवत्तन = परिवर्तन, ४।११२
परिवत्ते (सं० परिवर्त), ४।११२
परिवार २।५४
परिवारा २।२२२
परिभविअ = पराभूत किया, २।१२
परिभूत = थकना ४।१०३,
परिमल = सौरभ या सुगन्धि, ४।२१८
परिसेष = पूरा, ४।१२२
परिसेना ४।१
परिस्सम (सं० परिश्रम), ३।४९
परिहरिअ = छोड़ा, छोड़कर, १।६६
२।२५, २।५५, ३।५
परिहासपेसलो = परिहासचतुर,
२।१४०
परीक्षा १।९९, ३।१२१
परु (सं० पत् > पड़, पर) = मन
गया, २।८
परेतो (सं० प्रेत), ४।१९९
पर्वत ४।४५
पर्यटन्त = घूमते हुए, चलते हुए,
२।२४३
पर्यन्त २।२४३
पल (सं० प्रकटय्‌का धात्वा० अप०
पल) = प्रकट होना, ४।१९
पलअ (सं० प्रलय), ३।७०
पलइ (सं० प्रकटय्‌का धात्वा० पल
= प्रकट करना) ३।१४८
पलइ (सं० पत् > पल =
गिरना), ३।७३, ४।१६३,

पुछ = पूँछ, १।४९
पुण्ण २।३, २।१९
पुत्त २।५८, ३।१४
पुत्ता (सं० पुत्र), २।२३०
पुत्ते २।२२८
पुत्र = बेटा, १।८४
पुनि = और, १।५५
पुनु २।२०, २।९५, ३।२, ३।१२, ३।१५, ३।४९, ३।६३, ३।१५५ ४।२५०
पुन्न = पुण्य, १।५०
पुन्नाम (सं० प्रणाम), ३।१२
पुन्यक = पुण्य का, ४।९६
पुब्व = पहले, १।६५
पुब्व = पूर्व देश, ४।१६०
पुब्वे (सं० पूर्व), ३।४६
पुर २।४१, ४।८१
पुरन्दर = इन्द्र, १।७०
पुरवए = पूरी करता है, ३।१११
पुरविन्यास = नगर-रचना, २।९८
पुरसत्थ = पुरुषार्थ, ३।१४०
पुरिल = भर गई, २।२०८
पुरान ३।१०६
पुरिस = पुरुष, १।३८, १।३९, १।५०, १।५२, १।५३, १।५४, १।५५, १।५६, २।३४. २।५०, २।५५, ३।५७
पुरिसत्तणेन = पुरुषत्व से, १।४६
पुरिसत्थ (सं० पुरुषार्थ), ३।१५
पुरिसाआरो = पुरुषाकार, १।४९
पुरिस = पुरुष, १।४६, १।४८
पुरुसो १।४५, २।७६
पुष्णाति ४।२५९
पुष्पवाटिका २।२४४
पुहवि (सं० पृथिवी), ४।१६२, ३।८७
पुहवी = पृथिवी, ३।१५८, ४।१०७, ४।११५
पुहवीपति = पृथिवीपति, ३।६१
पूर = घोड़ेकी भौंरी, ४।३२
पूर ४।५६
पूरइ ४।१६८
पूरनहि = पूरा करनेके लिए, ४.१५
पूराआ २।२१६
पूरेओ = पूरा किया गया, १।९४
पूजा २।१९९
पूहविए = पृथिवी के, २।२२०
पृथ्वी २।१०६
पेआसि (सं० प्रेयसी), ४।३, ४।१२४
पेआज = फीरोजा नामक रत्न, २।१६५
पेक्खिअ २।७७, २।१२४
पेक्खिअउ = देखा, २।७९

[फ]

[ब तथा व]

भंजिअ = नष्ट किया, १।७९
भइ ४।२२५
भइट्ठे = नष्ट होना, बीतना, २।२२१
भइणि (सं० मेदिनी), ४।१०८
भइल ४।१५६
भइसुर = जेठ, पतिका बड़ा भाई, ४।२४६
भउँ = हो, गया २।१४, ३।४७, ४।२६, ४।२५७
भए २।१८६, ३।३९, ४।८२, ४।११५
भएगेल = हो गए, २।१०
भक्तिसम्पादितानाम् २।२५३
भक्खण ४।१०३
भक्खिअ ३।१०४
भगत ३।१३७
भगीरथ = एक राजा, १५४
भग्गासि ४।२४९
भग्गीआ = टूट गईं, ४।१७६
भङ्ग = नाश, ४।६१
भज्जन्ता ४।१७४
भट = सैनिक, ४।१६१, ४।२२४
भट भेला = प्राणान्तक मुड़ भेड़, ४।२२४
भट्टा = भाट, २।२२६
भण २।४८, ३।६६
भणइ २।३३
भणउ = कहा जाऊँ, कहलाऊँगा, १।१७
भणन्ता २।१७०, २।२२६, ४।१
भणि = कह कर, १।७३
भणिअ = कहा गया, १।६७, ३।५१
भवेस ३।१४१
भव्व = ससार, २।२३५
भव्वे (सं० भव्य) = आगामी, ४।१०७
भमर्का = क्रोध, २।२११
भम = घूमता है, २।१७९, ३।८१
भमइ ४।२१७
भमन्तओ २।२१४
भमन्तो ४।१९८
भमर (सं० भ्रमर), ४।२१७
भमि = घूमकर, २।१४, २।१७६
भमे २।१६९
भय २।२३५
भर = भार, २।१४७, ३।२६, ४।१८५
भरइ ४।२१३
भरन्ता २।१७२
भरन्ते २।१०५
भरि ४।६४
भरिअ ४।१८९

[म]

मनोरथ १।९४, ४।१२
मनोहर ४।२१७
मन्ति २।२४, २।४२, ३।१२७, ३।१२९, ३।१३५
मन्तिन्ह ३।८
मन्दिर २।१३५
मव्व (सं० भव्य), ४।२०
मम = मेरा, १।२२, २।४८, २।२४९
ममत्तयइ = ममत्वसे, २।३३
मम्म = मर्म, १।३४, २।३८, ४।३३, ४।११०
मयङ्गो (सं० मतंग), ४।२०७
मयमत्त ४।१५
मर्यादा १।८६, २।१०५
मलिक ४।५, ४।२२०
मलिके = मलिक को, ४।२३९
मसीद = मस्जिद, २।२०७
मसीदा = मस्जिद, २।१७२
मस्तक १।१०३
मइतें (सं० मथ >प्रा० मह) = मारना, ४।२५
महत्तर = नायक, प्रधान, ३।११२
महमंद = मुहम्मद, ४।१५७
महराअन्हि = महाराज ने, ४।२३९
महल २।२४९
महलमजेद = शाहीमहल, बड़ा महल, २।२२२
महाउतक = महावत की, ४।२५
महाजनन्हि = महाजनों के, २।२८
महातरु ४।२२२
महामारह = महाभारत, ४।२३६
महामासु = नरमांस, ४।१९९
महायुवराज ३।५१
महाराजाधिराज १।८९, २।३०
महार्णव २।१०५
महि = पृथिवी, ३।२९, ३।६४, ३।६७, ४।२१३
महिमंडल = भूमंडल, १।८१, २।२३२
महिमंडलहिं = भूमडलमे, १।७५
महिस (सं० महिष) = भैंसा, ४।१२८
महिसा ४।११४
महीं २।२५५
मही = धरती, २।२०८
महु = मुझपर, ३।४८, ४।२२१, ४।२२२
महु = मेरे, ४।२४२
महुअर = भौंरा, १।३१, २।८२
महुत्त = मुहूर्त, २।२४८, ३।९, ४।२५५
महुमासहि = चैतमास, २।५
माँझ ४।१८१
माँडि = मंडित करके, सजाकर, २।११६

रोसे ४।१७६

[ल]

लंगिम (दे०) = यौवन, ४।२२९

लइ = तक, १।२८, ३।७५, ४।२२६

लए = लेकर, प्राप्त करके, ३।४४

लष = लाख, ३।७१

लच्छ ४।४१, ४।६९, ४।११४

लक्ख २।१५९

लक्खण = लक्षण, १।४५, २।५१, २।१५७

लक्खणसेन नरेस = लक्ष्मणसेन राजा, २।४

लक्खिअइ = दिखाई देते हैं, १।४५

लग्गइ = लगता है, १।२४, २।५३, ३।१५३, ४।२३४

लग्गीआ ४।१७६

लग्गै ३।१४२

लग्गा ३।४०

लच्छि = लक्ष्मी, २।७५

लच्छिअ = लक्ष्मीको, ४।५६

लच्छी २।७८, ४।१७८

लज्ज = लज्जा, २।१३२, ३।४८

लजा ३।१२१

लजाइअ = लज्जित हुआ, २।१७

लजावलम्बित २।१४१

लटंक = अनियमित सेना, ४।८६, ४।१०२

लटक पटक = छोटा लड़ाई-झगड़ा, ३।९२

लडक्खडिआ = लड़खड़ा जाते थे, ४।११६

लब्ध ४।२५८

लरु (सं० लल्) = मौज करना, ४।७

ललन्ता (सं० लल्) = विलास करना, ४।१९५

लसूला = लहसुनिया, एक रत्न, २।१६५

लहइ २।१३४, ३।११५

लहिअ ३।१०, ४।५९

लहिअउ = प्राप्त कर रहे थे, ४।६०, ४।१११

लाँघि ४।३१, ४।४६

लाइअ = लगाना, ३।१०१

लाग २।१०८

लागत २।१५०

लागि २।१४०

लागु = (होने) के लिए, २।३०, २।६८, ४।१५१

लाज ४।९७

लानुमी = लावण्यमयी, २।१३९

लावइ ४।१४९

लावउँ = पहुचाऊँ, ले जाऊँ, १।२८

लावओ (सं० लावय् > प्रा० लाय) = काटना, छेदना, ४।१४६

सरण = शरण, शरणागत, १।६६, २।३६

सरणगत २।४४

सरबस (सं० सर्वस्व), ३।८५

सरम ४।१७१

सरमाणा (फा० शरवान) = शाही शामियाना, ४।१२०

सरमी = शरमदार, ४।१७१

सरमेरा (सं० मुच् का धात्वा० प्रा० मेल्ल = छोड़ना) = शिर कटानेवाले, ४।१७१

सराफे २।१६४

सराब = शराब, २।१७८

सराबा = शराब, २।१७०

सरासार (सं० शरासार) = बाण वृष्टि, ४।२०४

सराहे = श्लाघनीय, २।१६४

सरीर = शरीर, १।४४, ४।२१५, ४।२३१

सरूअ = सरूप, सुन्दर, १।४४

सलामे २।२२३

सलामो २।१६७

सल्लि (सं० शल्य) = बाण, ४।१८५

ससंक २।१२०

सस = खरगोश, ४।१३०

ससरीर ४।२०

सह = एक साथ, ३।८७, ४।८३

सहज = स्वाभाविक, १।४३

सहस = सहस, २।८६

सहहि = सहतो है, ३।२६

सहि (सं० आज्ञा > प्रा० धात्वा० सह) = हुकुम देना, ३।११७, ४।८३

सहिजिअ = सह लिया, ३।१५१

सहित मइ = मिलकर, ४।१५०

सहोअर २।५०, ३।१३३, ४।६०

सहोअरहि ३।१५२

साँठे (सं० संस्था) = सामान ३।३६

साँध = साँधता-सड़ाता है, चुआता है, २।२०६

साअर (सं० सागर), २।२२४, ३।८४, ३।८८, ४।२५१

साकम (सं० संक्रम) = पुल, २।८३

साज = सज्जित, २।१०६,

साजि ४।२८, ४।४०,

साजु ४।९

साणन्द = आनन्दित, १।४३

साणो (सं० संज्ञा) = इशारा, ४।११३

सात २।२४३

साति (सं० सात) = सुख, २।२३५

साति (सं० शक्ति), ३।९१

साध (सं० श्रद्धा) = इच्छा, ३।१२४

हर ३।१३७

हरख (सं० हर्ष), ३।७१

हरन्ते ४।१३४

हरि २।६०, २।६०,४।१२७,४।१०५

हरिज्जइ ३।५४

हरिण ४।१२९

हरियो = दूर किया, १।१०१

हरिश्चन्द्र ३।१२२

हरिहर ३।१३९

हरेओ = हर ले गया, ४।२४२

हल (दे० हल्ल = चलना),२।२१२,
 ४।१२९

हस = हँसता हुआ, ३।७१,४।८२

हसइ २।९३

हसम (अर० हश्म) = पद सेना,
 पैदल फ़ौज, ४।७, ४।१५४

हसि ४।२२५, ४।२५२

हाट २।९६, २।१००, २।११३,
 २।१२६, २।१७६

हाथ (दे० हथ्थ) = जल्दी, २।१९०
 ४।८८

हाथि = हाथी, २।१११, ४।१५,
 ४।३१, ४।२०९

हाथे (दे० हथ्थ) = जल्दीमें, ४।२०९

हथ्थिवल = हस्तिसेना, ४।१३

हारल = हार गया, २।६

हारि = थकना, ४।१२९

हाहारव = हाहाकार, २।८

हिंसि-हिंसि ४।३६

हिअत्रि = हृदय में, १।४२

हिअ = हृदय का, ३।१०

हिण्डए = घूमने के लिए, २।११३

हिन्दु २।२१०

हिन्दुहि २।२१२

हिन्दू २।१६१, २।१९२, ४।१०४,
 ४।११९

हीअ = हृदय, ४।१२७

हीणउ ३।१०८

हीन ४।१४४

हीनि २।१४६

हुअ = हुआ, २।८, २१६, ३।११,
 ३।७८, ३।१५१

हुअउँ ३।३, ३।३७, ३।४६, ३।४८

हुअउ = हुआ, १।५२, १।५३,
 १।५४, १।७१, ३।१५५

हुआसन = अग्नि, १।७१

हुकारे ४।१६४

हुकुम २।१९१

हुक्कारे ४।१७४

हुणजि (सं० हु <प्रा० हुण) =
 होम करना, ४।१५२

हूतह (दे० हुत्त = अभिमुख,सम्मुख),

परिशिष्ट—३

[पुस्तक मुद्रित हो जाने के बाद मुझे ज्ञात हुआ कि कीर्तिलता की दो प्रतियाँ बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी में हैं। मैंने उनके पाठान्तर श्री परमेश्वरी लाल गुप्त द्वारा प्राप्त किए हैं जो यहाँ दे रहा हूँ। इसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ। —*वासुदेवशरण*]

बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी में विद्यापति कृत कीर्तिलता की दो प्रतियाँ हैं। दोनों ही प्रतियाँ एक ही प्रकार के कागज पर और एक ही लिपि में लिखी हुई हैं। दोनों ही सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् भाऊ दा जी के संग्रह से आई हैं। लिपि, कागज आदि के देखने से ऐसा अनुमान होता है कि जिन दिनों भाऊ दा जी ने स्व० श्री भगवानलाल इन्द्रजी को पुरातात्त्विक अनुसंधान के लिए नेपाल और निकटस्थ प्रदेशों में भेजा था, तभी उन्होंने इन्हें किन्हीं प्रति या प्रतियों को देख कर तैयार किया होगा।

इन दो प्रतियों में से पहली प्रति खण्डित है। उसमें केवल प्रथम दो पल्लव और तीसरे पल्लव की पंक्ति १-१८ और ३७-४५ हैं। इस प्रति में दो स्थलों पर पुनरुक्ति है। प्रथम पल्लव की पंक्ति ४६-६२ तक एक जगह और पंक्ति ६३-८४ तक दूसरी जगह दुहराई गई हैं। इन दुहराए गए पाठों की पंक्तियों में भी परस्पर पाठान्तर हैं। अतः इन पंक्तियों के दो पाठों के अन्तर अलग-अलग दिए गए हैं। प्रति-पाठके अन्तर पहले और उसके बाद दुहराए पाठ के अन्तर पंक्ति ४६-६२ तक के लिए A संकेत से और ६३-८४ तक B संकेत से दिए गए हैं।

दूसरी प्रति पूर्ण है। इसमें भी एक स्थल पर प्रथम पल्लव की पंक्ति ६३-८७ तक दुहराई गई हैं। उनके पाठान्तर A संकेत से दिए गए हैं।

दोनों प्रतियों के पाठ प्रायः एक-से जान पड़ते हैं। फिर भी कहीं कहीं उनके पाठों में भेद है।

पाठ की दृष्टि से ये प्रतियाँ 'अ' बीकानेर प्रति के निकट हैं। उसके पाठान्तर और इनके पाठान्तर अधिकांश स्थलों पर एक से हैं जिनसे ऐसा भ्रम होने लगता है कि ये प्रतियाँ उसी से प्रतिलिपित हैं। किन्तु इस साम्य के साथ ही अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ 'अ' प्रति से इनका पाठ सर्वथा भिन्न है।

पाठान्तर नोट करते समय पंचमवर्ण और अनुस्वार के आधार पर मैंने प्रायः कोई अन्तर नहीं माना है। अर्थात् छपी प्रति में 'पञ्चम' और इन प्रतियों में 'पंचम' या इन प्रतियों में 'पञ्चम' और छपी प्रति में 'पंचम' है तो इस भेद को मैंने छोड़ दिया है। अन्य शाब्दिक और आक्षरिक अन्तर पूरी तरह नोट किए गए हैं। कहीं-कहीं प्रति के लिपि-कार से अक्षर नहीं पढ़े गये हैं। वहाँ उसने—(डैश) का चिह्न दे दिया है। उसे उसी रूप में यहाँ भी दिया गया है।

छपी प्रति में बीच-बीच में शीर्षक या पद संख्या जैसी चीज है। इन प्रतियों में नहीं है। अतः वहाँ मैंने 'नहीं है' लिख दिया है।

परमेश्वरी लाल गुप्त

प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई

कीर्तिलता

प्रथम पल्लव

	प्रति १	प्रति २
२०	छ बिसहर। विमुंवइ वंद।	ठ। अमिअ
२२	मज। उवइ	मज उवइ दुज्जण। बैरि ण इहो
२४	दुहु न। लगाइ। हासां	दुहु न
२५	सो।	सो
२६	णिच्चउ। मोहई	इ। णिच्चउ
२७	कापर बोउँ	कापर बोउँ
२८	मन रस रस लइ	
२९	होइ। मंमम	होइ। ममम
३०	जो बुझिहि	जो बुझिहि
३१	बु–हि। साछ। छइल्ला	बु–हि। साउ। छइल्ला
३२	सजुण। दुजुण। मान	सज्झण। दुज्झण। मान
३३	बहु। भावई	बहु। भावई
३४	पाव। र—	पाक अरइन को
३५	वअणा। सब। मिठ्ठा	वअणा। सव। मिठ्ठा
३६	अवहट्ठा	अवहट्ठा
३७	जिगा पुछइ जिग। संसार इहि सारा	भिगा पुछइ भिग। सारा
३८	मानोनि जीवण मानेसउँ। अवतारा	जीवण। मानेसउँ। (आगे अंश नहीं है)
३९	जम्मिअइ सामि न जाणउँ	क्षम्मिअइ सामि न जाणऊँ

४०	उत्छाहे फुल । आकन्नन शीर्षक अथ जृंग कथयति	उत्छाहे फुल । आकन्नन
४१		सूसंगाम
४२	हियविप अकाल	हियविप
४३	भावे सानन्दा । सुअन	भावै सानन्दा सुअन
४४	सरूप सरीरा	सरूप सरीरा
४५	एतें । वीरा	एतें । वीरा
	जदो	जदो
४६	जन्म [A] जम्ममतेण	
४७	[A] जलओ नहु जलओ पुज्जिओ	
४८	सत्तीं [A] अजाणे	सतीं
४९	पुच्छ । विहूणों । होई [A] इअणो	पुच्छ
५०	कहाणी कहओं । पच्छावेपुन्त [A] कहाणी हुं कहउ । पछावे	कहाणी हुं । पच्छावे । पुन्ना
५१	सुभोअणे । वअणे । सपून्त [A] सुभोअणें । सुभवअर्णे [नहीं है]	सभोअणें । वअणें
५२	कण्क [A] बलिराय । कण्हें	बलिराय । कर कण्कें । पसारिआ
५३	मारिअं । [A] बलिराऐं जन्ने	बलिरायें जेन्नें
५४	[A] भगारथ । जन्नें	
५५	खंतिअ । [A] पुनु । पुरिसा जन्ने	पसुराम
५६	किन्नि सिंह । [A] पसंसउँ । कित्तिसिंघ । गणेस	पसंसउँ । कित्तिसिंघ । गणेस
५७	कहुँ । बप्प । उद्धअधुअ । [A] जे । धुआ	

	पृछति [A] पृच्छति [नहीं है]	पृछति
५८	वरित्त । राषहि गोए । [A] – साल । गोए	राषहि गोए ।
५९	हो— । [A] होई [नहीं है]	होए ।
६०		
६१	परमच्छ । बुन्नइ [A] दानें दलद दारिद्दं परम	दानें दलद दारिद्दं । बुजइ
६२	छ वुझई । सत्तें । जुझइ [A] जुझुइ	सत्तें । जुज्झइ ।
६३	जगं । सेवा । [B] सुसिद्ध	जगं । सेवा [A] सुप्रसिद्ध
६४	दुहु एक छैल । भूबइ । [B] एकथ्थ । पाइ अपइजु अवइ [नहीं है]	भूबइ । [A] एकथ्य । भुअवइ ।
६५	जन्ने खणिअ पुब्ब वलिकन्त । [B] अपुव्व बलिकन्न	जन्ने खण्डिअ पुव्व वनिकन्त । [A] पुव्व वलिकन्न
६६	अछिजन । किज्झिअ [B] सरण ण । अछिजण । बिमन न किज्जइ ।	अछिजन किज्झिअ [A] सरण ण । ण विमन न किज्जइ ।
६७	अतछ । भणिआ । उम्मर्गा । दिज्झिअ । [B] जें अतुछणहु । जेंणअ उम्मग्गेण	जन्ने । उम्मग्गं । दिज्झिअ [A] जें अतत्थणड्ड भणिय जेंण अउम्मग्गेण
६८	कहवा [B] वड्डुपणं	कहवां । [A] ना कुल ।
६९	जसस्मिअ । [B] जंझम्मिअ । राय अथ छपंद [B] अथ छपद	जजम्मिअ । [A] जंजम्मि । राय । अथ छपंद । [A] अथ छपद
७०	भोगीसराए [B] नन्दण	भोगीस राए । [A] नन्दण
७१	कंति । [B] तेजि कांति	कंति । [A] टुमउ । तेजि कंति

७२	पंचम बलि [B] दानें पंचम बलि	जावक । केदारा । बलि । [A] दानें । बलि
७३	सुरताणें । समानलं । [B] सुरुताने	सुरताणें [A] सुरुताने
७४	पत्ताप दानें समानें गुनें जें सेबे करिअउ [B] पत्ताप दाण । करिअउ अप्पु	दानें सम्मानें गुने जसें बेकरिअउ । [A] पत्तापः दाण
७५	विछरिअ किशि महिमंडलहिं । [B] बिछरिअ । कुसुम विकास	[A] कुसुम विकास
७६	गइअ । गअणेसा । [B] तासु तणघन अविन अनय । राअ	विनयगरुअ राए । [A] तासु-तणघ्वन अबिनअ नयः । राअ
७७	जें । दिसिआ कि कित्ति [B] किन्ति	जँ
	[नहीं है]	
७८	गइअ । गअणेस जेन्नें । [B] गअणेस	गअणेस जेन्नें । [A] गअणेस । नाचक
७९	मानें गइअ गअनेस जेनें । [B] गअणेस	गअनेस जनें । [A] अअणेस । जन्नें । बहुम
८०	सत्तें गइअ गअनेस । तुलिअउ । [B] गयणेस	सन्नें । गअनेस । [A] सन्ते । गअणेस । जन्ने । अखण्डल
८१	गइअ गअनेस जेन्नें । [B] गअनेस	गअनेस । [A] गअणेस । महिमण्डला
८२	गअनेस । पंचसर । [B] लावन्ने । गअणेस पुनु देख्खि	गअनेस । पंचसर । [A] लावन्ने । गअणेस पुनु देख्खि
८३	भोगास तनयेअ । गअनेस [B] गअनेस	भोगास । राए गअनेस । यरा [A] गअनेस
	अथ गद्यं [B] अथ गद्य	अथ गद्यं [A] अथ गद्य

८४	करो पुत्र । युवराजण्हि । [B] करो पुत्र	करो पुत्र युवराजण्हि । [A] करो पुत्र युवराजन्हि
८५	प्रतिज्ञापदत्पर्णक	
८६		[A] मर्य्यादा मंगलवास
८७	प्रवल । रिपुबल । सीकीर्ण समर साह दुर्निवार	प्रबल रिपुबल [A] प्रबल रिपुबल सीकीर्ण । समर साह दुर्निवार
८८	अवतारा ।	
८९	चह्चूड । वरण सेव [नहीं है]	चह्चूड
९०	कनिट्ठ	कनिट्ठ । गरिट्ठ
९२	करे तुलनाए	करे तुलनाए
९३	पातिसाह । करेयो दप्प पूरे यो	पातिसाह आराधे । करेयो । दप्प-पूरेयो
९४	वैर । माहि । करो । परयो ।	वैर । माहि करो । पूरयो
९६	खर क्षुस्म	खर क्षुण्ण
९७	निशा	निशा
९८	बुड्डंत्त राज्य । धरेयो ।	बुडुंन्त राज्य । धरेयो
९९	परिक्षा ।	
१००	पलटाय	
१०१	अहित करो । हरेयो	अहितहि करो । हरेयो
१०२	तरवारि धारा तरंग सांग संग्राम समुद्र करो फणा प्राजस उद्धरि दिगन्त विच्छरेयो । [B] यही पंक्तियां हैं ।	तरवार-धारा तरंग सांग संग्राम समुद्र करो फणाप्राय जस-उद्धरि-दिगन्त विछरेयो ।
१०५	कीर्ती	

१०६ कलां

॥ श्रीः ॥ ···विरचिता	श्रीः श्री विद्या······विरचितायां
[नहीं है]	प्रथमः पल्लवः

द्वितीय पल्लव

१	पृछति [नहीं है]	पृछति
२	उप्पणेउ । उद्धरिउ	उप्पणेउ
३	पुन्न । कहहिं । सुखेण [नहीं है]	पुन्न कहहिं । सुखेण
४	लिखिअ । वे	लिखिअ
५	मउम	मउम
६	विक्कम । बले ।	बिक्कम । वले
७	वइसि । गअनेसर	वइसि । गअनेसर
८	मारत्तें	मारत्तें
९	णाअरं । रंमणि । धुअं [नहीं है]	णाअर रमणि
१०	वाकुर चक भयेगलं वारे चप्परि घर सज्जिअ	चाकर चक भय गल चारे थथरिव्व सज्जिअ ।
११	दासें । निमज्जिअ	दासे
१२	साझुन	सजुन
१३	विआह । का ।	विआह । का
१४	अख्खर रस वुभयू निहार ननहि भिप्यारि	अख्खर रस बूझूनिहार ननहि कवि-कुल । भ-मिप्यारि

१५	तिरहुहुत्ति तिरोहितं सछे। गणेसं। जवे सग्ग गौ [नहीं है]	त्तिरहुत्ति। सव्वे। गौ
१६	राअ वधिअवु	राअ
१७	मनहि अस तुरुक्क। गुत्तइ	गुन्तइ
१८	हमु। वुत्तइ।	हमु
१९	उद्धार के अंगण देख्खय ओ आन	उद्धार के अंगण देख्खयओ आन
२०	रजु समथ ओ पुनु करओ। स्म्माण [नहीं है]	रज्जु समथओ कर-ओ। सम्माण
२१	सुसझु	सुसज्जु
२२	सप्पि— [नहीं है]	सप्पिसुरज्ज
२३	जम्पए	जम्पए
२४	मंत्ति। सिख्खवइ। णहि	सिख्खवइ। णहि। कमकरिअर
२५	परहरिअ वथ वैर चिर चित्त वरिअई	
२६	नहले रा गअनेस गौ सुरपुर लोअ समाज	नहले रा गअनेस गौ सुरपुर लोअ समान
२७	तुम्मे सत्तु निवित्त	तुम्मे सत्तु निवित्त
२८	मातृ मित्र मंति महाजन नहि करो	मातृ मित्र मंति महाजन नहि करो
२९	कुदअ। केसरि	कुदअ
३०	माहाराजा। कौपि कोपि	

३१	लोकहु ।	लोकहु ।
३२	चतुहहु मोर वचन	मोर वचन ।
३३	ममत्त पइ मत्तीर	ममत्त पइ मत्तीर
३४	पट्टु । पर वीर पुरीस	पट्टर । पर वीर । को रीति ।
३५	देले राज	भो अनासक्तक देले
३६	पइट्ठे जीअणा तीनु [नहीं है]	जीअणा तीनु
३७	दुख । ण माहाइ	ण माहाइ
३८	खगा	
३९	परउ अओर धम्म ण	परउ अआरे । धम्मण
४०	धन्नो । सोअई [नहीं है]	धन्नो । निच्चिते
४१	मारि सह ओकहओ	सह ओकहओ बोलएँ
४२	मोराहू । गरिट्ठ । विअक्खन	मोराहू । विअक्खण
४३	उद्धरओ ण । उणपक्खित्स्य बुक्कओं	उद्धरओ ण । वुक्कओ ।
४४	मुक्कओं [नहीं है]	मुक्कओ ।
४५	दलओ पर दुक्ख । भासओ	दलओ पर दुक्ख । भासओ
४६	पाट । करओ । नीसन्नि पआसओ ।	पाट । करओ । नीसन्नि पआसओ ।
४७	अभिमाण जओ रक्खओ जीवसओं । णकरओं ।	अभिमाणजओ रक्खओ जीवसओं नीव । णकरओं ।
४८	रहउ । जाउ । अपनि [नहीं है]	तैं रहउ कि जाउ । मर्मे

५१	कम्रन उण वत्तिअउ	कम्र न उण वन्तिउ
५२	ऐस	ऐस
५३	कमन का । लगाइ नहीं है	कमन का ।
५४		छड्डिअ
५६	पणमिअ छड्डिअउ ।	जम्म । छड्डिअउ ।
५७	अन्तिम शब्द 'बहुत्त' के अतिरिक्त पूरी पंक्ति नहीं है।	'बहुत्त' के अतिरिक्त पूरी पंक्ति नहीं है ।
५८	गअणराय बोलो	वलु गअणराअ बोली
६९	पात्रे चालि अउ दुअओ कुमर	पात्रे चलि अउ दुअओ
६०		वसे
६१	पाठि पातर	छाउल । पाठि पातर
६२	बसल पावल आंतरे आंतर	बसल पावल आंतरे आंतर
६३	जहा	जहा
६४	नावों	नावों
६७	भेलि	भेलि
६८	लाग	लाग
६९	रोण उवार	रीण उवार
७०		
७१	काहुउ बहल भार वोहू	काहुउ । वोहू ।
७२	काहु वाट ककंलि सोहू	ककली सोहू ।
७३	आतिथ्य विन करू	आतिथ्य विनअ करू
७४	संतरू नहीं है	संतरू

७५	लछि	लछि
७६	पुरुष । नं चलइ	पुरुष । नं चलइ
७७	पेख्खिअ । जौणपुर	पेख्खिअ । जौणापुर
७८		लछी
	छन्द	छन्द
७९	जौण नीर	जौण नीर
८०	पासाण। उप्पर परिआ	पासाण । परिआ
८१	सोहिआ	फलिअ फलिअ । सोहिआ ।
८२	महेहुअर सद्दें माणस	महेहुअमर सद्धेमाणस
८३	नीक नीक निकेतना	नीक नीक
८४	वहहिं । वड्डेयो	वट्टहि
८५	यन्त्र सोलल जालजल वो खण्डिया	यन्त्र जोलल जाल जल वो षण्डिता
८६	धवलहर सअ सहसे पेख्खिअ	धवलहर सअ सहसे पेख्खि अकन अकल सिह
८७		
८८	पलिट्टि । सछ सछहि कामिनी	सत्य सत्थहि
८९	कप्पूट। वामर रअन कंचन अंबय	रअन कंचन अंबय
९०	वेह हार । आनथि वप्परा	आनथि
९१	सम्माण दाण विआह उछव गीआ नाट कव्वहीं	सम्माण दाण विआह उत्थव गीअ नाटक हीं ।
९२	आतिछ । सव्वही	आतित्य । समअ । सव्वही ।
९३	हेरइ जव्वे जत्तहि [नहीं है]	खेल्लई । जव्वें जत्तहि
९४	ठवन्ते	उवट्टि
९५		ठवन्ते ।
९६	आक्रीडन	आक्रीडम ।

९७	वकहटा वीथी वलजी । ओवारी	वीथी वलजी अटारी ओवांरी
९८	प्रकार । कहओं	प्रकार । कहओं ।
९९	करो अवतार भान भा	करो अवतार भान भा
१००		करे प्रथम ।
१०१	टांकार कसेरी पसरा कांस्य क्रेकाट ।	टांकार कसेरी पसरा । क्रेंकार
१०२		प्रकर
१०३	करो मुखर व कथा कहत्ते ।	पक्कानहटा । करो मुखख कथा कहत्ते ।
१०४	कहत्ते होइअ हुब्जनि	कहत्ते होइअ हुठ
१०५	छाडि । उत्त	महार्ण्णव उत
१०६	मध्यान्ह । संमर्द । करो । वस्तु विआए । राज	मध्यान्ह कटी वेला संमर्द । करो वस्तु विआए । राज ।
१०७	मानुस करी । आग	मानुस करी
१०८	उगर । आनका	उगर । आनका
०९	पात्र हुतह । वलआ	पात्र हुतह । वलआ
११०	चाण्डाल का आगलूल । पयोधरे जतिन्हिक	का आगलूल । पयोधरे
१११	घन संचरे । हाथि कत	घन संचरे । हाथि कत
११२	रोलं नगर नहि नर समुद्ध ओ	नगर नहि नर समुद्ध ओ ।
११३	वनिजार । जव ।	वनिजार
११४	खण । सव्वे । किणइते	खण । सव्वे । किणइते ।
११५	दिस । गुणे आग आगरि	
११६	माडि	माडि
११७	संभाषणे । वे आषकइ । कहिणी । सव्वे	संभाषणे । वे आनकइ । कहिणी । सव्वे ।

११८	विकारणउ वेसाहुउ अप्पु सुषे दिट्ठि [नहीं है]	विक्कणउ वेसाहुउ । सुव्वे दिट्ठि कुत्तहल
११९	सव्वउ । रिजु नयण । हेरइ	मव्वउ । नयण्ण
१२०	दास [नहीं है]	णेम । दाससंक ।
१२१	कायछ	कायत्थ ।
१२२	राजपुत्र कुल बहुल जाति मिलि बसइ चप्परि	
१२३	सवे सुअन ससे । नअर राय	सवे सुअन मसे । नअर राय ।
१२४	जंसर मंदील देहरी । पेक्खिअ	जंसर मंदिव देहरी । पोक्खिअ
१२५	घरे घरे उगि अन्द [नहीं है]	
१२६	एक हाट करे ओ ले ओकी हाट करे को ले ।	करे ओले ओको हाट करे को ले।
१२७	संचरैं ते । देखिअ । वेश्यान्हि	राजपथ करो सन्निधान संचरैते । दोषअ । वेश्यान्हि
१२८	निर्म्मणे विश्वकर्म्माहु भेलचड	विश्वकर्माहु । चड
१२९	वैचित्र्य । कहओ का	वैचित्र्य कथा कहओ का ।
१३०	जाहि करि के सधूप धूमध्वज करी रेखा ध्रुवउ परजा	जाहि करी केस धूप धूमध्वज करी रेखा ध्रुवउ पर जा
१३१	ऐसनेउ संकत करै का जरै चान्द	ऐसनेउ संकत करे काजरे चान्द
१३२	घर	निमित्त घर
१३३	विनयँ असौभागे । सामी । सिन्दूर परा मरिस परिजन अपामन [नहीं है]	लोम विनयँ असोभागे । सानी । परा मरिस परिजन अपमान ।

१३४	लहर	
१३५		
	[नहीं है]	
१३६	ताहि वेश्या नागरन्हि । मुखसार मणुत्ते । अलकतिलक । खणुंन्ते	ताहि वेश्या नागरन्हि । मुखसार मणुत्ते अलक तिलक
१३७	केस	केस
१३८	सखीजन । हसिहैरंते ।	सखीजन । हसि हैरन्ते ।
१३९	लोनुमी । वेण्ही	लोनुमी । पतोहरि । वेण्ही
१४०	पेसली । मनकर चारि पुरुखार्थ। तीनु	पेसली । देखि । मन कर चारि पुरुखार्थ तेसरा
१४१	तन्हिका केसु । मान्य जन	तन्हिका केसु । मान्य जन
१४२	अघवोगति । हस ।	अघवोगति हस ।
१४३	नअनाचल । भ्रूलता क भंग ।	नअनांचल । भ्रूलता क भंग
१४४	करे । विवर्त्ते । शयरी	करे । विवर्त्ते
१४५	रेषा । जनि पंचसर	रेषा । जनि पंचसर
१४६	दोखें । मादुखीनी रसिक आनछि	दोखें । मादूखीनि रसिक आनत्थि
१४७	जिनि पयोधर करे भारे	जीनि पयोधर करे भारे
१४८	तृतीय । भुवन	तृतीय भागे तीनु भुवन
१४९	सुसरे	सुसरे
१५०	काहु काहु अइसनवो । आचर	काहु काहु अइसनवो । कइसो लागत । आचर
१५१	ताहि करी । सदर्प्प कन्दर्प सव श्रोणी जड नाग वल्लिका मन गाउ गो वोसिग मार छाइ	ताहि । सदर्प्प कन्दर्प्प सव श्रेणी जड नाग वल्लिका मन गाउ गो वोसिग मार छाइ
	[नहीं है]	

१५२	सव्वउ णरि विअक्खणी सव्वउ सुच्छित	सव्वउ णरि विअक्खणी
१५३	इवराहिम । णहि । णहिं सोक ।	इवराहिम साहि । णहि । णहि सोक
१५४	तहु । हो लोअन	सव तहु । हो लोअन
१५५	सव तहु । सुठामहि भोअन	सव तहु । सुठामहि भोअन
१५६	मण । सुनउ । विअक्खण ।	मण । सुनउ
१५६	बोलही तुरकाने–लक्खण ।	बोल–तुरकानेतुंलक्खण ।
	छन्द	छन्दः
१५८	तदो । बइट्ठे । बजारो	तदो । बइट्ठे । बजारो
१५९	हजारो	जहो । हजारो
१६०	कहो वोटो कहो वादि चन्दा	कहों वोटि गन्दा कहि
१६१		दूर निक्काविए
१६२	कही तस्त	कही तस्त
१६३	कहि	कहि
१६४	सराफे सराफे भवे वेदि वाजु	सराफे सराफे भवे वेदि वानु
१६५	तौलन्तहं लसूणा	तौलन्त लसूणा
१६६	खरीदे खरीदे बहुत्तो गुलामो	खरीदे खरीदे बहुत्तो गुलामो
१६७	तुरुक्के तुरुक्के अलेको	कुठक्के तुरुक्के अलेको
१६८	वेसाहत्त मइलज्ज	वेसाहन्त खोसा मइलज्ज
१६९	मीर मल्ली सेलाव खोजा	मीर मल्ली सेंलाव खोजा
१७०	सरावा पियन्ता	सरावा पियन्ता
१७२	प्रसीदा भमंता	कसीदा कटंता कसीदा भमंता
१७३	कितेबा पठंता तुलुक्का अनंता (नहीं है)	कितेबा पठंता तुलुक्का अनन्ता
१७४	सुमरु खोदाए थाए ले भाग कगूडा ।	सुमरु खोदाए । भाग क गूडा ।

१७५ कारण कोहाए बअन। कूण्डा	वितु कारण कोहाए बअन। कूण्डा।
१७६ तुरक तोखरहि। भमि हे चाहइ	तुरक तोखारहि। भमि हे चाहइ।
१७७ आडो डीति। दाटी युक बाहइ	आडा डीति निहारि दिवालि दाटी व्युक बाहइ
१७८ सव्वे सरावे खराव कइ तत कइ तरमा नादरम्	सव्वे सरावे खराव कइ तत कइ तरमा वादरम।
१७९ अविवके कवि वोकह उंका पाछा पए दाले लेभम	अविवेक क वीवी कहउंका पाछा पए दाले लेभम
१८५ [नहीं है]	नहीं है।
१८६ गीति गरुवि जाकरी	गीति गरुवि जाकरी
१८७ चरख	चरख। तुरुकुनी
१८८ सइअद	सइअदे।
१८९ दोआ	दोआ
१९० मखदूम नवावइ दो मजेउ हाथ ददस दोस तारवी	मखदूम नवावइ। जऊ हाथ ददस दोस ताखो
१९१ खुन्दकारी हुकम का कहउं अपनी वो [नहीं है]	खुन्दकारी हुकम कहउं अपनि त्रो।
१९२ किच हीन्दू तुलुक।	कीच हीन्दू तुलुक मिल लुक मिलल वास

१९३	अओका कहास	अओका कहास ।
१९४	कहुत वाग ।	कहुत वाग
१९५	बिसिमिल	बिसिमिल
१९६	ओजा । खोजा	खोजा
१९७		कहतहु रोजा
१९८	नहीं है	नहीं है
२००	तुलुक	तुलुक वलकर ।
२०१	वाट	वाट
२०२	अनिअँ वलुआ	आनिअँ वाभन वलुआ
२०३	मथा चराइअ । चरुआ	मथा चराइअ गाइक चरुआ ।
२०४	जनौअ तोर	फोट चाट जनौ अनोर
२०५	चरावए वाह	चरावए वाह
२०६	आउरि घाने मदोरा साँघ	मदीरा
२०७	भाँगि । वांच	वाँच ।
२०८	गोमटे पुरली	गोमठे पुरलि
२०९	पएरहु धर । नहीं	पएरहु धर ।
२१०	हिन्दू । दूर निकार	हिन्दू । दूर निकार
२११	छोट होट तुलुका	छोट होट तुलुका
२१२	गोटेयो । हल जुजुक देखि हो भाण	गोटेयो हल जुलुक देषि हो भाण
२१३	चिरेजीवओ सुरतान [नहीं है]	पारताप । चिरे जीवओ सुरतान
२१४	भमन्तभम	भमन्तभम दुअओ ।
२१५	कज्ज वसे पइट्ठ	कज्ज वसे
	छन्द	छन्द:
२१६	विहवड्ढे ।	विहवड्ढे

२१७ आवत्ते । खाण मल्लिका । पछर	आवन्ते तुल्लुक्का खाण मलिक्का
२१८ दूर हौंते। दूआरहि वारिआ	दुरहों आआ वन्दु वड। दुआरहि वारिआ
२१९ वाहत्ते । गणए न पारीआ	वाहत्ते । छावर । गणएन
२२० सव्वस अदगोर वित्त विथारे पुहवी	सव्वस । अदगोर वित्त विथारे पुहवी ।
२२१ दरबार बइट्ठे वरिसे भेट्ट ण पावन्ता	वरिसे भेट्ट ण पावन्ता
२२२ खाणउ माटा	
२२३ नहइ अलामे आपि बहि-बहि	नहइ अलामे आपि बहि-बहि
२२४ अतर । जाईआ	
२२५ सव्वहु बटुराणा । तछि दुआरहि	सव्वउ बटुराणा । तत्थि दुआरहि
२२६ रहइ । विरुदि । तट्टा देखीआ	रहइ । विरुदि । तट्टा देखीआ ।
२२७ लेखीआ	लेखीआ
२२८ कलिंगा वाअहि दूते मंडीआ	कलिंगा वाअहि दूते मंडीआ ।
२२९ कम्पइ जट्ट पण्डीआ	
२३० बहुता अतटे पटले सोहत्ता	चलइ अनटे पट ले सोहत्ता
२३१ सुभव्वा । गन्धव्वा रूप पर माण मोहत्ता ।	सुभव्वा। गन्वव्वा रूप पर मण मोहत्ता ।
२३२ उंहु खास	ऊहु खास
२३३ उछि । रङ्च । ले राहु	उत्थि । रङ्क । ले राहु ।
२३४ उछि । उछि मित्त उछि सिरल वड सब्ब कर	उत्थि । उत्थि मित्र उत्थि सिर लवइ सब्ब कर ।

२३५	उछि सति । उछि भए अए सौह सर	उत्थि साति । उत्थिभए जाए सौहसर
२३६	निज । बल वोठमा जानिं असब्वे गए	बल वोठमा जनिअ सब्वेगए ।
२३७	सब उप्पारहि तसु उप्पर करताल पए	सव उप्परहि तसु उप्परि करताल पए।
२३८	आश्वर्या ताहि दारखोलहि	ताहि दाखोलहि
२३९	अल दरमियान दस्पाल दरखास दरदारिगह । खोआर । खोरमगह	ओ अल दरमियान रस्पाल दरखास दर दरिगह । खोआरगह ।
२४०	करोवो । सवे	करेवो । सवे
२४१	विश्वकम्म इथिहि	पर्य्यन्त विश्वकर्मा इथिहि
२४२	प्रसादहि । खचित । कलस	प्रसादहि । खचित कांचन । कलस
२४३	जाहि । पर्य्यटन । घोलाक	जाहि । घोलाक अट्टाइसओ
२४४	प्रमदवन । त्तत्रिम । व्यजंन शृङ्गार	कृत्रिम । जन्त्र व्यजन ।
२४५	विश्राम चोरु खट्वाहि-ण्डोल । चंड्कोत	विश्राम चौर खट्वाहिण्डोल ।
२४६	चतुःसम पल्लल । पुछि अस आत	चतु:सम । पुत्थि अस आन ।
२४७	आभ्यन्तर	आभ्यन्तर ।
२४८	पेख्खिअदूर दाखोल । मुहुत्त विसम्मिअ ।। सिट्ट । परिचअ	पेख्खिअदूर दाखोल खल मुहुत्त विसम्मिअ सिट्ट । परिचअ
२४९	लोक सत्व महल कोटिग जानिज	लोक सत्व महल कोरि गनानिअ

२५०	पुछिअउ ते पल्लविअउ ।	
	अन्तिम 'आस' नहीं है	पुच्छिअउ ते पल्लविअउ
२५१	असंजह मज्जुपुर विप्पघरहि	
	लिअ वास	असंझह घरहिलि अवास
	[नहीं है]	
२५२	सोचत्प्रत्यर्थी	
२५३	त्वागैरघंजि । तरणी	त्वागैरघंजि । तुरणी
२५४	द्वारात्तथँ चिज । स्छूल	
	इति श्री विद्यापति विरचितायां	यहाँ भी यही है ।
	कीर्त्तिलतायां द्वितीयः पल्लवः	
	[नहीं है]	
	अथ भृङ्गी पुनः पृच्छति ।	अथ भृङ्गी पुनः पृच्छति
	[नहीं है]	
१	कन्न । तुरु कहत्ते कन्न ।	कन्न । अमिअ । तुरु (बाद के शब्द नहीं हैं ।
२	कहि विअक्खन	कहहि विअक्खन पुनु कहि । वितन्त
	[नहीं है]	नहीं है
३	रयनि । हुअउ । पधूसर	रयनि । हुअउ । पधूसर ।
४	हसिअ इन्दअरविन्द	हसिअ इन्द अरविन्द
५	निद्द नयण राय पप्पतु	निद्द नयण उट्ठि रायपप्पतु
६	गए । अराहिअउ । सकलेतु	
	कज्ज	गए । अराहिअउ । सकलेतु कज्ज
७	जजो पहु वडा होतओ	झोपहु वडो । होतओ सिट्टा
	[नहीं है]	
८	मन्निहि । पछाव	मन्निहि । पत्थाव
९	मुहुत्त सुखराय	मुहुत सुखराय

१०	हय अश्व खर लहिअ अहिअ दुक्ख वेराग	हय अश्व खर लहिअ हिअअ दुक्ख वेराग
११	षोदालज्वँ सुष सन्न भए पुछु कुशल मअ वत्त	षोदालज्वँ सुषसन्न भए पुछु कुशल मअ वत्त ।
१२	पन्नाम । किति सिंह जो वुत्त	पुनु पुन पन्नाम जो वुत्त
	[नहीं है]	नहीं है ।
१४	अजु मुदिन । अज्जमाए महु	अजु मुदिन । अज्जमाए महु
१५	अज्ञु सुपुत्र पुरिसछ । पाइअ	पुरिसत्थ
१६	कुशल । पए	पए
१७	अतु । सगा गउरायनराय मरु वाप	अतु । रायनराय राय मरु वाप
	[नहीं है]	—
१८	कौन	कौन
१९	[नहीं है]	नहीं है
३७	उरँक उछलु दरबारहि	उरँक उछलु दरबारहि
३८		भारहि
३९	सबैहुसंका	
४०	हचल । उजरल	वडाँ । हचल । उजरल
४१	अरदगल गट्टवर	अरदगल गट्टवर
४२	जनि अवहि सँवहि प्रसि-द्धाणए । असलान	जनि अवहि सवहि प्रसिद्धाएकहु । देउ
	[नहीं है]	—
४३	तेन्न	तेन्न

४४ नृपति लअ पसातु वाहर तु आइल	लअ पसातु वाहर तु आइल
४५ एछन्तर कु विचन्तव....	एत्थन्तर कुवि वत्त वत्त किछु सुरताने पाइअ सज्जिअउ पछिम हुअउ पआन

[इस से आगे यह प्रति खण्डित है]

४७ अन्न करत्तो अन्न मउ
—(नहीं है)
४८ खने चित्तइ । हुअउ ।
४९ पुतु कि परिस्समे
—(नहीं है)
५० तैस ना । भरावणत । देषि ।
५१ मंत्र भनिअ ।
५२ नोउपताप गणिओ न गणिअ
५३ दुष्वे सिअइ रांचर
५४ पुछिअ । हविज्जइ ।
५५ आअत्त
५६ होत्तख
५७ होना होसे ऐक वीर सिंह उछाह
(नहीं है)
५८ अहव ऊ विरुखन तुम्में गु—मंत
५९ ऊ । तोहे सुद्ध कहु सदल ।
खंडि ।
६० अउ । सूर उहु राअ
६१ सुरतान उ तुम्मे राअ कुमार ।
६२ एम्रे षित्ते
(नहीं है)
६३ एत्थंतर पुरु रोल पलु सेन्न
६४ छन्द
६५ इवराहिमा ।
६६ घरणि सुनहि भो ।
६७ पलइ
६८ गमन । ज्जंपिया ।
६९ सत वाजु
७० सुनिअ खर लुक्किआ ।
७१ लख हरखे अस्स पुसंकालहि
७२ कर कटि करवारहो ।
७३ मअगणई । खने
७४ घर । जंखने ।
७५ जवे जुझइ ।
७६ णगर । पिल जुझइ
७७ भारहो ।
७८ संसार हो ।
७९ कोरं । बाधि
८० केरि
८१ चौस
८२ सत्थ
नहीं है ।

८४ सिमा । भए
८५ सखसे डाडिअ वोर सत्तुघोललि अपण्डामाले
८६ ठाम एक उव्वलइ । थाले ।
८७ साहि पआण । णरेसर
८८ पार दुवार णहि
८९ जहा जाइ ।
९० अखट एक
९१ छोटाहु क काल
(नहीं है)
९३ चोर घुसइअ नाक नाथे ।
९४ दोहाए
९५ सेरकिनि पानि पानि आनिअ
९६ खने कापले छानिअ
(नहीं है)
९७ पान कए सोना टक का
९८ मुले इन्धन
९९ स्थोल
१०० वेचाट्टिअ वोल ।
(नहीं है)
१०१ करुआ । आग
१०२ वादि वर दासवोध पाइअ ।
१०३ दुरगमिअहु दीपदिपन्त
१०४ भल्खिअ ।
१०५ तुलुका संगे संचरिअ परम दुल्खे आचार रल्खिय ।
१०६ संवर निवलिअ खोण तनु अंवर हुवउ पुराण ।
१०७ तौण सुमर ।
(नहीं है)
१०८
१०९ नहु । रिण लहिअन उनमान भिक्खि ।
११० उप्पत्ति । दीनवर अणान हुव-अण आवइ ।
१११
११२ किकरउ गंडाअे । गणिअ । उपास ।
(नहीं है ।)
११३ पुच्छइ भिन्न नहु मित्त ।
११४ भोअण । मागि जा भुख्खे डढ़िअ ।
११५ दिवसे दिवसे । दुख्ख
११६ तरहुग । अषत्तनी सिरि केसर काअस्थ ।
११७ सहिए रहिअ दुखरथ ।
(नहीं है)
११८ वानिज । विअख्खणा । पसार हट्ट ।
११९ तिन्ना मिसा
(नहीं है)
१२० परम कष्ट काष्टा । सामान

१२१ लाज । र— ।
१२२
१२३ रीति गुणक प्रीति मित्रक प्रनिगाह माहस
१२४ बाघ ।
(नहीं है ।)
१२५ तंखणे । वरराजें ।
१२६ एत्तेवो । जिव्विब्वि माजे ।
१२७
(नहीं है ।)
१२८
छन्द
१२९ मत्ति
१३० भेअ विग्गह वो ।
१३१
१३२ सव्वस्स उपेक्ख अम्ह ।
१३३ अम्ह
१३४
१३५
१३६ वंश । कहव ।
(नहीं है)
१३७ हरक
१३८
१३९
१४० तसु पलत्ति हो
(नहीं है)

१४१ नअ । वतुर । अमा
१४२ असु चित्त न (ल) गाइ
१४३ सिंह राउत्त सुजान ।
१४४
(नहीं है)
१४५ माअ मरु धुआ
१४६ विषअ आवइ । अनुरत्तोऊ
१४७ वापि कहऊ सुरुताणके छाटे कहवो उपार ।
१४८ विनि बोले जौ । अवे कत्त एत्त अराए ।
(नहीं है)
१४९ जेम्र । जंप ।
१५० जेन्ने । जेन्ने सिंह
१५१ जेन्ने । जेन्ने । जन सहिज्जिअ ।
१५२ तेन्ने
१५३ जावे
१५४ तो पलट्टिअ पुर्णाव सुरुतान ।
१५५ पुनु सत्र । हुअडु । दुख्ख
१५६ करकाँइ । राअ रअण उत्थाहे ।
१५७ कथतरु सानुग्गह फरमाण
१५८ असक्क जो जसु
१५९ नहीं है ।
१६० नहीं है ।
१६२ यशोभिरभितो कुमुद मुंद वृन्दोपमैः

१६३ चकित चामर द्विप
इति सरस कवि कण्ठहारभिनव जयदेव महाराज पण्डित ठक्कुर श्री विद्यापति विरचितायां तृतीयः पल्लव;

[चतुर्थः पल्लवः]

अथ भृंगी पुनः पृच्छति
(नहीं है)

१ कंता । सव्व । संचरिअ ।
२ हुअउ । असलाने किवकरिअ -
३ 'कओ' शब्द नहीं है । काण
४ विनु । विनु । विनु जे वालिअ सुरताण
५ गरुवो वेवि कुमारो
६ चलाओ
(नहीं है)
७ सुरुतानके चलंते समस्ता हसम रोल पलु
१० खोदर दखत उपलु त्राघ वाजु सेवा साजु
करि तुरग पदाति संहल भेल वाहर कए
दहलेज देल
(नहीं है)
११ रोल हुअ
१२ राए । संपजिअ कटकाइ
(नहीं है)
१३ पठमहि । हत्थिव्वल
१४ चक्कह जानिके चलिअ सेन्न चतुरंग
छंदः
१५ अनवरत । मअमत्त
१६ भागंत गाछ
१७ तोरंते रोल
१८ थेद्य । भूमिठु
२१ चालंते कान
(नहीं है)
२२ सुंडा मारि दमंते मानुम करो मूड
२३ सत्रो विघाताए । काटल
२४ निअमानि । पर्वतवो वाटल
२५ खाए खगए मारए जान महा-उत अंकुस महतेमात
(नहीं है)
२६ पाइग्गह अभारहुअ पल्लानिअइ
२७ थढ़वार

छन्दः

२८ आनिआ
२९ जानिला
३० कघ वारु वंघ कभ मुत्ति साहणा
३१ तलप्पि

(नहीं है)

३२ समत्थ । उरपूर । पाअ ।

३३ अनन्त जुझ । बुझ । संकरे ।

३४ कोहे बुद्ध

३५ विसुद्ध

(नहीं हैं)

३६ विपश्व । सेन्न । हीसि हीसि हीसि दामसे ।

३७ निसाण । खोलिधुंद

३८ भीत । जीत

३९ एवंच

४० वाछि वीछि । पल्खेरहि

४१ लख्ख । घेल्ल जासुमूल मोरु घोल ।

(नहीं है ।)

४२ कटकट

४३

४४ अटले अटले । तीखे ।

४५ सधिअ पर्व्वत बोलाधि

४६ अखन जनि सत्रु । लाधि भेला

४७ करे । संपक्कें । घोखार ।

४८ सारुली मरोली कुण्डली पण्डली

४९ पाअ । पवत

५० करे । मुह पाट । स्वामी । यशश्चन्दने

नहीं है

५१ तेजमन्त पाल वरुण तामसे भर वाटल

५२ सम्भूत । वहइते काटल

५३ गमने । पछुआवे वगे । जीनि

५४ वज्ज सवो भूमि गज्जया

५५ परि ।

५६ अरि राडलत्थिअ । आसपूर

(नहीं है)

(नहीं है)

५७ तुरंगम चलिअ सुरताण । 'तं' पाठ नहीं है ।

५८ धअ ठामर वित्थरिअ तुरंग सत खचि आनिज

५९ राअघरहिदिस विदिस जानिअ ।

६० तुरंगा ।

६१ सव्वे

नहीं है ।

६२ तेजि ततारी तुरअ । दिम

६३ तुरुण तुरुणतुरु असवार वाण सन ।

६४ मोजजे मोमोजजे जोलि तोर तरकस भरि ।

६५ देइ निसीस

६६ अनवरत तहि गणना करए जे पारके ।

६७ भारे कोन अहि मोल कर
कुरुमं डलटि।
छन्द
६८ धावतिथ पाइक।
६९ लक्ख संचलित चलवाइक।
७० फरिआइ तरंगे चंगे।
७१ खगगा तरंगे।
७२ मत्त गोल बोल नहि बुझइ।
७३ खोन्दकार। जुझइ।
(नहीं है)
७४
७५ लाहित।
७६
७७ रोटी बरिस गमावीय।
७८ कमाणहि बोले।
७९ वाए चलयि।
८० गोरंभण। माणयि।
८१ आनयि।
८२ (नहीं है)
८३ तरुण
८४ अवरु। कत भागल देखि अयि।
८५ विसिमिल कए खाइते।
(नहीं है)
८६ धागल वड जो हिस घाला
जायि
८७ केरा राअ। विकायि
(नहीं है)
८८ एर हो कतन्हिका
८९ चेथलाओ कोथलाए वेटल माथ
(नहीं है)
९१ वाल मारयि।
९२ अज्जण
९३ अन्याए। कंद ले।
(नहीं है)
९४ दआ न।
९५ विआही।
९६ पाप क गह नि।
९७ शत्रु
९८ मित्त
९९ न यिर वचण न योर गरास
१०० अपजस क त्रास
१०१ सुद्ध हृदय। संगा
१०२ कटकहि लक। देखिअ
१०३ लोअण लक्खण छाड णहि
(नहीं है)
१०४ गमणेन।
१०५ परिआ। लेक्खिअ
छन्द
१०६ कटकाइ जाहा।
१०७ निअ निअ गण गव्वे संगर
लव्वे। नाइ समाही।
१०८ बहुत्त अलर मेइणि कम्पा

१०९ रइरथ झम्पा।
(नहीं है)
११० जो आणा। तुरुअ नचावहि।
गाडिम
१११ वामर स्रवणहि कुण्डले ऊला।
११२ पय। परिवत्तण
११३ अण तरल निसाणे सुनिअ न
काणे साणे ह कारिअ आणा।
(नहीं है)
११४ लक्ख वलदह। भह्मीसा
११५ चलत्ते अ अलत्ते
११६ पीछे झे पलिअ से न लखलि
अउ वइसहि
११७ वत्यु लगावहि भूलहि भुलल।
(नहीं है)
११८ तुलुकन्हि
११९ घरत्ते। उतरथि
(नहीं है)
१२० पख एरवोइ गणिओ न होइ
सरइघा
१२१ आखण्डल पइण परिचव लाण
(नहीं है)
१२२ जखणो चलिअ सुरताण।
परिमेख जाण को।
१२३ तेज संवरिअ लक्ख परिसेख
जाण को अठदिगपाल कठ हो
१२४ छोहु। हेख
१२५ कमणे
१२६ कत्तार। दलि। कद्द। खुन्दि।
भारे भरे।
१२७ बंभहि अड डगमगिअ
नहीं है।
१२९ पाइके
१३० उड्डि। पंखि
१३१ पाअ। बोहु सव्वाण।
१३२ पआणउ
१३३ मारिअ। उब्बरइ।
(नहीं है)
१३५ विहल ठुलि चाप
१३७ वन विहार क्रीडा। 'करन्ते'
नहीं है।
१३८ मधुपान रते सेव
(नहीं है)
१३९ पैठ
१४० तकत चरित सुरताण बैठ
(नहीं है)
१४१ दूअ। खणे भउ
१४२ निवसिअउ समत्थ असलान।
(नहीं है)
१४३ तो पअम्पइ
१४४ कि। हीण रवअण की समय

१४५ गुणिज कान्ति । सामत्थ
कोपिअ

१४६ देख्खह पीठि चलिह ओं
लावओ

१४७ पाखरे पाखरे ठेलि कहु मारि
देओ ।
(नहीं है)

१४८ अज्ज । उद्धरउ । आवइ ।

१४९ जैतसु परुख ख्ख अप्पण रण ।

१५० राखइ । आव

१५१ फणवट्ट लागगे हारि चाप
जमराजको घिकइ

१५२ मारक ति बहु मत्रि तासु
रहि वन
विदेओ पा

१५३ पिठ्ठि देखाइ ।

१५४ तवे । सअण । हसव

१५५ किन्नि सिंह रा पुरणहि सेणा
छन्दः

१५६ पार होथि । पानीं ।

१५७ भजन । भगानिअ ।

१५८ असवारें फउदे फउदे तव

१५९ भेरि । तूला वंजिअ
(नहीं है)

१६० राअ पुरहि कांपेत पुब्ब पहरा

१६१ सेन्त संघट्ट बाजल ।

१६२ पाए पहरे । कंपा । हुट्टइ ।

१६३ विठ्ठि जओ
(नहीं है)

१६४ वीर रेकारें आगु होथि
रोमञ्चिअ अहे ।

१६५ चउदिस । चकमक चेजेके ।
खगग्ग तरहें ।

१६६ पैसथि । जूथे ।

१६७ होथि । फरिआइत हूथे ।
(नहीं है)

१६८ सिगिनि । भारे साह ।

१६९ उठइ फौदे पर

१७० वठइ । चारि ।

१७१ कैरा । मारां ।
(नहीं है)

१७२ चउपट

१७३ चोट उलटि । थैब्ब । भुजदण्ड
छन्दः

१७५ घावत्ता । धारा हुहन्ता ।
फु-न्ना ।

१७६ लग्गिआ खग्गेहि खग्गे

१७७ आवत्ता उमग्गे

१७८ एकरंगे रेंगे भट्टन्ता पारारो लक्षी
मेदन्ता ।

१७९ अप्पा नामाना तरन्ता
(नहीं है ।)

१८० उआय पाद्य बुन्तन्ता कोहाना । जुझंता ।
(नहीं है)
१८१ पाथर उठु मझ
१८२ संहलिअ । उछलइ अग्गिका ।
१८३ अस्सवारे । तुरुअं राउत सौ-ट्टु ।
१८४ वज्जा । कवचहुं सो
१८५ सग्नि जा तुहिर । गअन भर ।
(नहीं है)
१८८ अन्तरिख तुरथरिइअ
१८९ विज्जाहरे । जुझ देखन्ते कारणे
१९० जहि जपि संहल । तहिं तहि छन्द
१९२ तुंड
१९३ सिआलू
१९४ लुट्ठन्त
१९५ पझालनू पाआ ।
१९६ अरत्ताल वढे ।
१९७ रसा । बुड्डंत । गिद्धो ।
(नहीं है)
२०० पेक्कार । करंती ।
२०१ बहुक्का । इक्करन्ती ।
२०२ कन्तो ।
२०३ उलट्टो पलट्टो पलट्टो कबंधो ।
२०५ निस्से । पानो
२०६ बन्न कन्तोन
२०६ मअंगो
(नहीं है)
२०८ माथ उपरि । खा
२०९ उठुइ
२१० घलफलइ । वेआलइ
२११ तुहिर तरंगिणी
२१२ डाकिनी
२१३ नवकंध
(नहीं है)
२१४ सेन ।
२१५ संगल । बाअ । चलइ विमानहि
२१६ अन्तरिष्य । बोजहि
२१७ पिञ्चिल बनञ्चल
२१८ परिचअ
२१९ साहसि
(नहीं है)
२२१ सव्व सेन्न । पलिअ
२२२ कलिअ । दुठुदेव निअ समअ पाइअ
२२३ पलाटि कहुँथिरन्निम्मल जल लेओ ।
२२४ किर्त्तिसिंह सौ । भट्ट छन्दः
२२५ हत्थ समत्थ

२२७ तंहि
२२८ खग्गखग्गहि
२३० वमक्कइ । छला ।
२३१ टोप्परि
२३२ सोनित । धार धरे ।
(नहीं है ।)
२३३ तनु रंग तुरंग तुरंग मतरंग रसे ।
२३४ रुसे ।
२३५ पेष्यइ जुझ
२३६ महाभारइ । कन्त
२३७ आहर माहर
२३८ बिझवि ३०-३१ क
२३९ चपल लिहू
२४० पिट्ठि दिहू ।
(नहीं है ।)
२४१ तं खने । पेखिअ । सूखेप करेनु ।
२४२ जे करे मारिअ वध मझु हरेतु
२४३ कातरु
२४४ समर साहस । साहसिक
२४५ कीजा पथ जस साहि शत्रुक दीठि सौं मीठि देखाए ।
२४६
(नहीं है ।)
२४७ जइप
२४८ तिहु जन जग्गउ । तुझु
(नहीं है ।)
२४९ तै रण । तओबर
२५० पुन
२५१ अनुसर ठाए साएर
२५२ एम हँसि हँसि
(नहीं है ।)
२५३ पल्ट्टि जीति
२५४ धुनि उछ्छलिअ
२५५ शुभ महुत्त अभिखेक
२५६ वधव जन उछाह ।
२५७ पातिसाहि जस । भउ ।
(नहीं है ।)
२५८
२५९ पुष्णातु प्रिय । तरणि
२६० माधुर्य्यस्छली । गुरु पथो
२६१ कवेर्विद्यापते ।

महामहोपाध्याय ठक्कुर श्री विद्यापति विरचितायां कीर्तिलतायां चतुर्थः पल्लवः समाप्तः । श्री महीपालानुजेन् सूरेण आत्मपठनार्थं परोपकारार्थं लिखितोयं ग्रंथः यादृश मितिन्यायात्रमे दोषः मार्गशीर्ष बदि ३ रवि दिने समाप्तिमागतं । समाप्ति भगत् । छ । छ । छ । छ । छ

वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काल नं० २८१ [illegible]

लेखक [illegible]